गुलेरी-रचनावली

अमर साहित्यकार पं० चंद्रधर शर्मा गुलेरी
विरचित साहित्य का प्रामाणिक सम्पादित संकलन


किताब घर
गांधी नगर दिल्ली-110031

गुलेरी रचनावली

सम्पादक

डा. मनोहर लाल

प्रकाशक : किताबघर
मेन बाजार, गाधी नगर
दिल्ली ११००३१

ाम सस्करण : दिसम्बर, १९८६

आवरण : इमरोज

मूल्य : १२० ०० रुपये

मुद्रक : कौशिक प्रिंटिंग प्रेस द्वारा चोपडा प्रिंटर्स
मोहन पार्क, नवीन शाहदरा,
दिल्ली-११००३२ मे मुद्रित

ULERI RACHANAWALI (Hindi)
dited by Dr. Manohar Lal Price : 120 00

-अनन्य हिंदी-सेवी तथा साहित्य-सम्पदा के संग्राहक

स्व० मुरारीलाल जी केडिया

को

पुण्य स्मृति

को

समर्पित

अपनी बात

मैंने मनीषी साहित्यकार प० चद्रधर शर्मा गुलेरी की कतिपय प्रतिनिधि कृतियो को, सुधी आलोचको के अभिमत सहित, उनकी जन्मशती (१९८३ ई०) के अवसर पर गुलेरी साहित्यलोक के रूप मे सम्पादित करके प्रस्तुत किया था। 'गुलेरी साहित्यालोक' का विमोचन करते हुए श्री जैनेन्द्रकुमार ने कहा था—'प० चद्रधर शर्मा गुलेरी विलक्षण विद्वान थे। उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी। उनमे गजब की जिंदादिली थी। और, उनकी शैली भी अनोखी है। गुलेरी जी न केवल विद्वत्ता मे अपने समकालीन साहित्यकारो से ऊँचे ठहरते हैं, अपितु एक दृष्टि से वह प्रेमचद से भी ऊँचे साहित्यकार हैं। प्रेमचद ने समसामयिक स्थितियो का चित्रण तो बहुत बढिया किया है, पर व्यक्ति-मानस के चितेरे के रूप मे गुलेरी का जोड नही है। आश्चर्य है कि उनके निधन के इतने वर्ष बाद भी उनकी रचनाए प्रामाणिक पाठ के साथ पुस्तक रूप मे नही आ पाईं। 'गुलेरी-साहित्यालोक' इस दिशा मे एक प्रेरक प्रयास कहा जाएगा।"

आदरणीय जैनेन्द्र जी के उक्त शब्दो से मुझे विशेष बल तथा प्रेरणा मिली और मैंने मन-ही-मन गुलेरी जी की अन्य रचनाओ को सम्पादित करने का प्रण लिया, जो आज किसी सीमा तक 'गुलेरी-रचनावली' के रूप मे साकार हो सका है।

मैंने पत्र-पत्रिकाओ मे बिखरी गुलेरी जी की रचनाओ का सग्रह करके उनका विषयानुकूल वर्गीकरण इसलिए कर दिया है कि पाठक उनकी सृजनशीलता के विविध आयामो से परिचित हो जाए।

प्रस्तुत ग्रथ मे, गुलेरी जी की कृतियो को 'वैदिक और पौराणिक साहित्य', 'पुरातत्त्व', 'इतिहास', 'भाषा', 'पुरानी पाण्डुलिपिया', 'निबध/लेख', 'इटरव्यू', 'टिप्पणिया', 'चरित-साहित्य', 'भूमिकाए' तथा 'काव्य' शीर्षको के अन्तर्गत रखा गया है और प्रत्येक रचना का प्रामाणिक पाठ तथा प्रथम प्रकाशन देने का प्रयास किया गया है।

गुलेरी जी की समस्त कृतियो का सकलन 'गुलेरी-साहित्यालोक' तथा 'गुलेरी-रचनावली' म हो गया हो, ऐसा नही है। अभी उनकी दर्जनो रचनाए तत्कालीन

अपनी बात

मैंने मनीषी साहित्यकार प० चद्रधर शर्मा गुलेरी की कतिपय प्रतिनिधि कृतियो को, सुधी आलोचकों के अभिमत सहित, उनकी जन्मशती (१९८३ ई०) के अवसर पर गुलेरी साहित्यलोक के रूप मे सम्पादित करके प्रस्तुत किया था। 'गुलेरी साहित्यालोक' का विमोचन करते हुए श्री जैनेन्द्रकुमार ने कहा था—"प० चद्रधर शर्मा गुलेरी विलक्षण विद्वान थे। उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी। उनमे गजब की जिदादिली थी। और, उनकी शैली भी अनोखी है। गुलेरी जी न केवल विद्वत्ता मे अपने समकालीन साहित्यकारो से ऊँचे ठहरते हैं, अपितु एक दृष्टि से वह प्रेमचद से भी ऊँचे साहित्यकार हैं। प्रेमचद ने समसामयिक स्थितियो का चित्रण तो बहुत बढ़िया किया है, पर व्यक्ति-मानस के चितेरे के रूप मे गुलेरी का जोड नही है। आश्चर्य है कि उनके निधन के इतने वर्ष बाद भी उनकी रचनाए प्रामाणिक पाठ के साथ पुस्तक रूप मे नही आ पाईं। 'गुलेरी-साहित्यालोक' इस दिशा मे एक प्रेरक प्रयास कहा जाएगा।"

आदरणीय जैनेन्द्र जी के उक्त शब्दो से मुझे विशेष बल तथा प्रेरणा मिली और मैंने मन-ही-मन गुलेरी जी की अन्य रचनाओ को सम्पादित करने का प्रण लिया, जो आज किसी सीमा तक 'गुलेरी-रचनावली' के रूप मे साकार हो सका है।

मैंने पत्र-पत्रिकाओ मे बिखरी गुलेरी जी की रचनाओ का सग्रह करके उनका विषयानुकूल वर्गीकरण इसलिए कर दिया है कि पाठक उनकी सृजनशीलता के विविध आयामो से परिचित हो जाए।

प्रस्तुत ग्रथ मे, गुलेरी जी की कृतियो को 'वैदिक और पौराणिक साहित्य', 'पुरातत्त्व', 'इतिहास', 'भाषा', 'पुरानी पाण्डुलिपिया', 'निबध/लेख', 'इटरव्यू', 'टिप्पणिया', 'चरित-साहित्य', 'भूमिकाए' तथा 'काव्य' शीर्षकों के अन्तर्गत रखा गया है और प्रत्यक रचना का प्रामाणिक पाठ तथा प्रथम प्रकाशन देने का प्रयास किया गया है।

गुलेरी जी की समस्त कृतियो का सकलन 'गुलेरी-साहित्यालोक' तथा 'गुलेरी-रचनावली' म हो गया हो, ऐसा नहीं है। अभी उनकी दर्जनों रचनाए तत्कालीन

पत्र-पत्रिकाओ मे बिखरी पड़ी है जिनकी खोज तथा पहचान अभी शेष है। 'पहचान' इसलिए कि उन्होने छद्मनामो से भी खूब लिखा है। उनके छद्मनामो मे 'कण्ठा', 'कौस्तुभ का कण्ठा', 'समालोचक', 'प्रतिनिधि', 'चिट्ठीवाला', 'बी० ए०', 'एक ब्राह्मण', 'स्पष्टवक्ता', 'जिमक्कड', 'विवेचक', 'ललन' तथा 'घरघूमन दादा' आदि उल्लेख्य है।

गुलेरी जी की रचनाओ की मोटी पहचान यह है कि उनकी भाषा मे हिमा-चली पहाडी (कांगडी) के शब्द निहित रहते हैं इसलिए मेरा दावा है कि उनके समय की छद्मनामी जिन रचनाओ मे यह प्रवृत्ति मिले, उन्हे बेखटके गुलेरी जी की रचनाओ मे सम्मिलित किया जा सकता है। विश्वास है, विज्ञ पाठक एवं विद्वान गुलेरी जी की कृतियो के सधान मे अपनी जानकारियो से लाभान्वित करेंगे।

प्रस्तुत 'रचनावली' मे गुलेरी जी की रचनाओ को पुरानी पत्र-पत्रिकाओ मे से सजोने के लिए मुझे चिरजीव पुस्तकालय, आगरा तथा मारवाडी पुस्तकालय, दिल्ली से विशेष सहायता मिली है। मैं इन पुस्तकालयो के अधिकारियो के प्रति हृदय से आभारी हू।

'गुलेरी रचनावली' के लिए 'पृथ्वीराजविजय महाकाव्य', 'जयसिंह प्रकाश', 'काशी की नीद और काशी के नूपुर', 'मेढको की टर्रें', 'निदर्शन पर सम्मति' तथा 'सुनीति' शीर्षक रचनाए उपलब्ध कराने के लिए वाराणसी के हिंदी-सेवी तथा साहित्य-सपदा के सग्राहक स्व० मुरारीलाल जी केडिया ने जो अन्यतम सहयोग किया है उसके लिए मैं उनका चिरऋणी रहूगा। लगता है, उनके अभाव मे सच्चे शोधार्थी अनाथ हो गए हैं। उनकी पावन स्मृति को मेरा नमन।

'गुलेरी-रचनावली' के सम्पादन-कार्य मे प्रख्यात बाल साहित्यकार आदरणीय प० सतराम जी वत्स्य तथा सम्पादन कला के विशेषज्ञ श्री कृष्ण गोपाल जी 'विकल' से, मैं समय-समय पर परामर्श लेता रहा हू। इन महानुभावो के प्रति औप-चारिक धन्यवाद प्रदान करके उऋण हो पाना मेरे लिए कतई सभव नही है।

मैं उन सब विद्वानो, मित्रो तथा पाठको के प्रति भी अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हू जिन्होने मेरे प्रथम प्रयास 'गुलेरी साहित्यालोक' को सराहा और इस दिशा मे और काम करने के लिए प्रेरित किया।

इस पुस्तक के प्रकाशक श्री सत्यव्रत जी शर्मा का मैं इसलिए विशेष आभारी हू कि उन्होने हिंदी-साहित्य के शलाका-पुरुष अमर कथाकार के साहित्य को सुचारु रूप से प्रकाशित करने का बीडा उठाया।

—मनोहरलाल

हिंदी विभाग
श्रीराम कॉलेज ऑफ कॉमर्स,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-७
ज्योति-पर्व, २०४३ वि०

विषय-सूची



भूमिका

व्यक्तित्व

प० चद्रधर शर्मा गुलेरी का जन्म ७ जुलाई, १८८३ ई० को जयपुर मे, महाराजा रामसिंह के दरबार के प्रधान पडित एव मानमदिर-सभा के अध्यक्ष प० शिवराम के घर हुआ। कागडा (हि० प्र०) के 'गुलेर' गाँव के मूल निवासी प० शिवराम अपने समय के प्रसिद्ध सस्कृतज्ञ तथा वैयाकरणाचार्य थे। उन्होने हिमालय से आए महात्माओ को शास्त्रार्थ मे पराजित करके जयपुर-दरबार का राजसम्मान प्राप्त किया था और फिर जयपुर मे ही बस गए थे।

बालक चद्रधर का बाल्यकाल खानदानी पुरोहिताई, पूजा-पाठ, सध्यावदन तथा ब्राह्मणत्व के कर्मकाडी अनुशासन मे बीता। बालक की बुद्धि प्रखर तथा प्रतिभा विलक्षण थी। घर का वातावरण सस्कृतमय था। उसने मात्र पाच छ वर्ष की अल्पायु मे ही अष्टाध्यायी के दो तीन अध्याय तथा सस्कृत के तीन-चार सौ श्लोक कठस्थ कर लिए थे। 'अमरकोश' का सस्वर पाठ करने वाले इस बालक ने नौ दस वर्ष की छोटी-सी वय मे सस्कृत मे मातृभाषा की तरह सहज सवाद करने की योग्यता प्राप्त कर ली थी और 'भारत धर्म-मडल' के कुछ सदस्यो को अपने धाराप्रवाह सस्कृत भाषण से विस्मित किया था।

गुलेरी जी की आरभिक शिक्षा घर पर पुरानी पद्धति से हुई। १० वर्ष की आयु मे महाराजा कॉलेज, जयपुर मे अग्रेजी माध्यम से शिक्षा ग्रहण करने के लिए प्रवेश लिया। १८९७ ई० मे मिडिल, १८९९ मे प्रयाग तथा कलकत्ता विश्वविद्यालय से प्रथम श्रेणी मे क्रमश एट्रेस तथा मैट्रिक, १९०१ ई० मे कलकत्ता विश्वविद्यालय से इटरमीडिएट और १९०३ मे प्रयाग से प्रथम श्रेणी मे प्रथम स्थान प्राप्त करके सस्कृत, अग्रेजी तथा दर्शनशास्त्र विषय लेकर बी०ए० किया। १९०४ ई० म खेतडी नरेश जयसिह के शिक्षक एव अभिभावक नियुक्त होकर मेयो कॉलेज, अजमेर मे प्राध्यापक हो गए। १९०३ से १९०६ ई० तक 'समालोचक' का सफल सम्पादन किया। १९०७ ई० मे 'जयपुर भवन' के मोद-

मिद नियुक्त हुए और १९१६ ई० म मेयो कॉलेज के सस्कृत विभाग मे अध्यक्ष। ११ फरवरी, ११२२ ई० को प० मदनमोहन मालवीय के आग्रह पर हिंदू विश्वविद्यालय, काशी के प्राच्य विभाग के प्राचार्य हुए तथा पुरातन इतिहास और धर्म की मनीन्द्रचद्र नदी चेयर का प्रोफेसर पद सभाला। और, १२ सितबर, १९२२ ई० को आधुनिक हिंदी-कहानी, निबध, शोध समीक्षा तथा भाषा-शास्त्र के प्रमुख उन्नायक असाधारण पाडित्य तथा सर्वतोमुखी प्रतिभा क धनी मनीषी साहित्यकार का सन्निपात से लगभग ३९ वर्ष की वय म काशी म निधन हो गया।

गुलेरी जी ने बीसवी शताब्दी के उन्मेषकाल मे अपना साहित्यिक जीवन आरभ किया था। १९०२ ई० म जयपुर की वेधशाला के जीर्णोद्धार के लिए नियुक्त कर्नल सर स्विण्टन और कैप्टन ए० एफ० गैरेट को ज्योतिषशास्त्र तथा सस्कृत के ऐसे प्रकाड पडित की आवश्यकता अनुभव हुई जो अग्रेजी तथा विदेशी भाषाओ का भी अच्छा ज्ञाता हो। इसके लिए युवक चद्रधर शर्मा को उपयुक्त पाया गया। चद्रधर शर्मा ने विदेशी विद्वानो को वेधशाला के जीर्णोद्धार म ही सहायता नही की बल्कि 'द जयपुर आब्जर्वेटरी एड इट्स बिल्डर्स' ग्रथ के सहलेखक भी बने।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचद्र शुक्ल, श्यामसुदरदास, रायकृष्णदास, काशीप्रसाद जायसवाल, पद्मसिंह शर्मा, जयशकर प्रसाद, मैथिलीशरणगुप्त, मुकुटधर पाडेय, कविराज गोपीनाथ, माधव मिश्र, केदारनाथ पाठक, जगन्नाथ चतुर्वेदी, हरिनारायण पुरोहित, मुशी देवीप्रसाद 'मुसिफ', गिरिधर शर्मा प० दीनदयालु शर्मा, मदनमोहन मालवीय तथा प० झाबरमल्ल शर्मा प्रभृति विद्वानो के समकालीन प्रखर पाडित्य के धनी प० चद्रधर शर्मा गुलेरी बहुपठित, बहुश्रुत तथा बहुज्ञ थे। वह सस्कृत, पाली, अपभ्र श, मराठी, गुजराती, पजाबी, बगला, अग्रेजी, लेटिन तथा फ्रेंच आदि भाषाओ के ज्ञाता थे। ज्योतिष, मनोविज्ञान, दर्शन, भाषा-शास्त्र, भाषा-विज्ञान, काव्यशास्त्र, इतिहास, पुरातत्त्व, लिपि विज्ञान, चित्रकला तथा सगीत पर उनका अचूक अधिकार था। विषयों की दुरूहता, शैली की अर्थगर्भित वक्रता, तथा गूढ प्रसगोद्भावना उनकी शैली की *विशेषताए हैं।*

आत्मकथ्य

"मैं सस्कृत बहुत अच्छी तरह जानता हू। मैंने उच्चतर एव मौलिक शोध को लक्ष्य म रखकर वैदिक पौराणिक, साहित्यिक एव वेदात विषयक सस्कृत-साहित्य के अगो का विशिष्ट अध्ययन किया है। मैंने सस्कृत का आरम्भिक *अध्ययन प्राचीन पद्धति से किया है जो बहुत ठोस होता है। अंग्रेजी शिक्षा ने* मुझे ऐसे औजार दिए हैं जिनकी सहायता से पाश्चात्य विद्वान प्राचीन भाषा म

और हिंदी की पत्र पत्रिकाओ मे विद्वतापूर्ण आलेख लिखकर योगदान किया है। मेरे लेखो की विशिष्ट प्राच्य विद्याविदो ने प्रशसा की है।…मैंने प्राचीन एव आधुनिक गद्य तथा पद्यात्मक हिंदी-साहित्य का अच्छा अध्ययन किया है और पाली, प्राकृत तथा अपभ्रश भाषाओ से उसके विकास के बारे मे भी अनुशीलन किया है। इतिहास और पुरातत्व विषयो मे मेरी अभिरुचि है और मेरे अपने नाम से, बिना नाम से या अन्य विद्वानो के साथ जो लेख आदि प्रकाशित हुए हैं, वे सर्वविदित ही हैं।"

समकालीनो की दृष्टि मे

गुलेरी जी ने उक्त शब्द अपने बारे में लिखे है। इन शब्दो को मैं उन लोगो के लिए विशेष रूप से उद्धृत कर रहा हू जो मात्र यही जानते हैं कि गुलेरी जी 'उसने कहा था' कहानी तथा 'कछुआ धरम' और 'मारेसि मोहि कुठाउँ' प्रभृति निबध लिखकर ही जरूरत से ज्यादा नाम कमा बैठे हैं। ऐसा आचार्य रामचद्र शुक्ल द्वारा 'हिंदी साहित्य का इतिहास' मे आई गुलेरी जी की प्रशसा से भी हुआ है। आचार्य शुक्ल ने 'गुलेरी-चर्चा' मे जो कुछ लिखा उसे मात्र इन्ही तीन रचनाओ तक सीमित रखा और उनका विपुल कृतित्व जाने-अनजाने 'कार्नर' हो गया। इस सदी के पहले, दूसरे तथा तीसरे दशक की प्रतिनिधि पत्र पत्रिकाओ को उलटने-पलटने पर ज्ञात होता है कि गुलेरी जी तथा शुक्ल जी साथ-साथ छपते रहे हैं। अत विश्वास नही होता कि उनकी शेष रचनाए शुक्ल जी की नजर से चूक गई हो। स्पष्ट है, 'कण्ठा' और 'शब्द कौस्तुभ का कण्ठा' (१९१९-२० ई०) छद्मनामो से छपे उनके उक्त दोनो निबधो का सधान कर लेने वाले शुक्ल जी उनके स्पष्ट नामो के साथ छपी 'आँख', 'देवकुल', 'अमगल के स्थान में मगल शब्द', 'सस्कृत की टिपरारी', 'शैशुनाक की मूर्तिया', 'काशी की नीद और काशी के नूपुर', 'सगीत', देवाना प्रिय', 'जयसिंह प्रकाश', 'पृथ्वीराज महाकाव्य', 'पृथु वैन्य का अभिषेक', 'शुनःशेप की कहानी', 'राजसूय', तथा 'आचार्य सत्यव्रत सामश्रमी' प्रभृति दर्जनों कृतियो को भी तब नजरअदाज कर गए जबकि उनके समकालीन विद्वान उन्हे हिंदी की शक्ति को बढाते रहने के लिए बराबर प्रेरित कर रहे थे।

इस सदर्भ मे यहा तीन विद्वानो द्वारा गुलेरी जी को लिखे पत्रों के महत्वपूर्ण अश उद्धृत करना समीचीन प्रतीत होता है—

१ "अनुवाद मे भी और स्वतत्र लेख मे भी भावो को प्रकाश करने के लिए कठिन सस्कृत शब्दो का प्रयोग करना पडता है। मुझसे भी सरल भाषा नहीं लिखते बनती, आपसे भी नही। लेकिन फिर भी यत्न कर रहा हू, आप भी कीजिए और जहा तक हो सके सरल भाषा में तद्भव शब्द और उन फारसी-

अरबी शब्दो के, जो हमारे आपके लेखो को समझा सकें। अभ्यास से यह सिद्ध होगा।...जहा तक समय निकाल सकिए टिप्पणी और लेख प्रति सप्ताह भेजिए। अभी प्रति सप्ताह आपकी सहायता की आवश्यकता है। आगे चलकर चाहे कम ही कर दीजिएगा।...मुझे निश्चय है कि आपके लेखो को पढकर लोगो को पत्र (अभ्युदय) से प्रीति होगी।...ईश्वर आपके द्वारा देश का उत्तम उपकार करावे।"

—प० मदनमोहन मालवीय का २४-२-१९०४ ई० का पत्र

२. "उधर मर्यादा की सख्या मे आपके कई वैदिक लेख निकले थे। उस दिन की प्रवधकारिणी समिति मे भी आपका एक ऐसा ही लेख 'लेखमाला' के लिए आया था। क्या आपका इरादा कोई वैदिकैतिहासिक पुस्तक लिखने का है। यदि हो तो बडे ही हर्ष का विषय है। यदि नही है तो हमारी आपसे प्रार्थना है कि वैदिक ग्रथो को मथकर जरूर नए-नए तत्व निकालिए। यह काम आप लोगों का है। पाश्चात्यो ने इस क्षेत्र मे जो काम किया है उससे हमारे देशियो को सतोष न करना चाहिए वल्कि कृतज्ञतापूर्वक, उनका अनुकरण करना चाहिए। इसलिए, गुलेरी जी महाराज हाथ जोडकर आपसे हमारी प्रार्थना है कि जरूर वैदिक साहित्य से नई नई ऐतिहासिक वातो को निकालकर दरिद्रिनी हिंदी को धनवती बनाइए। आप ही लोग यदि हिंदी के विषय मे उदासीन रहेगे तव हिंदी की उन्नति क्या 'चद्रकाता' या गोस्वामी जी की 'चपला' से होगी। यदि आप यह कहे कि अभी हिंदी मे वैसे पाठक नही तो निवेदन यह है कि वैसे पाठक बनाने से बनेगे, चुपचाप बैठे रहकर प्रतीक्षा करने से वैसे पाठक कही आपसे आप न पैदा होगे—यत्नात् सिद्धि न दैवत।"

—*राय कृष्णदास का २४-४-१९१२ ई० का पत्र*

३. "आप शोधसवधी पत्र निकालने का उपक्रम कर रहे हैं, यह जानकर हर्ष हुआ। हिंदी वालो का सौभाग्यसूर्य इतने दिन वाद उदय होने को है, इसका किसे हर्ष न होगा। हिंदी वालो के चिरदारिद्र्य को दूर कर दीजिए। भारत के प्राचीन ऐतिहासिक पुरुषो पर अग्रेजी मे अव तक जो कुछ लिखा गया है वही यदि हिंदी मे हो जाए तो भी बडे काम की वात है। आप लोग तो जो कुछ भी लिखेंगे उसमे वहुत कुछ नवीनता होगी। अनेक अद्भुत रहस्यो का उद्घाटन होगा। · योरोपियन और उनके चेले हिंदोस्तानी रिसर्च स्कालर बहुत से विषयो मे जो अज्ञान फैला गए हैं उसका निराकरण हो जाएगा, इत्यादि वहुत-सी आशाएं हैं जिनका पूरा होना आपके थोडे से ध्यान पर निर्भर है।... वंकिमचद्र और रमेशचद्र हिंदी भाषा-भाषियो मे भी हैं परतु हिंदी वालो का

दुर्भाग्य है कि उनके लिए कुछ भी नहीं है। मुझे बार-बार ख्याल आता है कि क्या कोई शक्ति ऐसी नहीं है जो आपको बलात् पकड़कर इधर लगाए और जो कुछ आपके अंदर भरा है, सब उगलवा दे। मेरा ख्याल है, दृढ़ धारणा है कि आप जैसा विद्वान और सहृदय लेखक हिंदी में या हिंदी भाषा-भाषियों में दूसरा नहीं है। आप आधा समय भी हिंदी साहित्य सेवा के लिए दे सकते तो गरीब हिंदी का दारिद्र्य दूर हो जाता। पर देश दुर्दृष्ट कुछ नहीं करने देता किंतु दुःखमतःपरम्। नहीं मालूम यह विचार आपको क्यों विगलित नहीं करता, क्यों आपका हृदय नहीं पसीजता।"

—प० पद्मसिंह शर्मा का ७-६-१९२० ई० का पत्र

सृजन के सोपान

अपने समय के महारथी इन विद्वानों के पत्रों के अंश गुलेरी जी के विलक्षण रूप को स्पष्ट करने में सहायक हैं। मालवीय जी के पत्र लिखन के समय वह 'समालोचक' के संपादक के रूप में साहित्य-सेवा के प्रथम चरण में थे और खेल भी शिक्षा है', 'वेद में पृथ्वी की गति', 'अयोध्याप्रसाद के संस्मरण', 'संगीत की धुन, 'विक्रमोर्वशी की मूलकथा', 'धर्मपरायण रीछ', 'काशी', 'होली की ठिठोली, या एप्रिल फूल' प्रभृति गद्य-रचनाओं तथा 'आहिताग्निका', 'झुकी कमान', और 'रवि' कविताओं से साहित्य-जगत् में अपना स्थान बना चुके थे।

गुलेरी जी एक ही पत्र के लिए एक साथ कई रचनाएं लिखते थे। सन् १९११-१२ ई० की 'मर्यादा' के लिए उन्होंने वैदिक और पौराणिक संदर्भों को स्पष्ट करते हुए 'सौत्रामणी का अभिषेक', 'अश्वमेध', 'वाजपेय', 'शुनःशेप की कहानी', 'पृथु वैन्य का अभिषेक', 'सुकन्या की वैदिक कहानी', 'मनु वैवस्वत', 'पुराने राजाओं की गाथाएं' तथा 'राजसूय' प्रभृति लेख लिखे तो राय कृष्णदास ने अपने पत्र द्वारा वैदिक ग्रंथों का और भी मथन करने की प्रेरणा दी और हिंदी सेवा के लिए प्रेरित किया।

गुलेरी जी की असाधारण विद्वता को सहृदय विद्वान प० पद्मसिंह शर्मा ने जब पहचाना और अपना मतव्य लिख भेजा तब उन्होंने 'प्रतिभा' के लिए 'कण्ठा' तथा 'शब्द कौस्तुभ का कण्ठा' छद्मनामों से दर्जनों रचनाएं लिखी थीं जिनकी निबंधना 'सुमरनी के मनके' शीर्षक में हुई थी।

गुलेरी जी की साहित्यिक यात्रा का अन्तिम पड़ाव 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' है। उन्होंने १९२०-२२ में 'पत्रिका' के लिए 'पुरानी हिन्दी' के अतिरिक्त पुरातत्त्व, इतिहास तथा भाषा-संबंधी जो लेख और टिप्पणियां लिखीं, उनमें—'शैशुनाक की मूर्तियां', 'देवकुल', 'चारणों और भाटों का झगड़ा', 'खसों

के हाथ मे ध्रुवस्वामिनी', 'पच महाशब्द', 'कालिदास की देशभाषा', 'डिंगल', 'पाणिनी की कविता' तथा 'महर्षि च्यवन का रामायण' आदि प्रमुख हैं।

'समालोचक', 'मर्यादा', 'प्रतिभा' तथा 'पत्रिका' मे विपुल मात्रा मे लिखने के साथ-साथ गुलेरी जी की रचनाए 'सरस्वती', 'इंदु', 'भारतमित्र', 'वैश्योपकारक', 'वेंकटेश्वर' तथा 'विद्यार्थी' आदि पत्र-पत्रिकाओ के माध्यम से भी प्रकट होती रहीं। उनका वैज्ञानिक निबन्ध 'आँख', शोध-लेख 'जयसिंह प्रकाश' तथा 'पृथ्वी-राजविजय महाकाव्य' और कालजयी कहानी 'उसने कहा था' की प्रस्तुति 'सरस्वती' के माध्यम से हुई तो 'सुखमय जीवन' तथा व्यक्तित्वव्यजक निबन्ध 'काशी की नीद और काशी के नूपुर' 'भारत मित्र' के माध्यम से।

सर्वतोमुखी प्रतिभा

इस तरह गुलरी जी अपने इस २०-२२ वर्ष के लेखन द्वारा कवि कहानी-कार, निबन्धकार, सधे हुए व्यग्यकार, भेंटवार्ताकार, अनुसधाता, आलोचक, टिप्पणीकार तथा प्रकाण्ड भाषाविद् सिद्ध होते हैं।

गुलेरी जी ने कविताए भी लिखी हैं। उनकी कविताए सस्कृत, व्रज, खडी-बोली तथा व्रजमिश्रित खडीबोली मे हैं। राष्ट्रीय सग्राम की पीठिका को लेकर लिखी इन कविताओ मे स्वदेश और स्वदेशी, जनजागरण, मातृभूमि के प्रति भक्ति तथा प्रेम, ब्रिटिश-साम्राज्य की निंदा तथा भारत के गौरवमय अतीत का वर्णन है। कतिपय निबधो की तरह कुछ कविताए अर्थगर्भित वक्रता, गूढ प्रसगोद्भावना तथा सस्कृतनिष्ठ समासबहुला भाषा के कारण दुरूह हैं। इनमे व्यग्य की धार तीखी है। उन्होंने युवराज जार्ज पचम की भारत-यात्रा को लेकर आक्रोश उगला तो तद्भव के सहारे 'प्रिंसैस मे । युवराज जारज' लिख गए और यह भी पूछना न भूले कि जब उन्हे आस्ट्रेलिया कैनेडा आदि मे 'हुर्रे रूल बृटानिया' सुनने मे आनन्द आता है तो भारत मे हमारा 'वदे प्रिया मातरम्' कहना कर्णशूल क्यो बन जाता है। ऐसी सकेतगर्भित चुटकिया 'एशिया की विजयादशमी', 'आहिताग्निका', 'सोऽहम्' तथा 'रवि' कविता मे भी है।

हिंदी-साहित्य मे 'इटरव्यू' विधा का सूत्रपात करने का श्रेय गुलेरी जी को ही है। उन्होंने १९०५ ई० म गाधर्व महाविद्यालय, लाहौर के अध्यक्ष तथा सस्थापक सगीताचार्य प० विष्णु दिगम्बर पुलस्कर का इटरव्यू किया जो इसी वर्ष 'समालोचक' मे 'सगीत की धुन' शीर्षक से छपा इसे पढने मे स्पष्ट हो जाता है कि गुलेरी जी इटरव्यू करने की शैली, मूल भाषा की सुरक्षा, सटीक प्रश्न पूछ कर, उत्तर को कुरेदकर निकलवा लेने की कला मे दक्ष थे। इस इटरव्यू मे बातचीत की सहज भावभगिमा की स्वाभाविकता देखते ही बनती है।

की भूल कथा' तथा 'काशी' निबंध उनके अनुसंधाता, कथाकार और व्यक्ति-व्यंजक निबंधकार के प्रादुर्भाव के सूचक हैं। कालांतर में उनका अनुसंधाता 'सरस्वती' में छपे 'आँख', 'जयसिंहप्रकाश' तथा 'पृथ्वीराजविजय महाकाव्य' के अतिरिक्त नागरी प्रचारिणी पत्रिका के लेखों में परिपक्व होता दिखाई देता है।

गुलेरी जी की उपलब्ध गद्य-रचनाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि उन्होंने प्राच्यविद्या, पुरातत्त्व, भाषा शास्त्र तथा भाषा विज्ञान, इतिहास, समसामयिक समस्याओं तथा प्रसिद्ध और चर्चित व्यक्तियों को अपने रचना कर्म का विषय बनाया है। उन्होंने अपने प्राच्यविद्या तथा इतिहास विषयक निबंधों में पूर्वाग्रहों को त्यागकर, खण्डन मण्डन की प्रवृत्ति के सहारे सत्य की खोज करने का सफल प्रयास करके वेद, उपनिषद्, स्मृति, पुराण आदि का गंभीर अध्ययन-मनन करके गूढ़ विषयों को साधारण पाठकों के लिए बोधगम्य बनाया है।

गुलेरी जी ने वैदिक तथा पौराणिक विषयों की कथाओं को प्रायः रूपक के रूप में स्पष्ट करते हुए प्रस्तुत करने के प्रयास किया है। इस दृष्टि से 'शुनःशेप की कहानी' तथा 'पृथु वैन्य का अभिषेक' आदि निबंध उल्लेख्य हैं। उन्होंने शुनःशेप की पूरी कथा की स्पष्ट प्रस्तुति करके, अन्त में अपना मत देते हुए लिखा है—

'यह कहानी दिखाती है कि दीनता और भूख मनुष्य को किस नीच कर्म करने तक पहुंचा देती है, कैसे परिश्रम से याजने वाले को सब कुछ मिलता है।··· राजा के अभिषेक के पीछे इस कथा को सुनाने का तात्पर्य यह है कि हरिश्चन्द्र की सी प्रतिज्ञा कभी न करे, आपत्ति आने पर भी निराश न हो, रोहित की तरह घूमता रहे और अपने सुराज्य से ऐसा अवसर न दे कि लोग भूख के मारे अजीगर्त के से नर-पिशाच बन जाएं।"

इसी तरह पृथु वैन्य की उत्पत्ति के इतिहास को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—'सुनीति के पुत्र, विधर्मा, वेन को ऋषियों ने कुशों से मार-मारकर मार डाला। फिर उसकी जाँघ को मथने से उसमें एक विकृत, अशुद्ध, ठिंगना, जले हुए कुंदे का-सा लाल आँखों और काले केशों वाला पुरुष निकला, जिसे ऋषियों ने कहा कि 'निषीद (=बैठ जा)'। उसमें से निषाद, भील, मलेच्छ वनचारी उत्पन्न हुए हैं। यों गर्हित नीचे के भाग की छाँट निकाल, ऋषियों ने उस मरे हुए राजा के दहने हाथ को मथन किया। अब हम यह नहीं कह सकते कि पुराणों में यह रूपक है या सच्चा वर्णन। यदि रूपक है तो इसका अर्थ आजकल की भाषा में यह है कि ऋषियों ने नीच प्रवृत्तियों को निकाल बाहर किया और मृत राजा की बाँह अर्थात् बराबर के मनुष्यों से मथन (छान-बीन) करके एक इंद्र के समान रूपवान पुरुष निकला। कवच पहने, तलवार बांधे, धनुष-बाण धारे, वेद-वेदांग धनुर्वेद का यह पारगामी नरोत्तम था। सारी दंडनीति उसमें आश्रित थी। वह था वैन्य (=वेन का पुत्र)।"

गुलेरी जी ने उर्वशी और पुरुरवा की कहानी को ऊषा और सविता के सयोग और वियोग की काव्यमयी तथा वैज्ञानिक कथा कहा है। इसमे उन्होंने वेदो से लेकर पुराणो मे आए प्रसगो का उल्लेख करके विक्रमोर्वशी की मूल कथा के उद्भव और विकास को स्पष्ट किया है। च्यवन और सुकन्या के कथा-प्रसग पातिव्रत और पितृभक्ति के आदर्शों को स्थापित करते हैं।

'वाजपेय', 'अश्वमेध', 'राजसूय' आदि निबध वैदिक तथा पौराणिक परम्परा की अनुष्ठान-पद्धतियो को स्पष्ट करने मे समर्थ हैं। 'शैशुनाक की मूर्तिया' मे इतिहास के गूढ प्रसगो और रहस्यो तथा प्राचीन कला की बारीकियो का चित्रण है। इसके लिए उन्होने काशीप्रसाद जायसवाल आदि इतिहासविदो के मतो की परीक्षा करके अपने मत की स्थापना करते हुए अपने इतिहास, लिपि तथा कलाविद् होने का परिचय दिया है। उन्होंने शैशुनाक-मूर्तियो को देवकुलो का अवशेष सिद्ध किया है।

'अनुसधाता' के रूप मे गुलेरी जी की विशेषता थी कि वह विषय के अतस् मे गहरे पैठ कर अपना मन्तव्य देते थे। उनमें खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति प्रबल थी। विद्वानो की असगत मान्यताए उन्हे स्वीकार्य नही थी। वह ऐसे विषयो के बारे मे गहरी छानबीन करके अपनी प्रतिक्रिया पुष्ट प्रमाणो तथा तर्कों के साथ प्रकट करके अपनी मान्यताओ को मनवा भी लेते थे। यही कारण है कि उनके लेखो मे लम्बी लम्बी पादटिप्पणिया रहती थी। 'सुकन्या की वैदिक कहानी', 'चाणूर-अध्र', 'चारणो और भाटो का झगडा', 'कालिदास की देशभाषा', 'वेलावित्त', 'अवतिसुदरी', 'पच महाशब्द', 'महर्षि च्यवन का रामायण' तथा 'आत्मघात' आदि लेख इस सदर्भ मे विशेष रूप से उल्लेख्य हैं। ध्यातव्य है कि 'विष्णुसहस्र-नाम' मे आए 'चाणूरअध्र' शब्द (पूरा नाम चाणूराध्रनिषूदन) पर लिखे मात्र दस पक्तियो के लघु लेख के साथ ६६ पक्तियो की पाद-टिप्पणिया हैं। गुलेरी जी के सजग तथा तटस्थ अनुसधाता का परिचय 'पुरानी पाण्डुलिपिया' विषयक लेखो मे मिलता है जहा वह यह सहज ही सिखा जाते है कि पाण्डुलिपि के आकार-प्रकार, लिखावट, अक्षरो, पक्तियो तथा सर्गों की जानकारी कैसे प्रस्तुत करनी चाहिए।

गुलेरी जी को कहानीकार के अतिरिक्त निबधकार के रूप मे जो प्रतिष्ठा मिली है उसका आधार उनके व्यक्तिव्यजक निबध 'कछुआ धरम' और 'मारेसि मोहि कुठाउ' प्रमुख हैं। ये निबध १९१९ और १९२० ई० म 'प्रतिभा' मे 'कण्ठा' छद्म नाम से छपे थे। इनसे पहले उनके दो निबध 'काशी' तथा 'काशी के नूपुर और काशी की नीद क्रमश 'समालोचक' (१९०६ ई०) तथा 'भारतमित्र'(१९१६ ई०) मे छप चुके थे, जिन पर आलोचको की नजर प्राय नही पडी। ये निबध उनकी भावात्मक शैली के द्योतक हैं। गुलेरी जी के व्यक्तिव्यजक निबधो मे रोचकता, प्रभविष्णुता तथा वैचारिक वैभव की तो मानो वृष्टि ही होती जाती है। इनकी

भाषा लच्छेदार तथा विचार मौलिक है। भाव-भंगिमा में माधुर्य है। बीच-बीच में व्यंग्य की बौछार स्मित हास पैदा करती है। इनमें गुलेरी जी की स्पष्ट-वादिता तथा बहुज्ञता के दर्शन होते हैं।

गुलेरी जी सधे हुए व्यंग्यकार थे। अर्थगर्भित वक्रता उनके व्यंग्य की विशेषता है। उनके नितांत अभिधा के से प्रतीत होने वाले कथन भी लक्षणा, व्यंजना और ध्वनि की सौंदर्य शक्ति से मण्डित रहते हैं। इनके व्यंग्य में हास्य का अट्टहास नहीं, 'स्मित हास' रहता है। भाषा में मुहावरेदारी की लोच, विशेष भंगिमा तथा मीठी-मीठी टीस पैदा करने वाली चुभन रहती है। व्यंग्य की इस मार से इनकी शायद ही कोई रचना रिक्त हो। उनका व्यंग्यकार सामाजिक कुरीतियों के नासूर के लिए नश्तर का काम करता है। व्यंग्य की विलक्षणता यह है कि उसमें दुर्भावना, आक्रोश, वितृष्णा तथा पाशविकता नहीं, सहानुभूति तथा संवेदना रहती है। गुलेरी जी के व्यंग्यकार के स्वभाव की जो सरलता, खुलापन तथा विनोदशीलता उनकी कहानियों में है, उसका विशेष विकास उनकी 'कछुआ धरम', 'मारेसि मोहिं कुठाउं', 'झाड़ मारना', 'जोड़ा हुआ सोना', 'विवाह की लाटरी', 'खोज की खाज', 'घड़ी के पुर्जे', 'लायलपुर के बछड़े', 'वर्णच्छेद', 'जालहृस की सुभाषित मुक्तावली और चंद की पदभाषा', ढेले चुन लो', 'भारद्वाज गृह्यसूत्र' 'काशी की नींद और काशी के नूपुर', 'शिक्षा के आदर्शों में परिवर्तन' तथा 'होली की ठिठोली, वा एप्रिल फूल' में देखने को मिलता है।

गुलेरी जी सफल चरित-लेखक भी थे। उन्होंने अपने कुछ समकालीनों के विषय में, उनके निधन पर श्रद्धांजलि स्वरूप जीवनीपरक लेख लिखे हैं। ये लेख समकालीन महान विभूतियों के विषय में लिखने की शैली भी सिखाते हैं और गुलेरी जी तथा उनके वंश का अंतरंग परिचय कराने वाले पहलुओं को भी उजागर करते हैं। 'मनीषी समर्थदान जी' लेख से स्पष्ट है कि महामहोपाध्याय पं० दुर्गाप्रसाद गुलेरी जी के काव्यशास्त्र के गुरु थे। इनसे उन्होंने 'काव्य प्रकाश' पढ़ा था। इन लेखों में उनकी युगीन साहित्यिक चेतना स्पष्ट है।

गुलेरी जी जागरूक लेखक तथा आलोचक थे। वह अपने लेखों तथा टिप्पणियों में यह तो बतलाते ही थे कि दूसरे लोग क्या-क्या गलत तथा असंगत लिख रहे हैं पर यह भी बताना नहीं भूलते थे कि क्या लिखा जाना चाहिए। उन्होंने प्रो० रिस डेविड्स कृत 'बौद्धों के काल में भारतवर्ष' नामक पुस्तक में की गई स्थापनाओं का युक्ति संगत खण्डन करके अपने इतिहासज्ञ होने का परिचय इस संदर्भ में भी दिया है कि उनमें अंग्रेज-इतिहासकारों के मन की निगूढ़ भावनाओं को समझने की अच्छी शक्ति थी। वह पाश्चात्यों की मान्यताओं और स्थापनाओं को उनसे अभिभूत होकर मान लेने की गलती नहीं करते थे, बल्कि उनकी भ्रांत धारणाओं तथा दोषों का तर्कों और प्रमाणों से निराकरण करते थे। उक्त निबंध

हैं—"भारत मे जन्मना का प्रभाव अब अधिक होने से कई कुरीतिया दृष्टिगोचर होने लगी हैं। छूत-अछूत इसी का परिणाम है। इससे जाना जाता है कि अब भारत से उस आन्तरिक आत्मा का ज्ञान जाता रहा, जिसकी समस्त ससार मे आवश्यकता है। इससे पारस्परिक सहयोगिता नष्ट हो गई क्योंकि एक को अभिमान करते देखकर दूसरा अभिमान करने लगा है।"

इतना ही नही उन्होने नीची जाति के बनाए हुए भोजन को सम्मानपूर्वक ग्रहण करने की बात भी कही है। आवश्यकता आत्मा की शुद्धि की है—"यदि आत्मा शुद्ध हो तो समय आ पडने पर नीची जाति का बनाया हुआ भोजन ग्रहण करना भी योग्य है और यदि आत्मा शुद्ध नही है तो उसे शुद्ध बना लेना चाहिए। आचार-विचार करने वाले अधिकतर मनुष्य शकित होते हैं और उनकी आत्मा दुर्बल हुआ करती है।"

गुलेरी जी ने सनातन धर्म को परिभाषित करते हुए जो कुछ कहा वह आगे चलकर राष्ट्रपिता महात्मा गाधी के मानवतावादी दृष्टिकोण मे उजागर हुआ। गुलेरी जी ने वैदिक भारत के सनातन धर्म का शब्द चित्र खीचते हुए लिखा है—"सनातन धर्म वह है जो मनुष्य मात्र को अपना सके, मरते हुए अछूत को दवा-दारू पिलाने और समय पडने पर अपने ही सर पर लादकर उसे दवाखाने मे पहुचावे। जब यह बात सनातन धर्म मे नही है तो वह सनातन धर्म नही। सनातन धर्म वही है, जो सनातन से चला आ रहा है और हमारे वैदिक भारत का भूषण है। क्या वैदिक भारत मे हमारे ऋषि मुनि ऐसे धर्म कार्यों से मुख मोडते थे? कदापि नही। यदि हमे अपनी वास्तविक उन्नति करनी है तो आधुनिक विचारहीन जाति भेद को हमे त्याग देना, दीनो को, अन्य जातियो को अपनाना, अपनी कठोरता से मुख मोडना और मन की सकीर्णता त्यागकर उस भव्य कर्मक्षेत्र मे आना चाहिये जहा सामाजिक जाति भेद नही, मानसिक जाति-भेद नही और जहा जाति-भेद है तो कार्य-व्यवस्था के हित।"

आज हम जिस बीसवी सदी मे जी रहे है उसम जाति के साथ साथ धर्म की मार भी आडे आ रही है। आज धर्म मे राजनीति घुस गई है इसलिए विकृत परिणाम निकलने स्वाभाविक हैं। धर्म की 'आवश्यकता' का प्रश्न गुलेरी जी के युग मे भी था। उन्होन धर्म और समाज शीर्षक निबध मे लिखा है कि इस प्रश्न के सिर उठाने का कारण 'प्राचीन और नवीन अथवा पूर्व और पश्चिम इन दोना के सघर्ष से' है। पूर्व की सभ्यता चिरकाल से धर्म के पक्ष म ही नही रही, बल्कि उसने धर्म को समाज मे सबसे ऊँचा स्थान दिया है। आज हम 'धर्म' को जिस 'मत', 'विश्वास, या 'सम्प्रदाय' के अर्थ म लते हैं, वह हमारे यहा प्रयुक्त 'धर्म' का वास्तविक अर्थ न होकर विदेशी मार का कुफल है—"मत या सप्रदाय के अर्थ मे धर्म शब्द का प्रयोग करना भी हमने अधिक तरह विदेशियो ही से

सीखा है, जब विदेशी भाषाओं के 'मजहब', 'रिलीजन' शब्द यहां प्रचलित हुए तब भूल से या स्पर्धा से हम उनके स्थान मे 'धर्म' शब्द का प्रयोग करने लगे। परन्तु हमारे प्राचीन ग्रंथो मे जो विदेशियो के आने से पूर्व रचे गये थे, कही पर भी 'धर्म' शब्द मत, विश्वास या सम्प्रदाय के अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ, प्रत्युत उनमे सर्वत्र स्वभाव और कर्त्तव्य इन दो ही अर्थों मे इसका प्रयोग पाया जाता है। प्रत्येक पदार्थ मे उसकी जो सत्ता है, जिसको 'स्वभाव' भी कहते है, वही उसका धर्म है। जैसे वृक्ष का धर्म 'जड़ता' और पशु का धर्म 'पशुता' कहलाती है, ऐसे ही मनुष्य का धर्म 'मनुष्यता' है। वह मनुष्यता किस वस्तु पर अवलंबित है। इसमे किसी का मतभेद नही हो सकता कि मनुष्यता का आधार बुद्धि है। बुद्धि की दो शाखाये हैं, एक कल्पनाशक्ति, दूसरी विचारशक्ति। कल्पनाशक्ति संदेहात्मक है और विचारशक्ति निर्णयात्मक। बिना संदेह के किसी बात का निर्णय नही हो सकता। अतएव अपनी कल्पनाशक्ति से संदेह उठाकर विचारशक्ति से उसका निर्णय करने मे जो समर्थ हैं, वही मनुष्य है। संसार मे सिवाय असभ्य और वन्य लोगो के और कौन ऐसा मनुष्य होगा, जिसको ऐसे धर्म की आवश्यकता न होगी, जो उसको मनुष्य बनाता है।"

'धर्म' के इस सारभूत अर्थ को न समझ पाने के कारण इस देश की मानव-जाति, मानवजाति पर जो कहर ढाती रही है, गुलेरी जी उससे विचलित थे। वह देश के विकृत सामाजिक संगठन से भी चिंतित थे। लिखते हैं—"धर्म के नाम से अब तक हमारे समाज मे जैसे-जैसे अनर्थ और अत्याचार हो रहे है, उनके कारण हमारे करोडो भाई और बहन मनुष्य होते हुए भी पशु-जीवन व्यतीत कर रहे हैं। इस बीसवी सदी मे जबकि अन्य देशवासी राष्ट्र नहीं किंतु राष्ट्रसंघ और साम्राज्य की स्थापना कर रहे हैं, भारतवर्ष यदि समाज-संगठन के भी अयोग्य है तो उसका कारण भ्रमात्मक संस्कार ही है।"

निष्कर्ष रूप मे उनका मत है कि हमे पश्चिमवासियो की तरह तथाकथित धर्म की सीमाए नियत करके अपने सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक और औद्योगिक क्षेत्रों मे उसका प्रतिबंध हटा देना चाहिए, इसीमे भला है।

अनेक लोग मुड़-मुड़कर अतीत की ओर देखते हैं और फिर वर्तमान की उससे तुलना करके कहा करते हैं—हम ज्ञान और क्रिया के क्षेत्र मे अपने पूर्वजो से आगे नही बढ सकते। ऐसे लोगो की रुग्ण चिंता पर चोट करते हुए 'महर्षि च्यवन का रामायण' लेख मे लिखते हैं कि हम अपने पूर्वजो से आगे खूब बढ सकते हैं—

"पिछले हजार दो हजार वर्षों से हिन्दू सभ्यता मे धर्म के नाम पर यह कुसंस्कार घुस गया है कि पहले जो कुछ हो गया वैसा अब नही हो सकता, अब गिरने के दिन हैं, चढ़ने नही। प्रचलित धर्म और समाज के शोक-संगीत की टेक यही है कि न पहले का-सा समय है, न राजा, न ऋषि, न विद्या और न संपत्ति।

भर के साथी की चुनावट मट्टी के ढेलो पर छोड़ना कैसी बुद्धिमानी है। अपनी आँखों से जगह देखकर, अपने हाथ से चुने हुए मट्टी के डगलो पर भरोसा करना क्यो बुरा है और लाखो करोडा कोस दूर बैठे बडे-बडे मट्टी और आग के ढेलो —मगल और शनैचर और बृहस्पति की कल्पित चाल के कल्पित हिसाब का भरोसा करना क्यो अच्छा है यह मैं क्या कह सकता हू? बकौल वात्स्यायन के, आज का कबूतर अच्छा है कल के मोर से, आज का पैसा अच्छा है कल की मोहर से। आँखो देखा ढेला अच्छा ही होना चाहिए लाखो कोस पर के तेज पिड से। बकौल कबीर के—

पत्थर पूजे हरि मिले, तो तू पूज पहार।
इससे तो चक्की भली, पीस खाय ससार॥

और, 'वर्ण विषयक कतिपय विचार' के अन्त मे पूर्वानुराग की नीव पर खडे अन्तर्जातीय विवाह का स्वागत करते हुए लिखते हैं—'अन्तर्जातीय विवाह तब शुद्ध और ग्रहणीय माना जा सकेगा जबकि वर-कन्या मे आगे चलकर, कोई, अन्तरता न पैदा कर दे और जिससे उनका जीवन नष्ट हो जाए। अन्तरता स्वाभाविक इसलिए है कि यदि ब्राह्मण की लडकी वैश्य को ब्याह दी गई तो पूजानुरक्ता या अध्यात्म-नीतियो को जानने वाली वह लडकी व्यापारिक झझटो या नीतियो से सहज ही घबरा उठेगी। यद्यपि इससे सासारिक बधनो को कष्ट न पहुचेगा फिर भी वह आतरिक पीडा को न सह सकेगी। यदि वह सती और सच्ची हिन्दू बाला होगी तो वह अपने पति का त्याग कभी न करेगी या आत्म-हत्या कर ससार से छुट्टी लेगी। यही हाल पुरुष का भी होगा। हाँ, ऐसा विवाह तब पवित्र और सराहनीय हो सकता है जब विवाह के पहिले भिन्न जाति के पुरुष और स्त्री मे प्रेम उत्पन्न हो जाता है क्योकि उस समय उन्हे दूर कर देना जघन्य अपराध है।"

गुलेरी जी ने सामाजिक सकीर्णता का पर्दाफाश करते हुए स्त्रियो के उज्ज्वल अतीत की भी चर्चा की है। उन्होने 'अवतिसुन्दरी' लेख म लिखा है कि वह राजशेखर की पत्नी थी और उसे काव्यशास्त्र का अच्छा ज्ञान था। वह सच्चे अर्थो मे विदुषी थी। राजशेखर ने अपने ग्रथ 'काव्य मीमासा' मे उसका मत तीन जगह उद्धृत किया है। और, इस लेख के अत मे गुलेरी जी ने स्त्री-शिक्षा के बारे म राजशेखर के विचार प्रस्तुत करते हुए लिखा है— 'पुरुषो की तरह स्त्रियाँ भी कवि हो। सस्कार तो आत्मा मे होता है। स्त्री या पुरुष के विभाग की अपेक्षा नही करता। राजाओ और मत्रियो की बेटिया, वेश्याए, कौतुकियो की स्त्रियाँ, शास्त्रो मे निष्णात बुद्धिवाली और कवि देखी-सुनी जाती है।"

सनातनी पण्डित-परम्परा के गुलेरी जी शास्त्रविद् थे, शास्त्र के दास नही। उनके अध्ययन तथा चितन मे विवेक प्रधान था और मानवता मुखर। उन्होने पदे-पदे

सामाजिक रूढ़ियों तथा अंधविश्वासों पर प्रहार करके लोकमंगलकारी जीवन-मूल्यों की निबंधना की है। उनके 'कछुआ धरम' तथा 'मारेसि मोंहि कुठाउँ' निबंधों के बराबर चर्चित रहने का कारण यही है। इन निबंधों में हास्य-व्यंग्य तथा लालित्य की प्रधानता है। यह प्रवृत्ति 'काशी' और 'काशी की नींद और काशी के नूपुर' निबंध में भी खूब है। हम भारतवासी कष्ट से बचने के लिए कछुए के जीवनादर्श पर चलते हैं। परिस्थितियों से जूझते नहीं, बल्कि खोल में सिमट कर बचने की कोशिश करने के आदी हैं। हममें प्रगतिशीलता का अभाव है। 'कछुआ-धरम' में भारतीयों की इसी पलायनवादी प्रवृत्ति पर व्यंग्य करते हुए परिस्थितियों से जूझने तथा आत्मबल के सहारे सच्चे अर्थों में जीवन को जीने का मार्ग खोजने की प्रेरणा दी गई है। कछुआ-धर्म ने हमें भाग्यवादी तथा भीरू बना दिया है। दासता का शिकार होने का यही कारण है। इसी तरह उन्होंने 'मारेसि मोंहि कुठाऊँ' में आर्य समाज के प्रचारकों पर बड़े तीखे प्रहार किए हैं। उन्होंने बताया कि वे भारतीय संस्कृति की शब्द-सम्पदा के अर्थ का अनर्थ करके हमसे हमारा सर्वस्व छीनने पर तुले हैं। यह उनकी हमारे मर्मस्थल पर वैसी ही चोट है जैसे कैकेयी ने दशरथ पर 'रामचरितमानस' में की थी—

धरम धुरंधर धीर धरि, नयन उघारे राउँ।
सिर धुनि लीन्हि उसास असि, मारेसि मोंहि कुठाउँ॥

गुलेरी जी सफल शिक्षक थे। वह शिक्षा के मर्म से परिचित थे। उन्होंने शिक्षा के सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक पक्ष को व्यक्तिगत स्तर पर जीने का प्रयास किया था। उन्होंने शिक्षा पाने वाले विद्यार्थी के सहज शारीरिक विकास पर बल दिया है। इस सहज विकास के लिए 'खेल' अनिवार्य गतिविधि मानी है। उनके शिक्षा विषयक 'खेल भी शिक्षा है' तथा 'शिक्षा के आदर्शों में परिवर्तन' क्रांतिकारी विचारों वाले लेख हैं। वह मार मार कर रटाने के पक्षधर नहीं, सहज रूप में समझाने के हिमायती हैं। उन्होंने पुरानी तथा वर्तमान शिक्षा-नीतियों के दोषों का खुलासा करते हुए तीखे प्रहार किए हैं। उनके मतानुसार गुरु का शिष्य के प्रति ज्ञानदान के संदर्भ में सच्चा कर्तव्य यह है— "पहले यह माना जाता था कि विद्या कोई बाहरी चीज है जिसे गुरु पढ़ने वाले के हृदय में घुसेड़ता है। पढ़ने वाले का हृदय कोरा कागज है और उस पर गुरु नए अक्षर और नए संस्कार अंकित करता है।···पर यह आदर्श अब बदल गया है। विद्या कोई बाहरी चीज नहीं है जो गुरु को बाहर से ठूसकर भरनी पड़ती है। गुरु का काम शिष्य के हृदय की सोई हुई शक्तियों को जगाना है, उसके सहज और परम्परागत संस्कारों को विनाना है। पीढ़ियों से पशुत्व और मनुष्यत्व के जो भाव उसके मस्तिष्क में हैं, उन्हें उत्तेजित करना, उनमें जो हानिकारक हों उन्हें मिटाना और जो अच्छे हों, उन्हें प्रबल कर देना, ये गुरु के काम हैं।"

गुलेरी जी के शिक्षा सम्बंधी विचारों को समझने के लिए 'शिक्षा के आदर्श में परिवर्तन' शीर्षक निबंध में दिया गया उनका 'संस्मरण' बड़े ध्यान से पढ़ने तथा समझने की चीज है।

'वशच्छेद' निबंध भी गुलेरी जी की दूरदृष्टि का द्योतक है। इसमें जनसंख्या की वृद्धि की समस्या का वैज्ञानिक संदर्भ में तथ्यात्मक वर्णन है। इसमें उन्होंने परिवार नियोजन तथा कृत्रिम गर्भाधान की संभावनाओं पर टिप्पणी की है पाश्चात्य देशों में मनुष्यों की नस्ल सुधारने के लिए आज जो उपाय किए जा रहे हैं उनकी ओर गुलेरी जी ने बहुत पहले संकेत कर दिया था। बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण प्रदूषण के भीषण परिणामों के बारे में लिखते हैं—"साधारण वायु हमारे श्वास के लिए भद्दी होगी, इसकी छनी-छनाई 'आक्सीजन' बांधते फिरना होगा, और बिना उसके मछली की तरह तड़पना होगा। आंख को रोज साफ करना होगा, मद्य और तम्बाकू से उत्तेजना न पाकर मनुष्य विषों से काम लेंगे, सहवास असभ्य समझा जाकर प्रजनन कृत्रिम उपायों से किया जायगा। इस मार्ग पर चलते-चलते हमारा जीवन वनस्पतियों का सा हो जायेगा।"

गुलेरी जी प्राणवान् विद्वान थे। उनका असाधारण पाण्डित्य उनके जीवन का साधन था, साध्य नहीं। उनकी सृजनात्मक साहित्य में ही नहीं, शोध एवं मीमांसा में भी असाधारण गति थी। उन्होंने हिंदी-साहित्य की 'कहानी' तथा 'निबंध' विधा को विशेष रूप से समृद्ध किया है। निबंध के क्षेत्र में शैली-वैविध्य उनकी विशेषता है। प्रतिपाद्य तथा शैली की दृष्टि से उनके निबंधों तथा टिप्पणियों की विविध कोटियां हैं। व्यक्तिव्यंजक निबंध लिखने में, अपने समय में वह अकेले ऐसे लेखक हुए हैं जो अनूठी शैली लेकर चले थे। मौलिकता की खोज तथा प्रतिपादन उनका लक्ष्य रहता था। पूर्वाग्रह न उनके पास पाण्डित्य का था और न विचारों का। यहां तक कि वह संस्कारों के बंधन से भी मुक्त थे। उन्होंने अपनी सृजनशीलता पर रूढ़ियों को हावी नहीं होने दिया। वह आजीविका के लिए राजभक्ति की रस्सी से भले ही बंधे रहे हों, उनका मन तथा कलम हमेशा निरंकुश रहे।

—मनोहरलाल

हिंदी विभाग,
श्रीराम कालेज ऑफ कॉमर्स,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-७
ज्योतिपर्व, २०४३ वि०

गुलेरी रचनावली

- ☐ वैदिक और पौराणिक साहित्य
- ☐ इतिहास
- ☐ पुरानी पाण्डुलिपियां
- ☐ इंटरव्यू
- ☐ चरित साहित्य
- ☐ काव्य
- ☐ पुरातत्व
- ☐ भाषा
- ☐ निबंध/लेख
- ☐ टिप्पणियां
- ☐ भूमिकाएं
- ☐ परिशिष्ट

वैदिक और पौराणिक साहित्य

सौत्रामणी का अभिषेक

सौत्रामणी अथवा सुत्रामा (अच्छा बचानेवाला=इंद्र) का यज्ञ राजसूय के पीछे ही किया जाता है। शौरीबीसि शास्य और श्विन्कों के राजा ऋषभ याज्ञतुर ने इसके अभिषेक की बहुत प्रशंसा की है। उदुंबर की बनी हुई घुटनों भर ऊँची एक आसनी बिछाई जाती है—"तू क्षत्र की योनि है, तू क्षत्र की नाभि है।" यह बेत की बुनी होती है और इसके दो पौए उत्तर वेदि में और दो दक्षिण वेदि मे रखे जाते हैं। उस पर काले मृग का चर्म बिछाया जाता है जिसके बाल ऊपर को हों—"यह तुझको हानि न पहुँचाए, यह मुझको हानि न पहुँचाए।" उस पर यजमान बैठता है—

"बैठा धृतव्रत होके वरुण प्रजा निवासों में।
साम्राज्य के लिये सुकर्मा॥"

अपने बाएँ पैर के नीचे चाँदी का चाँद रखता है—"मुझे मौत से बचा।" सिर पर या दहने पाँव के नीचे सोने का चाँद रखता है—"मुझे बिजली से बचा।"

३३ खुरों के प्यालों से वसा का होम किया जाता है—"प्राज्ञों ने ऊन, सीसे और तागे तथा मन से कवियों ने यज्ञरूपी जाला बुना, अश्विन्, सविता, सरस्वती और वरुण ने इंद्र के रूप की चिकित्सा की।" बाकी बची वसा को बेत के बुने हुए प्याले में लेते हैं। यजमान के सारे शरीर पर सब सुगंधित वस्तुओं का उबटन करते हैं। चौतरफ घूमकर अभिषेक यों किया जाता है कि वसा मुंह तक बहकर आ जावे—

"तुझे देव सविता की प्रेरणा से, अश्विना की बाँह से, पूषा के हाथ से, अश्विनों की चिकित्सा से तेज और ब्रह्मवर्चस् के लिये अभिषिक्त करता हूँ। ०सरस्वती की चिकित्सा से वीर्य और अन्न के लिये ०। ० इंद्र के इंद्रिय से बल और श्री के लिये अभिषेक करता हूँ।"

अध्वर्यु यजमान को छूता है—"तू क (प्रजापति) है, सब से अच्छा क है,

वैदिक और पौराणिक साहित्य

सौत्रामणी का अभिषेक

सौत्रामणी अथवा सुत्रामा (अच्छा बचानेवाला=इन्द्र) का यज्ञ राजसूय के पीछे ही किया जाता है। गौरीवीति शाक्य और श्विन्कों के राजा ऋषभ याज्ञतुर ने इसके अभिषेक की बहुत प्रशंसा की है। उदुंबर की बनी हुई घुटनों भर ऊँची एक आसनी बिछाई जाती है—"तू क्षत्र की योनि है, तू क्षत्र की नाभि है।" यह बेंत की बुनी होती है और इसके दो पौए उत्तर वेदि में और दो दक्षिण वेदि में रखे जाते हैं। उस पर काले मृग का चर्म बिछाया जाता है जिसके बाल ऊपर को हों—"यह तुझको हानि न पहुँचाए, यह मुझको हानि न पहुँचाए।" उस पर यजमान बैठता है—

"बैठा धृतव्रत होके वरुण प्रजा निवासों में।
साम्राज्य के लिये सुकर्मा॥"

अपने बाएँ पैर के नीचे चाँदी का चाँद रखता है—"मुझे मौत से बचा।" सिर पर या दहने पाँव के नीचे सोने का चाँद रखता है—"मुझे बिजली से बचा।"

३३ खुरी के प्यालों में वसा का होम किया जाता है—"प्राज्ञों ने ऊन, सीसे और तागे तथा मन से कवियों ने यज्ञरूपी जाला बुना, अश्विन्, सविता, सरस्वती और वरुण ने इन्द्र के रूप की चिकित्सा की।" बाकी बची वसा को बेंत के बुने हुए प्याले में लेते हैं। यजमान के सारे शरीर पर सब सुगंधित वस्तुओं का उबटन करते हैं। चौतरफ घूमकर अभिषेक यों किया जाता है कि वसा मुँह तक बहकर आ जावे—

"तुझे देव सविता की प्रेरणा से, अश्विनों की बाँह से, पूषा के हाथ से, अश्विनों की चिकित्सा से तेज और ब्रह्मवर्चस् के लिये अभिषिक्त करता हूँ। ०सरस्वती की चिकित्सा से वीर्य और अन्न के लिये ०। ० इन्द्र के इन्द्रिय से बल और श्री के लिये अभिषेक करता हूँ।"

अध्वर्यु यजमान को छूता है—"तू क (प्रजापति) है, सब से अच्छा क है,

तुझ क को न (ऐश्वर्य) के लिये।" यजमान अपनी प्रजा को सबोधन करता है—"हे अच्छे यशवाले ! हे सुमगल ! हे सत्य राजावाले !"

यजमान अपने प्रत्येक अग को हाथ लगा-लगाकर कहता है—"मेरा सिर श्री हो, मुख यश हो, केश और मूँछ प्रकाशमान हो। मेरा प्राण राजा और अमृत हो, आँख सम्राट् और कान विराट् हो। जीभ मेरा मगल हो, शब्द महिमा हो, मन क्रोध हो, मेरा गुस्सा स्वतत्र हो, अँगुली मोद हों, अग प्रमोद हो, पराक्रम मेरा मित्र हो, बाहु मेरे बल हो, इद्र के सदृश, मेरे हाथ वीर्यकर्म हो, मेरी आत्मा और छाती क्षत्रिय तेज हो। मेरी पसलियाँ, पेट, कधे राष्ट्र हो, गरदन, पुट्ठे, जाँघ, कवजे, घुटने और सब ही अग मेरी प्रजा हो, सब तरफ। नाभि मेरा चित्त हो, बैठक मेरी विज्ञान हो। इद्रिय मेरा आनद और सौभाग्य हो। जाँघो से और पैरो से मैं धर्म हूँ, प्रजा मे राजा प्रतिष्ठित।"

नौकर यजमान की आसनी को पहले घुटनो तक उठाते हैं, फिर नाभि तक और फिर मुँह तक, फिर उसे नीचे रख देते हैं।

यजमान उतरकर पढ़ता है, "मैं क्षत्र मे प्रतिष्ठित होता हूँ और राष्ट्र मे, मैं अश्वो मे प्रतिष्ठित होता हूँ और गौओ मे, अगो मे प्रतिष्ठित होता हूँ और आत्मा मे, प्राणो म, द्यावापृथिवी मे और यज्ञ मे प्रतिष्ठित होता हूँ।"

(शुक्ल यजुर्वेदसहिता अध्याय २०, शतपथ ब्राह्मण १२।८, कात्यायन श्रौतसूत्र १९।४ प्रभृति।)

[प्रथम प्रकाशन . मर्यादा : दिसम्बर-जनवरी १९११-१२ ई०]

अश्वमेध

अश्वमेध बड़ा भारी यज्ञ है। इसे केवल चक्रवर्ती ही कर सकता है। इसमें सहस्रों की दक्षिणा है और सैकड़ों पशुओं का याग है। कितनी बातें तो ऐसी हैं कि जिन्हें सर्वसाधारण रीति पर लिखने से कई कल्पनाएँ उत्पन्न हो सकती हैं। आज उस यज्ञ की केवल दो बातें लिखी जायेंगी, यजमान का यशगान और घोड़े की रक्षा का प्रबंध, और पारिप्लव उपाख्यान।

इसमें वर्ष भर तक यजमान का यश गाने के लिए दो वीणा बजानेवाले रखे जाते हैं क्योंकि वीणा श्री का रूप है। जब श्री आती है सभी तो वह खड़काई जाती है। एक ब्राह्मण होता है जो दिन को गाता है और दूसरा क्षत्रिय जो रात्रि को। ब्राह्मण यह गाता है कि "इसने यह यज्ञ किया, यह दान दिया" और क्षत्रिय यह गाता है कि "यह लड़ाई लड़ी या यह संग्राम जीता।"

घोड़ा वेगवान्, हजार गौ के मूल्यवाला, युवा होना चाहिए जिससे अच्छा जूड़े की दहनी ओर कभी न लगा हो। उसका अगला भाग काला, पिछला श्वेत और सामने ललाट पर कृत्तिका नक्षत्र के गाढ़े के-से छींटे हों। जब घोड़े को निल्हाते हैं तो एक चार आँखोंवाला कुत्ता (जिसकी आँखों पर दो पीली-पीली टिकलियाँ होती हैं) सिध्रक के मूसल से मारकर उसके नीचे तराते हैं। जब तक घोड़े के बदन से पानी चूता रहे तब तक होम करते हैं। जब 'प्रयाज' नामक यज्ञ होते रहते हैं तब ब्राह्मण वीणागाथी उत्तर-मद्र सुर छेड़कर उसके यजमान के यश की तीन अपनी बनाई गाथा गाता और बजाता है कि "यह दिया, यह यजा" और रात को 'धृति' नाम यज्ञों के समय राजन्य भी वीणा पर उत्तर-मद्रा में तीन अपनी बनाई गाथाएँ गाता है कि "यह लड़ा, यह जीता।"

घोड़े के रखवाले सौ राजपुत्र कवचधारी, सौ राजन्यों के पुत्र खड्गधारी, सौ सूत और ग्रामणियों के पुत्र बाणों के तरकस लिए हुए और सौ क्षत्ता और संग्रहीताओं के पुत्र लट्ठ लिए हुए और सौ थके बुड्ढे घोड़े होते हैं जिनके साथ

से घोडा बहुत दूर न चला जाय। यजमान उन्हे कहता है कि "हे दिशाओ के रक्षको, इसे सम्हालो। यदि तुम यज्ञ को पूर्ण करा दोगे तो तुम्हे राजभाग, राष्ट्र मिलेगा, तुम राजा होओगे, तुम अभिषेक-योग्य होओगे, यदि नही तो राजभाग से रहित राज्य के अनधिकारी, राजन्य या वैश्य, अभिषेक के अयोग्य, वन जाओगे। इसलिये प्रमाद न करो। स्नान के पानी से इसे बचाओ, घोडियो से बचाओ। जो तुम्हे ब्राह्मण मिले उससे पूछो—कि "तुम अश्वमेध का कितना भाग जानते हो। यदि न जानता हो तो उसे लूट लो। क्योकि अश्वमेध सब कुछ है, जो उसे नही जानता वह लूट लेने योग्य है। घोडे को पानी पिलाओ, चारा चराओ। जो कुछ राज्य मे पका-पकाया होगा वह तुम्हे मिलेगा। गाँव-गाँव मे रथकार के घर मे रहना, क्योकि वही तुम्हारा विश्रामस्थल है।"

घोडा छोडकर वेदि के दक्षिण को अध्वर्यु एक सुनहरी (जरी के काम की ?) गद्दी (कशिपु) बिछाता है। उस पर होता बैठता है। उसके दहने सोने की एक कुर्सी (=कूर्च, पौवेदार आसनी) या सोने के पट्टे (=फलक) पर यजमान बैठ जाता है। उसके पुत्र, मत्री सत्र दरबार लगाए उसके पास बैठे रहते हैं। उसके दाहिने ब्रह्मा और उद्‌गाता सुनहली गद्दियों पर और उनके सामने पश्चिमाभिमुख अध्वर्यु सोने की कुर्सी या पट्टे पर बैठ जाता है।

अध्वर्यु होता को कहता है, "होत ! सब भूतो (जीवधारियो) का उपाख्यान कर, इस यजमान को सब भूतो से ऊपर उठा।" अब होता जो आख्यान आरभ करता है वह दस दिन तक चलता है। प्रतिदिन एक जीवधारियो के समूह की व्याख्या की जाती है। यो दस दिन पीछे फिर वही उपाख्यान आरभ से चलाया जाता है। वर्ष भर मे ३६ बार (१०×३६=३६०) यह उपाख्यान कहा जाता है। यह अवसर मानो घोडे के घूमने का और उसकी प्रतीक्षा का है। उपाख्यान का नाम '**पारिप्लव**' या फिर-फिर पलट कहानी है। सारी प्रजा स्त्री और पुरुष, युवा और वृद्ध, ऊँच और नीच आ इकट्ठे होते हैं। वीणा बजानेवालो के झुडो के झुड आ जुटते है। कोई तूँबी की, कोई तीन ताँत की, कोई सात और कोई सौ ताँत की वीणा लिए होते है।

पहले दिन होता आरभ करता है—"अध्वर्यो !" वह उत्तर देता है—"ह वै होत (=हाँ भाई होता)।" और उपाख्यान के बीच मे "ओ होत !", 'तथा होत", "होयि होत" या कहकर हुँकारा देता जाता है। "विवस्वत् का पुत्र मनु राजा, उसकी प्रजा मनुष्य हैं, वे ये बैठे हुए है" यो कहकर उनकी ओर इशारा करता है जो गृहस्थ वहाँ इकट्ठे हैं नित्य यज्ञ आदि करते है,परतु वेद पढे हुए (श्रोत्रिय) नही हैं। "ऋग्वद इनका विज्ञान है सो यह है" या कहकर ऋक् के सूक्त की व्याख्या करता हुआ सा दौडे। अर्थात्, मनु वैवस्वत का इतिहास सुनाव और ऋग्वेद के सूक्त नियम से पढे। जो वीणावालो के जत्थे इकट्ठे होते है उन्हे अध्वर्यु कहता है,

"वीणागणगिओ! इस यजमान को पुराने साधुकर्ता राजाओ के साथ गाकर मिलाओ।" वे वैसे ही पुराने राजाओ के यश के साथ उसका यश गाकर उसे उनका सलोक कर देते हैं। यो उन्हे कहकर अध्वर्यु घोडे के सुम की खोज मे 'प्रक्रम' (=आगे बढने के) होम करता है। सायकाल 'धृति' (=दृढता, घोडे की रक्षा के होम) के समय राजन्य वीणागायी वेदि के दक्षिण को उत्तर मद्र स्वर मे तीन स्वय बनाई हुई गाथाएँ गाता है कि "यो लडा यो अमुक सग्राम को जीता।"

दूसरे दिन सावित्री इष्टि के पीछे वैसे ही काम होता है। होता कहता है, 'अध्वर्यो!" उत्तर मिलता है, "ह वै होत !" होता कहता है, 'विवस्वत् का पुत्र यम राजा, उसकी प्रजा पितर् हैं, वे ये वैठे हुए हैं" यो कहकर जो बुड्ढे वहाँ इकट्ठे हैं उन्हे दिखाता है। "यजु इनका वेद है, सो यह है" यो कहकर यजु के एक अनुवाक को कहता हुआ-सा दौडे। वीणावालो को पहले की तरह कहे। परतु 'प्रक्रम' होम न करे (क्योकि घोडा दूर निकल गया अब उसकी खोज कहाँ)। ये होम या तो आहवनीय अग्नि मे किए जाते हैं या बारहवें महीने मे जब घोडा लौट आता है और अश्वत्थ की बनी घुडसाल मे रखा जाता है तब वहीं होम किया जाता है, या रथकार के घर मे।

तीसरे दिन उसी तरह सबोधनो के पीछे "अदिति का पुत्र वरुण राजा, उसकी प्रजा गधर्व हैं, वे ये बैठे हैं" यो कहकर जो सुदर युवा वहाँ इकट्ठे होते है उनकी ओर इगित करता है। "अथर्वन् (इनका) वेद है, सो यह है" यो कहकर अथर्व के एक पर्व को कह जाय। अथवा शाखायन और आश्वलायन के मत से चिकित्सा-शास्त्र या कोई जाँची हुई ओपधि का उपदेश करे।

चौथे दिन उसी तरह "विष्णु का पुत्र सोम राजा, उसकी प्रजा अप्सराएँ, वे ये बैठी हैं" यो कहकर जो सुदर युवतियाँ वहाँ इकट्ठी हैं उन्हे दिखाता है। "अगिरस् वेद है, वह यह है" यो कहकर अगिरस् का एक पर्व अथवा घोर (जादू टोटका) सुना दे। [अथर्ववेद के दो भाग है, अथर्व ऋषि का 'अथर्व' जिसमे चिकित्सा है और अगिरस् ऋषि का 'घोर' या अभिचारादि क्रूर कर्म, जैसे कृत्या, सौतो के ऊपर टोने चलाना इत्यादि। पुराने ग्रथो मे 'अथर्वांगिरस' नाम से चौथा वेद कहा जाता है और उसकी अधिक प्रतिष्ठा भी नही है।]

पाँचवें दिन उसी तरह "कद्रु का पुत्र अर्बुद राजा, उसकी प्रजा साँप हैं, वे य वैठे हैं" यो कहकर साँप और साँपो को जाननेवाले (काश्यप के बनाए या और किसी विषतत्र को जाननेवाले) बैठे होते हैं, उन्हे दिखाता है। 'सर्पविद्या (इनका) विज्ञान है, वह यह है" यो कहकर सर्पविद्या का एक पर्व (गरुड या ककत की बनाई सर्पविद्या या विषविद्या) कहता हुआ चला जाय।

छठे दिन उसी तरह "विश्रवण का पुत्र कुबेर राजा, उसकी प्रजा राक्षस है, वे ये बैठे हैं" यो कहकर वहां पर बैठे हुए सेलग, पापकर्ता (निषाद, सेन्यगायन ? म्लेच्छ ? मारवाड के सरगडे=चिडीमार ?) लोगो को दिखाता है। "देवगणविद्या (राक्षसविद्या, कुहुकरूप विद्या ?—पिशाचो का जादू) इनका वेद है, वह यह है" यो कहकर वेतालपिशाचो की विद्या का एक पर्व कहता हुआ चला जाय।

सातवें दिन उसी तरह "असित धान्वन राजा, उसकी प्रजा असुर, वे ये बैठे है" यो कहकर (सूदखोरो ?) गुफाओ मे या खड्डो मे रहनेवालो को जो वहाँ आए हुए हैं दिखाता है। "मायाविद्या इनका वेद है, वह यह है' यो कहकर मायावेद (असुरविद्या, अगुलिन्यास, इद्रजाल) का एक पर्व सुनाता हुआ चला जाय।

आठवें दिन उसी तरह "मत्स्य साम्मद राजा, उसकी प्रजा जल मे रहनेवाले, वे ये यहाँ बैठे हैं" यो कहकर जो वहाँ मच्छियो को जाननेवाले या मच्छियाँ मारनेवाले बैठे है उन्हे दिखाता है। "इतिहास (इनका) वेद है, सो यह है" यो कहकर कुछ इतिहास (प्राचीन सृष्टि का हाल) कहे।

नवें दिन उसी तरह से "तार्क्ष्य वैपश्यत (या वैपक्षित) राजा है, उसकी प्रजा (वयस्) पक्षी हैं, जो यहाँ बैठे है" यो कहकर वहाँ पर उपस्थित पक्षिविद्या जाननेवाले (सूत्रो मे लिखा है ब्रह्मचारी !) और पक्षियो को दिखाता है। "पुराण ही विज्ञान है, वह यह है" यो कहकर कुछ कहे। [यहाँ आठवें मे मत्स्यपुराण और नवे मे वायुपुराण के सबमे पुराने रूपो का तो कही उल्लेख नही है ?]

दसवें दिन जब उसी तरह से वे तीनो इष्टि की जा चुकती हैं तो वही आवृत्ति होती है। "अध्वर्यो !" "ह वै होत !" "धर्म इद्र राजा, उसकी प्रजा देवता, वे ये बैठे हुए हैं" यो कहकर वेद पढे हुए, दान प्रतिग्रह न करनेवाले विद्वानो की ओर इगित करता है जो वहाँ उपस्थित होते हैं। "सामवेद है, वह यह है" यो कहकर दश साम बोले। प्रतिदिन (और आज भी) अध्वर्यु ने वीणावालो के जत्थे को तो वैसे ही हाँक दी है, परतु 'प्रक्रम' होम नही किए।

यो इस 'पारिप्लवउपाख्यान' के कहने से सारे राज्य, सारी प्रजाएँ, सारे वेद, सारे देव, सारे भूत कहे जाते हैं। जिसके यहाँ जानकार होता यो पारिप्लव उपाख्यान कहता है या जो इसे समझता है उसे सब राज्यो की समानता, सलोकता, सब प्रजाओ का ऐश्वर्य, आधिपत्य मिलता है, वह सब वेदो को रोकता (अपनाता) है, सब देवो को प्रसन्न करके सब भूतो मे प्रतिष्ठित होता है। वर्ष भर तक दस-दस दिन करके छत्तीस दफा यह कहानी कही जाती है जब तक कि घोडा लौट आता है।

इस कथा से यह सिद्ध होता है कि सारी प्रजा यज्ञ में सम्मिलित होती थी, राजा को सब में अपनापन की बुद्धि होती थी। जो लोग अंत्यजों को वैदिक धर्म से दूर समझते हो वे इस आख्यान को ध्यान से पढ़ें।

(आश्वलायन अ० १०; शांखायन १६; शतपथ ब्राह्मण १३।४; कात्यायन श्रौतसूत्र २० प्रभृति।)

[प्रथम प्रकाशन : मर्यादा : दिसम्बर-जनवरी १९११-१२ ई०]

वाजपेय

असुर लोग इसी अभिमान के मारे, कि हम किसके लिये होम करें, अपने मुख में होम करते गए (=अपने इंद्रियों की उपासना में लगे रहे), इसी अभिमान के कारण वे हार गए। देवता आपस में एक दूसरे के लिये होम करते रहे, इसलिये दोनो देवासुरो के पिता प्रजापति ने प्रसन्न होकर उन्हें यज्ञ दिया। इस पर उनमें आपस में "मैं लूँ"—"मैं लूँ" मची। अत को उन्होंने सोचा कि "दौड़ दौड़े, जो जीते वही पावे।" सविता की प्रेरणा से बृहस्पति जीता। उसने सब कुछ पाया। और इंद्र ने भी। इसीलिए यह ब्राह्मण-क्षत्रिय दोनो का यज्ञ है। वाजपेय का शब्दार्थ 'बल का पीना', 'अन्न का पीना' व 'जीत का पीना' है। शरद ऋतु मे ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय यह याग कर सकता है।

वस्तुत. राजसूय राजा ही के लिये है, क्योंकि उससे राजा बनता है और ब्राह्मण राज्य के योग्य नही। राजसूय नीचा है, क्योकि उसे करने से राजा होता है, वाजपेय ऊँचा, क्योकि उसे करने से सम्राट् हो जाता है। अवश्य ही राजा छोटा है क्योकि राजा सम्राट् होना चाहता है, सम्राट् बड़ा है क्योकि सम्राट् राजा होना नही चाहता। इसलिये कात्यायन कहता है कि जिस राजा ने वाजपेय न किया हो वह राजसूय करे, परतु आश्वलायन कहता है कि राजा वाजपेय करके राजसूय करे और ब्राह्मण वाजपेय करके बृहस्पतिसव करे। कृष्ण यजु मे वाजपेय को 'सम्राट्सव' और राजसूय को 'वरुणसव' कहा है। लाट्यायन श्रौतसूत्र मे लिखा है कि जिसे ब्राह्मण या राजा मिलकर अपना प्रधान (मुख्य) चुनें उसे वाजपेय करना चाहिए।

वाजपेय सोमयाग के सात प्रकारो मे से एक है, बहुत-सी बातें इसमे सोमयाग के समान हैं। पहले कई पक्षो तक सोग, ज्योतिष्टोम, पृष्ट्य आदि यज्ञ होते रहते हैं। उनका यहाँ वर्णन करना आवश्यक नही। विशेष यह है कि जहाँ पर सोम बेचनेवाले से सोम खरीदा जाता है वहाँ पर बालोवाले पुरुष (केशव=पढ)

से परिस्रुत नाम की सुरा भी सीसे के बदले में खरीदी जाती है। अध्वर्यु सत्रह कटोरे सोम के और नेष्टा (एक यज्ञ करानेवाला) सत्रह कटोरे सुरा के प्रजापति देवता के लिये लेता है। पहले उनको छुआते हैं, फिर बिलगाते हैं। यों करने से जैसे मूँज में से तूली पृथक् हो जाती है वैसे यजमान पाप से छूट जाता है।

"यदि वाजपेय से सब कुछ मिल जाता है तो पाने को क्या बाकी रहा, इससे तो यजमान की प्रजा (संतान) दु खी होगी, क्योंकि उसे कुछ करने को न रहेगा" ऐसा तर्क नहीं करना चाहिए।

वाजपेय के पाँच कटोरे सोम के लिये जाते हैं और उन्हे चढाया जाता है।

नीवार (=मोटे चावल) का पात्र बृहस्पति के लिये होता है। उसके होम के पीछे गौ, वस्त्र, बकरी, भेड आदि सहस्र-सत्रह देने होते हैं और सत्रह-सत्रह दासियाँ भी, जिनके गले मे चार-चार (तोले ?) सोने के गहने (निष्क) हो। हाथी, लादे के पशु, बडी गाडियाँ, यहाँ तक कि जो कुछ दिया जाय सब की सख्या १७।१७ होनी चाहिए।

इसके पीछे मध्याह्न मे रथों की दौड नामक विचित्र कार्य होता है जो इस यज्ञ का प्रधान काम है।

अध्वर्यु "तू इद्र का वज्र है, तू धन का जीतनेवाला है, तुझसे यह यजमान धन पावे" यों कह कर रथ को अपनी जगह से उतारता है और जूडा पकडकर प्रदक्षिण घुमाता हुआ उसे चात्वाल (खड्डे) के दक्षिण की ओर वेदि के पास यह कहता हुआ रखता है कि "धन पाने मे हम बलवती माननीय माता अदिति को वचनो से सराहते हैं जिस पर यह सारा भुवन स्थित है। उसी पर सविता देव हमारे दृढ रहने को बढती दे।" पानी पीने जाते हुए या पीकर लौटते हुए घोडो को इस मत्र से छीटता है कि "जल मे अमृत है, जल मे दवा है, जल की प्रशसा से ऐ तुम घोडो ! वेगवान् और बलवान् बन जाओ। ऐ दिव्य जल, जो तुम्हारी ऊँची शिखरोवाली, धन देनेवाली, तेजी से आगे बढनेवाली लहर है उससे यह (यजमान) धन पावे।" पहले दहनी ओर के घोडे को यह कहकर रथ मे जोडता है कि "वायु या मन या सत्ताईस गधर्व (=नक्षत्र) थे जिनने पहले पहल घोडे को जोडा और उसमे वेग धरा।" बाएँ घोडे को यों जोडता है—"घोडे ! जुड़कर वायु के समान वेगवाला हो जा, इद्र के दहने घोडे की तरह अपनी श्री से हो जा, सब कुछ जाननेवाले मरुत् तुझे जोडे, त्वष्टा तेरे पैरो मे वेग रखे।" दहनी ओर एक अधिक घोडा जोडे—"हे वाजिन् ! जो तेरा वेग गुहा में छिपा रखा है, जो बाज मे रखा जाकर वायु मे मॅडलाता है, हे दौडनेवाले ! उसी बल से हमारे लिये बलवान् धन जीतनेवाला और युद्ध मे (अथवा देवो के इकट्ठे होने मे) पार पहुँचानेवाला हो।" पीछे-पीछे एक चौथा घोडा बिना जोता हुआ कवि को (लगाम) पर्याण (काठी) आदि आवश्यक चीजें लेकर चलता है। यहाँ बृहस्पति

के लिये एक सत्रह थालियो मे नीवार का पाक बनाकर अब अध्वर्यु अश्वो को बृहस्पति के यज्ञ का भाग सुंघाता है—"दौड की बाजी जीतने को चलनेवाले, धन जीतनेवाले, दौड की राह पर अब चलनेवाले घोडे ! बृहस्पति का भाग सूँघ ले।"

पीछे, वेदि के बाहर, सोलह चौकडी के रथ बिना मत्र के जोते जाते हैं।

आग्नीध्र के पश्चिम को, वेदि के सहारे, ऊँची खूँटियो पर १७ नगारे रखे जाते हैं।

चात्वाल (खड्डे) और अवकर (कचरे की ढेर) के बीच मे से उत्तर की ओर एक राजन्य खैंचकर तीर मारे। जहाँ वह जाकर पडे वहाँ से फिर तीर चलावे। यो सत्रह तीरो की फेंक (मार) की दूरी नापकर अतिम स्थान मे उदुबर की शाखा गाडी जाय। यह दौड का रास्ता होगा और यह शाखा पहुँचने की जगह (गोल)।

अपनी नाभि तक ऊँची लकडी के खभे पर अटके हुए रथ-चक्र पर ब्रह्मा यह कहकर चढता है कि "सत्य प्रेरणा करनेवाले देव सविता की प्रेरणा से मैं बृहस्पति के सर्वोत्तम स्वर्ग को चढ जाऊँ।" यदि यजमान क्षत्रिय हो तो इस मत्र मे *बृहस्पति के स्थान मे 'इद्र' कहना चाहिए। ब्रह्मा वही खडा रहता है,* क्योकि उसका काम यह देखने का है कि काम ठीक-ठीक हुआ या नही।

यजमान "सच्चे चलानेवाले देव सविता की प्रेरणा से, दौडो को जीतनेवाले बृहस्पति की बाजी को मैं जीतूँ" यह कहकर रथ पर चढे। उसी रथ पर, जिसके घोडे मत्र पढ कर जोते गए थे, चुपचाप अध्वर्यु का ब्रह्मचारी या विद्यार्थी भी पीछे मत्र बँचवाने के लिये चढ जाय। एक रथ मे राजन्य या वैश्य सुग का पात्र पकडे रहने को बैठ जाय। बाकी रथो मे और लोग बिना मत्र बैठ जायँ। अब सब रथ होडाहोडी से बहुत तेज लक्ष्य की ओर चलते हैं। इस समय यजमान कहता है—"*बाजी जीतनेवाले, धन जीतनेवाले, मार्गों को व्याप्त करनेवाले और* पडावो को नापने (बाँटने) वाले घोडो ! जीतने के स्थान (काष्ठा) की ओर चलो।"

अब रथ चक्र घुमाया जाता है और ऊपर बैठे-बैठे ब्रह्मा वाजि-साम गाता है कि "अग्निमय घोडा ने सवितादेव की प्रेरणा पाकर तेज पाया है। दौडनेवालो, तुम स्वर्ग को जीतो।"

रखे हुए नगारो मे से एक को "बृहस्पते ! वाजी जीतो, बृहस्पति के लिये अपने शब्द उठाओ, बृहस्पति को बाजी जिताओ" कह कर बजाया जाता है। *बाकी बिना मत्र बजाए जाते हैं। यदि यजमान क्षत्रिय* हो तो 'बृहस्पति' के स्थान मे 'इद्र' कहना चाहिए।

जब दौड हो रही हो तब इन पाँच मत्रो से होम करे या घोडो को सबोधन करे—

"गले में, बगलों में, और मुँह में बँधा हुआ भी यह वेगवान् घोड़ा चाबुक पर नई तेजी दिखाता है, सामर्थ्य के अनुसार खेंच कर दधिक्रा जीते ! रास्ते के चक्करों में बढ़ा जा रहा है। स्वाहा !" ॥१॥

"अपने लक्ष्य की ओर उड जानेवाले पक्षी की तरह इस तेज चलनेवाले, दौड़नेवाले, हवा में झपटते हुए बाज के समान दधिक्रा को बगलें, जैसे कि वह बल के साथ चढ़ता जाता है, पखा झलती हैं। स्वाहा !" ॥२॥

"हमारे यज्ञ में बुलाने पर, मधुरी-मधुरी चाल चलनेवाले, अच्छे स्वरवाले अश्व हमें देवसभा में शुभकारक हों। साँप भेड़ियों और राक्षसों को निगल जाते हुए हमारे सब दुःखों को निकाल बाहर करें" ॥३॥

"बलवान्, प्रार्थना सुननेवाले, वेगवान्, तुली हुई चाल से चलनेवाले वे सब अश्व हमारी प्रार्थना सुनें—वे सहस्रों जीतनेवाले, जहाँ यज्ञ-भाग मिले वहाँ जीतने के उत्सुक, जिनने दौड़ों में बहुत धन पाया है" ॥४॥

"ऋत (सत्यधर्म) को खूब जाननेवाले, पंडित, अमर अश्वो ! प्रत्येक धन लानेवाली बाजी में हमें रक्षा (सहायता) करो। इस मधु को पीओ, तृप्त हो, प्रसन्न हो, तृप्त होकर देवताओं के जाने के मार्गों से जाओ ॥५॥

इस दौड़ में याग करनेवाला ही सबसे बढ़कर रहता है, मानो इस दौड़ में जीतना—तीन घोड़ों के रथ से चौकड़ीवालों को हराना—ही उसे आगे के कर्मों के योग्य बनाता है। अवश्य ही पुराने समय में यह 'सम्राट्' का पद चाहनेवाले की जाँच होगी। पीछे तो यह नियम हो गया होगा कि और सब लोग जान-बूझकर पीछे रह जायें। इंगलैंड के राज्याभिषेक में कार्लाइल एक ऐसी ही घटना का उल्लेख करता है। वहाँ कवच से सज-सजाकर एक मनुष्य घोड़े पर चढ़ा हुआ आकर अपना दस्ताना फेंककर सबको चुनौती देता है कि—"कोई इस राजा को राजा बनाने का विरोधी हो तो मुझसे लड़ ले।" अवश्य ही कोई उस दस्ताने को नहीं उठाता और उठा भी ले तो कौन सा वह हिमायती लड़ सकता है, क्योंकि उस पर कवच का भार इतना होता है कि वह घोड़े पर उठाया जाकर लादा जाता है ! परंतु पुराने काल में प्रत्येक राजा को अपने शत्रुओं को यों हाँक मार कर उनसे लड़े बिना सिंहासन पर बैठने का अवसर नहीं मिलता होगा।

पहले रोपी हुई औदुंबरी शाखा की प्रदक्षिणा करके सब लौटते हैं। उन सबके आ जाने पर ब्रह्मा रथ-चक्र से यह कहता हुआ उतरता है कि—"सच्चे प्रेरणा करनेवाले देव सविता की प्रेरणा से मैं बृहस्पति के सर्वोच्च स्वर्ग को चढ़ गया हूँ।" यदि यजमान क्षत्रिय हो तो 'बृहस्पति' की जगह 'इंद्र'।

जिस नगारे को मंत्र से बजाया था उसे तो नीचे लिखे मंत्र से उतारे, बाकी को पीछे चुपचाप। "आपका एक साथ मिलकर बोलना सत्य हुआ, जिससे आपने बृहस्पति को बाजी जिता दी, बृहस्पति को आपने बाजी जिता दी। वन के पतियो,

अब छूट जाओ।" यदि यजमान क्षत्रिय हो तो 'बृहस्पति' के स्थान मे 'इंद्र'।

यजमान रथ से उतरकर नीवार की खीर के भांडे को यह कह कर छुए—मुझे धन का पूरा प्रसव आवे, नाना रूपोवाले पृथ्वी और आकाश मेरे पास आवें। माता-पिता मेरे पास आवें, सोम मेरे पास अमृतत्व के साथ आवें।" मत्र से जोडे हुए रथ के घोडो को वही खीर सुँघाता है कि—"वेगवाले अश्वो! बाजी जीत लेनेवालो, दौड पूरी करके शुद्ध होकर भीतर ले जाते हुए बृहस्पति के भाग को सूँघो।" अब उस रथ मे चौथा घोडा जोता जाता है और वह रथ अध्वर्यु को दे दिया जाता है। दूसरे रथ और और ऋत्विजो को।

दौडनेवाले रथो मे से एक मे जो राजन्य या वैश्य बैठा था, और जो अब वेदि के उत्तर भाग मे होगा उसे अध्वर्यु और यजमान प्रधान द्वार से जाकर मधु का पात्र हाथ मे देते है। नेष्ठा पीछे के द्वार से सुरा के कटोरे ले जाकर उससे उनके बदले मे यह कहकर मधुपात्र लेता है कि—"इसके बदले तुझसे वह (सोम) मोल लेता हूँ', क्योकि सोम तो सत्य, समृद्धि और प्रकाश है और सुरा मिथ्या, दुःख और अधकार है। वह मधुग्रह पात्र सहित ब्रह्मा को दिया जाता है, वह उसकी जो चाहे सो करे, खाय, रख दे या फेंक दे।

यहाँ पर स्रुव से घी लेकर मत्रो के पाठ के साथ होम होता है। ये मत्र 'आप्ति' कहाते हैं—

मित्र के लिये स्वाहा ॥१॥
बडे अच्छे मित्र के लिये स्वाहा ॥२॥
पीछे उत्पन्न हुए के लिये स्वाहा ॥३॥
क्रतु (कर्म के दृढ़ उद्देश्य) के लिये स्वाहा ॥४॥
वसु के लिये स्वाहा ॥५॥
दिनो के स्वामी के लिये स्वाहा ॥६॥
मुग्ध दिन (छिपे, घटते हुए) के लिये स्वाहा ॥७॥
विनाश होने वाले से उत्पन्न मुग्ध के लिये स्वाहा ॥८॥
अत से उत्पन्न होने वाले विनाशी के लिये स्वाहा ॥९॥
भुवन से उत्पन्न अन्न के लिये स्वाहा ॥१०॥
भुवन के स्वामी के लिये स्वाहा ॥११॥
सबके अधिपति के लिये स्वाहा ॥१२॥
इसके पीछे छः क्लृप्ति (सपन्न कल्पित होना) होम होते हैं—
आयु यज्ञ से सफल (सपन्न) हो ॥१॥
प्राण यज्ञ से सफल हो ॥२॥
आँख यज्ञ से सफल हो ॥ ३ ॥

कान यज्ञ से सफल हो ॥४॥
पृष्ठ यज्ञ से सफल हो ॥५॥
यज्ञ यज्ञ से सफल हो ॥६॥

यजमान का स्वर् चढ़ना

नेष्टा यजमान की पत्नी को दीक्षा के वस्त्रों के ऊपर कुश का या रेशम का बना हुआ जाँघ तक का लहँगा (चडातक, दहर) पहना कर, अर्थात् शरीर के अपवित्र भाग को पवित्र वस्तु से ढक कर, लाता है। यजमान की बैठक के पास ही उत्तर या दक्षिण को अठपहलू, पोला, सत्रह हाथ ऊँचा यूप खड़ा किया रहता है। वह सत्रह कपड़ो से लपेटा जाता है। उसके ऊपर ही ऊपर गेहूँ के आटे की एक ढँकनी रखी जाती है। पहले मनुष्य के भी बहुत बालोंवाली खाल थी, देवताओं ने उसकी खाल निकाल कर गौ पर चढा दी। अतएव मनुष्य प्रजापति के समान हो गया। जैसे पशुओं में सबसे मुलायम (बिना बालों का) चमड़ा मनुष्य का है वैसे अन्नों में गेहूँ के भी मोटा तुष या छिलका नहीं होता। अतएव गेहूँ के आटे की ढँकनी मनुष्यों के राज्य की सीमा बताने को वहाँ लगाई जाती है। यूप के सहारे एक सीढ़ी रखी रहती है। उस पर चढ़ने के समय यजमान स्त्री को कहता है—"जाये! आ, आकाश को चढ़ें।" वह उत्तर देती—"चढ़ें"। दोनों चढ़ते हैं। जाया अपना अर्ध है, जब तक मनुष्य उसे नहीं पाता तब तक फिर नहीं उपज सकता, अधूरा रहता है, उसे पाकर पूरा हो जाता है, फिर उत्पन्न हो सकता है। इससे यजमान चाहता है कि मैं पूरा पहुँचूं। चढ़ते समय यजमान और उसकी पत्नी कहते है कि—"हम प्रजापति की संतान हो गए।" ऊपर जाकर यजमान गेहूँ के आटे की ढँकनी को हाथ लगाता है कि—'हे देवो! हमारा प्रकाश (स्वर्) को आ पहुँचे।" उससे भी अपना सिर ऊँचा उठाता है कि—"अमृत हो गए।" वहीं से चारो दिशाओं और विदिशाओं को फिर-फिरकर देखता है और कहता जाता है कि—"तुम्हारा इंद्रियबल और मनुष्यत्व हमारे में हो, तुम्हारी बुद्धि हम में हो, तुम्हारी शक्तियाँ हम में हों।" अब उसकी प्रजाएँ पीपल के दोनों में ऊसर की मट्टी (खार) भर कर उसे देती हैं और वह उन्हें लेकर पृथ्वी की ओर देखकर कहता है कि—"माता धरती को प्रणाम, माता धरती को प्रणाम।" अब वह अध्वर्यु के बिछाए हुए साँड बकरे के चमड़े पर, जिस पर सोने का टुकड़ा रखा हो, या सोने की सँवारी भूमि पर, उतरता है। पहले वाजपेय-याजी कोई नहीं उतरता था, सीधा स्वर्ग को चढ़ जाता था। सबसे पहले 'औपावि जानश्रुतेय' उतरा था, तब से उतरने की चाल चली। उत्तर वेदि के पश्चिम को, आहवनीय अग्नि के पीछे, उदुंबर की लकड़ी की चौकी पर अध्वर्यु साड बकरे का चमड़ा बिछाता है कि—"यह तेरा राज्य

है।" वही यजमान का हाथ पकडकर उस पर बिठाता है कि—"तू शासक है, तू वश मे करने वाला है, तू दृढ तथा स्थिर है, तुझे कृषि के लिये, तुझे शांति और सुख के लिये, तुझे धन के लिये, तुझे हमारी पुष्टि के लिये।"

यहाँ पर नीवार के चरु का होम होता है। उदुंवर के पात्र मे पानी, दूध और सत्रह प्रकार के अन्न मिलाते हैं, या जितने अन्न याद आवें उतने। उनमे से एक निकाल कर अलग करे। यजमान उस छोडे हुए अन्न को जब तक श्वास रहे तब तक न खाय। मनुष्य कौन है कि सब अन्न अपने लिये ले ले ? प्रजापति का सब अन्न थोडा ही काम मे आता है! इस मिले हुए पदार्थ से स्रुव से सात आहुति दे—

वाजप्रसवीय प्राचीन काल मे बल के फैलाव ने इस सोम राजा को ओषधियों और जल मे आगे बढाया था, हमारे लिये वे मधु से भरे हुए हो, हम राष्ट्र मे अगुआ (पुरोहित) होकर जागते हुए रहे, स्वाहा ॥१॥

सम्राट् बनकर बल के फैलाव ने इस स्वर्ग और सब लोको पर विस्तार पाया, वह जाननेवाला देना न चाहनेवाले से दिलवा देता है, वह हमे बहुत वीरो की पूरी सख्या के सहित धन दे, स्वाहा ॥२॥

अवश्य ही बल का फैलाव इन सब वर्तमान लोको मे सब ओर व्याप्त था, प्राचीन काल से राजा बल चहुँ ओर घूमता है जानता हुआ, प्रजा को और हमारी पुष्टि को बढाता हुआ, स्वाहा ॥३॥

रक्षा के लिये प्रार्थना के लिये हम सोम राजा को, अग्नि को, आदित्यो को, विष्णु को, सूर्य को ब्रह्मा को और बृहस्पति को ग्रहण करते हैं (सहारा लेते हैं), स्वाहा ॥४॥

अर्यमा, बृहस्पति और इंद्र को दान के लिये प्रेरणा कर, वाक्, विष्णु, सरस्वती और वेगवान सविता को, स्वाहा ॥५॥

अग्नि! हमसे यहाँ प्रसन्न होकर बोल, हमारी ओर अच्छे मनवाला (सुमना) हो, सहस्रों जीतनेवाले वर हमे दे, तू तो धन देनेवाला है! ॥६॥

हमे अर्यमा, पूषा, बृहस्पति धन दें, देवी वाक् भी दे, स्वाहा ॥७॥

इससे यजमान उन देवताओ को प्रसन्न करता है जिनका अभिषेक हुआ है, क्योकि राजा वही होता है जिसे और राजा मानें, न कि वह जिसे वे न मानें।

होम करने से जो बाकी बचे उससे अध्वर्यु यजमान का अभिषेक करता है— "प्रकाशमान सविता की प्रेरणा से अश्विनो की बाँह और पूषा के हाथो से, सरस्वती वाक् की (या सब देवताओं की) नियम करनेवाली सम्हाल मे, अगुआपन मे, मैं नियम के लिये तुझे सौपता हूँ। मैं बृहस्पति के साम्राज्य से तुझे, हे अमुक शर्मन् या अमुक वर्मन्, अभिषेक करता हूँ।" अध्वर्यु तीन बार उच्च स्वर

से कहे—"सम्राट् है यह अमुक शर्म्मा या अमुक वर्म्मा।" अभिषेक सिर के ऊपर सब ओर किया जाता है।

यहाँ पर सम्राट् नीचे लिखे मंत्रों का पाठ या उनसे उज्जिति (=बड़ी जीत) होम करता है—

अग्नि ने एकाक्षर (मंत्र) से प्राण जीता, मैं उसे जीतूँ ॥१॥
अश्विनों ने द्वयक्षर (मंत्र) से दुपगे मनुष्य जीते, मैं उन्हें जीतूँ ॥२॥
विष्णु ने तीन अक्षरवाले से तीनों लोक जीते०-०॥३॥
सोम ने चार अक्षरवाले से चार पैर वाले पशु जीते०-०॥४॥
पूषन् ने पचाक्षर से पाँच दिशाएँ जीतीं०-०॥५॥
सविता ने छ अक्षरवाले से छ ऋतु जीते०-०॥६॥
मरुतों ने सप्ताक्षर से सात गँवई पशु (बैल, घोड़ा, भेड़ा, बकरा, खच्चर, गधा और मनुष्य) जीते०-०॥७॥
अष्टाक्षर से बृहस्पति ने गायत्री छंद जीता०-०॥८॥
नवाक्षर से मित्र ने त्रिवृत् स्तोम (ऋग्वेद ६।११) जीता०-०॥९॥
वरुण ने दशाक्षर से विराज जीता०-०॥१०॥
इन्द्र ने एकादशाक्षर से त्रिष्टुभ् जीता०-०॥११॥
द्वादशाक्षर से सब देवों ने जगती०-०॥१२॥
वसुओं ने तेरह अक्षरोंवाले से तेरह गुना स्तोम जीता०-०॥१३॥
रुद्र ने चौदह अक्षरवाले से चौदह गुना स्तोम०-०॥१४॥
आदित्यों ने पन्द्रह अक्षरवाले से पन्द्रह गुना स्तोम०-०॥१५॥
अदिति ने सोलह अक्षरवाले से सोलह गुना स्तोम०-०॥१६॥
प्रजापति ने सत्रह अक्षरवाले से सत्रह गुने स्तोम को जीता, उसे मैं जीतूँ ॥१७॥

होम का शेष अन्न जब यजमान और सब ऋत्विज् खा लें उसके (इडा) पीछे यजमान अपनी चौकी से उतरे। यूप के लपेटे हुए वस्त्र अध्वर्यु को दे दे। यजमान उसकी पत्नी और ऋत्विज् इस यज्ञ में गले में यजमान की दी हुई सोने की मालाएँ पहनते हैं। वह माला जिसने पहनी हो उसी के पास रह जाती है।

इसके अतिरिक्त इस वाजपेय यज्ञ के आदि, मध्य और अन्त में कई यज्ञ-सम्बन्धी काम, कुछ सोमयाग के-से और कुछ विशेष हैं। वे केवल याज्ञिकों ही को रोचक हो सकते हैं इसलिये यहाँ पर नहीं लिखे गए।

[प्रथम प्रकाशन : मर्यादा : दिसम्बर-जनवरी, १९११-१२ ई०]

शुनःशेप की कहानी[1]

इक्ष्वाकु वंश का राजा हरिश्चन्द्र वेधस का पुत्र अपुत्र था। उसके सौ स्त्रियाँ थी। उनके कोई पुत्र न हुआ। उसके घर मे पर्वत और नारद ऋषि आकर रहे। राजा ने नारद से पूछा—

जो जानें जो नहि जानें पुत्र को सब चाहते।
कहिए नारद मुझे पुत्र से फल क्या मिले ?

एक गाथा कहकर उससे पूछा गया था उसने दस मे उत्तर दिया —

ऋण को उसमे धरता औ पाता अमृतत्व को।
पिता जो अपने जाए पुत्र का मुख देख ले ॥
जितने भोग पृथ्वी मे अग्नि मे जल मे तथा।
जीवो को उनसे बढके पिता को पुत्र मे मिले ॥
तरा घोर अँधेरे को पुत्र से नित्य बाप ने।
आत्मा से जन्मता आत्मा यह नौका तरावनी ॥
'क्यों मैले रहते ? विप्रो ! चर्म क्यो ? केश क्यो बढे ?
तप क्यों ? सुत ही चाहो"—यों हैं लोग बखानते ॥
अन्न जिलावे, वस्त्र ढके तन, रूप स्वर्ण दे भार वहें पशु।
दयापात्र बेटी स्त्री साथी पुत्र ज्योति है लोक परम मे ॥
जाया मे पति पैठे है गर्भ हो मा करे उसे।
उसी मे फिर नया हो के दसवें मास जन्मता ॥
जाया जाया कहाती है कि उसमे फिर जन्म हो।
बढ़ती महिमा की है, बढ़ाती घृतवीर्य को ॥

१ ऐतरेय ब्राह्मण से उद्धृत। (ऐ० ब्रा० ८वीं पंचिका, ३रा अध्याय—संपादक)

ऋषियों देवताओ ने महातेज दिया उसे।
देव बोले मनुष्यों से "जनेगी फिर तुम्हें यहो"॥
अपुत्र का ठिकाना न पशु सब जानते यही।
सुत जोड़ा करे उनमें मा बहन से इसी लिये॥
मार्ग बड़ा बहुतों का गाया जिस पर सुतयुत चलें अशोक।
इसको पशु पक्षी भी जानें तो ही वे करते जननी योग॥

यों कहकर उसे कहा कि—"वरुण राजा से प्रार्थना कर कि मेरे पुत्र हो तो उसे तुझे चढाऊँ।" "अच्छा।" यह वरुण राजा के पास गया और यह विनती की कि—"मेरे पुत्र हो जाय, उससे तेरा याग करूँ।" उसके रोहित नाम का पुत्र हुआ। वरुण ने राजा से कहा—"तेरे पुत्र जन्मा उससे मेरा याग कर।" राजा ने कहा कि—"जब पशु दश दिन से बढ जाता है तब वह यज्ञ के योग्य होता है, दस दिन लाँघने दो तब तुझे यजूँ।" "ठीक है।" वह दश दिन का हो गया। वरुण ने राजा से कहा—"दश दिन को लाँघ गया, अब मुझे इससे यज।" राजा बोला—"जब पशु के दाँत निकल आते हैं तब वह यज्ञ के योग्य होता है, दाँत इसके हो जायें तब तुझे यजूँ।" "ठीक है।" उसके दाँत हो गए। वरुण ने राजा से कहा—"इसके दाँत हो गए हैं, अब मुझे इससे यज।" राजा बोला—"जब पशु के दाँत गिर जाते हैं तब वह मेध के योग्य होता है, दाँत इसके गिर जायें तब तुझको इससे यजूँ।" "ठीक है।" उसके दाँत भी गिर गए। वरुण ने राजा से कहा—"इसके दाँत गिर गए है, अब मुझे इससे यज।" राजा बोला—"जब पशु के दाँत फिर उग आते हैं तब वह मेध्य होता है, दाँत इसके फिर हो जायें तब तुमको इससे यजूँ।" "अच्छा।" उसके दाँत फिर निकल आए। वरुण ने राजा से कहा—"फिर इसके दाँत निकल आए है, अब मुझे इससे यज।" वह बोला—"जब क्षत्रिय कवचधारी होता है तब वह मेध्य होता है, कवच पाने का उठान इसे पाने दो तब तुझको इससे यजूँ।" "अच्छा।" वह कवच पा गया। वरुण बोला—"अब यह कवच पा गया है, इससे मुझे यज।" यों कहते ही उसने बेटे को बुलाया और कहा—"लाल, तुझको मुझे इसने दिया है, तुझसे मैं अब इसे यजूँगा।" वह 'नहीं' कहकर धनुष तानकर वन मे चला गया। वहाँ वह वर्ष भर घूमता फिरा। इधर इक्ष्वाकुवंशी राजा को वरुण ने धर लिया और उसे जलोदर हो गया। यह रोहित ने सुना। वह जगल से बस्ती मे आया। उसके पास इन्द्र पुरुष के रूप से आकर बोला—

"श्रमी को रोहित! सुना लक्ष्मी बहुविधा मिले।
बैठा निगोड़ा पापी है, फिरते का मित्र इन्द्र है॥

तू घूमता रह"। 'मुझे ब्राह्मण ने कहा है कि घूमता रह' इसलिये वह दूसरे वर्ष भी वन मे रहा। फिर जब वह वन से बस्ती मे आया तो इन्द्र पुरुष-रूप से सामने

आकर बोला—

"घूमते की जांघ फूले, बढ़े आत्मा, मिले फल।
सो जाते पाप सब उसके श्रम से मार्ग मे हने॥

तू घूमता रह।" 'मुझे ब्राह्मण ने कहा है कि विचरता रह' इसलिये वह तीसरे वर्ष भी वन मे रहा। वह जब पुन. वन से बस्ती को आया तो इद्र ने पुरुप-रूप से आकर उसे कहा—

"बैठे का भाग्य बैठा है, खड़े का भाग्य हो खड़ा।
पड़े का भाग्य सोता औ चलते का बढ़ा करे॥

तू घूमता ही रह।" 'मुझे ब्राह्मण ने कहा है विचरता रह' इसलिये वह चौथे वर्ष भी वन मे रहा। फिर जब वह वन से बस्ती को आया तो उससे इद्र पुरुप-रूप से आकर बोला—

"सोता कलि कहाता है द्वापर स्थान छोड़ता।
त्रेता वह खड़ा जो हो, चलता कृत हो बने॥

अथवा

(राजसूय में जो पासों के नाम और अर्थ कहे हैं उनके अनुसार—)

'कलि' सोया 'द्वापर' चला, 'त्रेता' तो है अभी खड़ा।
'कृत' बढ़ता चला आता, जीत की आस पूर्ण है॥

घूमता ही रह।" 'तू घूमता ही रह' यह मुझे ब्राह्मण ने कहा है, ऐसा सोच कर वह पाँचवें वर्ष भी वन मे फिरा। वह अरण्य से बस्ती को आया तो इद्र ने पुरुप-रूप से आकर कहा—

"विचरे मधु को पावे, मीठे फल उदुम्बर।
सूर्य की महिमा देखो घूमता ऊँघता नहीं॥

घूमता ही रह।" मुझे ब्राह्मण ने कहा है कि 'घूमता ही रह' यह सोच कर वह छठे वर्ष जगल मे फिरा। वहां जगल मे उसे भूख से मरता हुआ सुयवस का पुत्र अजीगर्त ऋषि मिला। उसके तीन पुत्र थे। रोहित ने उसे कहा—"ऋषे, मैं तुझे सौ (गौएँ) दूंगा, इनमें से एक के बदले अपने को बेंच बचाऊँगा।" वह बड़े पुत्र को पकड़ कर बोला—"इसे तो नही" और छोटे को "इसे भी नही" यो माता बोली। वे दोनों बिचले शुन शेप पर राजी हो गए। उसको सौ देकर, उसको लेकर, वह वन से ग्राम को आया। आकर वह पिता से बोला—"तात, मैं इससे अपने को बदल बेचता हूँ।" वह उसी को ले वरुण राजा के पास पहुँचा कि—"इससे तुझे यजूं।" वरुण ने कहा—"अच्छा, क्षत्रिय से ब्राह्मण बढ कर है" और

राजा को राजसूय यज्ञ समझाया। राजा ने उस अभिषेचनीय (अभिषेक) के यज्ञ में पशु की जगह उस पुरुष को पकडा (बलि के लिये)।

राजा के यज्ञ में विश्वामित्र होम करनेवाला, जमदग्नि यज्ञ का प्रबंध करनेवाला, वशिष्ठ भला बुरा देखनेवाला और अयास्य साम गानेवाला था। जब उस शुनःशेप को मंत्रित किया गया तो उसे खूंटे से बाँधनेवाला कोई न मिला। सुयवस का पुत्र अजीगर्त बोला—"मुझे और सौ दो, मैं इसको बाँध दूंगा।" उसे और सौ (गौएँ) दी, उसने बांध दिया। जब उसे मंत्रित कर दिया, बांध दिया, आप्री मंत्र पढ दिए गए और उसके चारो ओर आग घुमा दी गई तो कोई उसे मारनेवाला न मिला। सुयवस का पुत्र अजीगर्त बोला—"मुझे और सौ दो, मैं इसे काट दूंगा।" उसे और सौ दिए। वह खड्ग पर धार देता हुआ आया। अब शुनःशेप ने सोचा—"यहाँ मनुष्य (=पशु) की तरह ही ये मुझे काटना चाहते हैं, भला मैं देवताओं को तो पुकारूं।" वह पहले देवताओ मे प्रथम प्रजापति के पास पहुँचा (=स्तुति की) इस मंत्र से—

अमृतों में किस देव कौनसे का हम ध्यावें सुन्दर नाम ?
कौन मुझे फिर देय अदिति को, मात-पिता को देखूं जाय ॥
(ऋग्वेद १।२४।१)

उसे प्रजापति ने कहा—"अग्नि देवताओ मे से सब से पास है, उससे प्रार्थना कर।" उसने इस मंत्र (ऋग्वेद १।२४।२) से अग्नि की प्रार्थना की—

अमृतों मे से प्रथम अग्नि का हम ध्याते हैं सुन्दर नाम।
वही मुझे फिर देय अदिति को, मात पिता को देखूं जाय॥

अग्नि ने उसे उत्तर दिया—"सविता सब जन्मवालो का स्वामी है उसी के पास जा।" उसने "अभि त्वा देव सवित" इन तीनो मंत्रो से सविता की प्रार्थना की (ऋग्वेद १।२४।३-५)। सविता ने उसे उत्तर दिया—"राजा वरुण के लिये बाँधा गया है, उसी के पास जा।" उसने इसके आगे के इकतीस मंत्रो (ऋ० १।२४।६—१।२५।२१) से राजा वरुण की स्तुति की। उसे वरुण ने कहा—"अग्नि देवताओ का मुख है, सबसे सहृदय है, उसकी स्तुति कर फिर तुझे छोड देंगे।" उसने उसकेआगे के बाईस मंत्रो से अग्नि की स्तुति की (ऋग्वेद १।२६।१—१।२७।१२)। उससे अग्नि ने कहा—"विश्वदेवो की स्तुति कर फिर तुझे छोड देंगे।" उसने विश्वदेवों की स्तुति की "नम बडो को नम छोटो को" इस ऋक् से (१।२७।१३)। उसे विश्वदेवो ने कहा—"इंद्र सब देवो में सब से बलवान्, तेजवाला, सहनवाला, सच्चा और पार पहुँचानेवाला है, उसकी स्तुति कर फिर तुझे छोड देंगे।" उसने इंद्र की स्तुति ऋग्वेद १।२९ से और १३० वें पंद्रह मंत्रो से की। इंद्र ने उसकी स्तुति से प्रसन्न होकर उसे सोने का रथ दिया। इस बर

को उसने ऋग्वेद १।३०।१६ से स्वीकार किया। उसे इन्द्र ने कहा—"अश्विनो की स्तुति कर, फिर तुझे छोड देंगे।" उसने इसके आगे के तीन मन्त्रो (ऋग्वेद १।३०।१७–१९) से अश्विनो की स्तुति की। अश्विनो ने उसे उत्तर दिया—"उषा की स्तुति कर फिर तुझे छोड देंगे।" उसने इसके आगे के तीन मन्त्रो (ऋग्वेद १।३०।२०–२२) से उषा की स्तुति की। उसकी एक ऋक् कहते ही पाश ढीले पड गए और वह खुल गया और राजा इक्ष्वाकुवशी का पेट हलका होने लग गया। और अतिम ऋक् के कहते ही पाशो से छूट गया और ऐक्ष्वाकु नीरोग हो गया।

ऋत्विजो ने अब शुन शेप से कहा—"तुम ही हमारी आज इस दिन की सस्था (प्रधानता) को लो।" तब शुन शेप ने जल्दी सोमरस निकालने की चाल निकाली और ऋग्वेद १।२८।५-८ इन चार ऋचाओ से सोम को कूट निचोडा और फिर ऋग्वेद १।२८।९ से उस सोम को द्रोणकलश मे डाला। जब राजा हरिश्चन्द्र ने उसे छू लिया तब उसने 'स्वाहा' कहकर ऋग्वेद १।२८।१-४ इन चार मन्त्रो से उस सोम को होमा। तब राजा को ऋग्वेद ४।१।४-५ इन दो मन्त्रो से अवभृथ स्नान कराया और फिर "शुनश्चिच्छेप निदित सहस्रात्" इस मन्त्र (ऋ० ५।२।७) से आहवनीय अग्नि के पास पहुँचाया।

अब शुन शेप विश्वामित्र की गोद म जा बैठा। सुयवस का पुत्र अजीगर्त बोला—"ऋषे, मेरे पुत्र को लौटा दो।" विश्वामित्र ने कहा—"नही, देवताओ ने मुझे यह दिया है।" वह विश्वामित्र का पुत्र देवरात हुआ जिसके वश मे ये कापिलेय और बाभ्रव हैं। सुयवस के पुत्र अजीगर्त ने फिर कहा कि—"आ जा, हम दोनो तुझे बुलाते हैं।" और भी उसने कहा—

जन्म से अगिरागोत्री मेरा पुत्र प्रसिद्ध तू।
ऋषे, कवे, लौट; मत जा दादा की ततु से परे॥

शुन शेप ने कहा—

देखा तुझे खग लिए, शूद्रो मे भी न ये मिले।
अगिर! तीन सौ गौए मुझसे श्रेष्ठ मान लीं॥

अजीगर्त सौयवसि बोला—

लाला! मुझे जलाता है पाप कर्म किया हुआ।
मिटाना चाहता दोष वह सौ गौ तुम्हें मिलें॥

शुन शेप ने उत्तर दिया—

एक जो पाप कर ले दूसरा वह फिर करे।
न हटा शूद्र-अन्याय से तू सधि न हो सके॥

"अवश्य यह काम सधि के योग्य नहीं है" यह विश्वामित्र ने भी कहा। और कहा—

अजीगर्त महाभीम खड्ग ले काटने खड़ा।
दीखे था, पुत्र इसका हो मत, मेरा बनो सुत ॥

शुनःशेप बोला—

राजपुत्र मुझे आप समझा कह दीजिए।
न खोऊँ अंगिरा गोत्र, हो जाऊँ पुत्र आपका ॥

विश्वामित्र ने कहा—

तू जेठा पुत्र मेरों मे, तेरी सतान श्रेष्ठ हो।
दैवी सपत्ति मेरी ले, हो उससे अभिमत्रित ॥

शुनःशेप ने कहा—

मान लें पुत्र तेरे जो तो मुझे भी प्रसाद हो।
कह दो भरतश्रेष्ठ उन्हें क्योंकर बना सुत ॥

अब विश्वामित्र ने पुत्रो को सम्बोधन किया—

मधुच्छदा सुनो बात रेणु ऋषभ अष्टक।
जितने तुम भाई हो इससे ज्येष्ठ ना बनो ॥

ऋषि विश्वामित्र के सौ पुत्र थे—पचास मधुच्छदस् से बडे, पचास छोटे। जो बडे थे उन्होंने यह भला न माना। विश्वामित्र ने उन्हे शाप दिया कि "तुम्हारी सतान अत्य (जाति) को भोगेगी।" वे ये अध्र, पुड्र, शबर, पुलिंद, मूतिब, चोरो से भरे हुए बहुत अत्य (अत जाति या अत देशवाले) विश्वामित्र के वश के हैं। मधुच्छदस् पचास छोटों के साथ बोला—

जो हमारा पिता माने उस पर हम हैं खडे।
आगे करें आपको औ पीछे हैं हम आपके ॥

विश्वामित्र ने प्रसन्न होकर अपने पुत्रो की स्तुति की—

"पुत्रो तुम पशुओंवाले पुत्रोंवाले सदा रहो।
क्योंकि मेरी बात मानी वीरवाला मुझे किया ॥
गाथिपुत्रो! देवरात अगणी से समृद्ध हो।
रहोगे, सुतवालो! यह ले जावे सत्यमार्ग मे ॥
वीर तुम मे देवरात कुशिको! इस पर चलो।
पाए ये तुमको, मेरे दाय को, सब ज्ञान को ॥"

सोपे विश्वामित्र-पुत्र श्रेष्ठ जिन देवरात को।
गाथिपौत्र धनी साथ कीर्ति सम्पत्तिवान् हुए॥
ऋषि दोनों बपौती का कहाता देवरात यों।
जह्नु गोत्री राजपति और विद्यापति गाथि का॥

यह सौ ऋचाओं से ऊपर गाथाओं वाला शुनःशेप का उपाख्यान है जिसे होता अभिषेक किए पीछे राजा को सुनावे। सोना मढ़ी हुई गद्दी पर बैठकर होता इसे कहता है और सोना मढ़ी हुई गद्दी पर बैठकर ही अध्वर्यु इसके उत्तर देता है। होता ऋक् सुनावे तो अध्वर्यु 'ओम्' कहे और गाथा पढ़े तो 'यों ही, वैसे ही' कहकर हुंकारा भरे। राजा जब जीते, चाहे वह यज्ञ न करे तो भी, यह शुनःशेप की कथा कहलावे, उसमें तनिक भी पाप नहीं बच रहता। कहनेवाले को सहस्र गौएँ दे और उत्तर में 'हाँ' 'हूँ' कहनेवाले को सौ। वे दोनों आसन उन्हें प्रत्येक को दे दे और चाँदी से मढ़ा हुआ एक खच्चरों का रथ होता को। पुत्र चाहनेवाले भी इस कथा को कहलावें तो वे पुत्रों को पाते हैं।

इस कथा को पढ़कर यह अनुमान करना भूल है कि मनुष्यबलि प्रायः होती थी। प्रत्युत काटनेवाले का न मिलना आदि बातें इस घटना का निरालापन दिखाती हैं। यह कहानी दिखाती है कि दीनता और भूख मनुष्य को किस नीच कर्म करने तक पहुँचा देती है, कैसे परिश्रम से खोजनेवाले को सब कुछ मिलता है, कैसे दृढ़ मनुष्य देवताओं को प्रसन्न कर लेता है और कैसे अपने पिता के हाथ से मारे जाने से बच कर अपनी विद्या के बल से सस्थापित और दो कुलों का स्वामी हो सकता है। राजा को अभिषेक के पीछे इस कथा को सुनाने का तात्पर्य यह है कि वह हरिश्चन्द्र की-सी भयकर प्रतिज्ञा कभी न करे, आपत्ति आने पर भी निराश न हो, रोहित की तरह घूमता रहे और अपने सुराज्य से ऐसा अवसर न दे कि लोग भूख के मारे अजीगर्त के-से नर-पिशाच बन जायें।

[प्रथम प्रकाशन : मर्यादा : दिसम्बर-जनवरी १६११-१२ ई०]

पृथु वैन्य का अभिषेक

पृथुर्ह वै वैन्यो मनुष्याणां प्रथमोऽभिषिषिचे। (शतपथ ब्राह्मण)

वेन का पुत्र पृथु (जिसके पीछे आज तक पृथिवी या पृथ्वी कहलाती है) ऊपर लिखी हुई श्रुति के अनुसार मनुष्यों मे पहले-पहल ही अभिषिक्त हुआ। उस समय की प्राचीनता का अनुमान महाभारत के इस वर्णन से हो सकता है कि उस प्राचीन समय, कृतयुग में धरती सब विषम थी, जैसी मन्वतरो मे सृष्टि के पीछे हुआ करती है। पृथिवी बिना खेती किए पकनेवाले पदार्थ दिया करती थी, पेड़ो के खोते खोते मे मधु (शहद) मिलता था और गौएँ जितना चाहते उतना दूध दिया करती। सुखस्पर्श, सुखदायक वृक्ष थे जिनके वस्त्रो (वल्कलो और पत्तो) को पहन कर प्रजा उनमे ही सो रहती। अमृत से मीठे फल और मधु यही उसका आहार था और वह कभी भूखी नहीं रहती। मनुष्य नीरोग, सर्वसिद्धार्थ, किसी से भी न डरते, यथेच्छ वृक्षो मे और गुफाओ मे रहा करते। न राष्ट्र बँटे हुए थे न पुर, प्रजा भी उस समय मौज के अनुसार प्रसन्न थी। उस पूर्व निसर्ग मे विषम भूतल मे पुरो और ग्रामो का विभाग न था, न खेती होती थी न गोरक्षा, न व्यापार न लेन-देन। इन सब बातो का आरभ वेन के पुत्र से लेकर है। न राज्य था न राजा, न दड न दड देनेवाला, सब लोग आपस मे एक दूसरे की धर्म से ही रक्षा करते। यो करते-करते उनमे 'दीनता' आई, उससे उनमे 'मोह' आ घुसा, उससे 'बुद्धि' मारी गई, और उनका 'धर्म' नष्ट हो गया, तब वे 'लोभ' के वश हुए और जब अप्राप्त चीजो को लेने लगे तब उनमे 'काम' आ पहुँचा। जब वे काम-वश हो गए तब 'राग' ने धर दबाया। इससे वे कार्य-अकार्य पहचानना भूल गए। यो जब नरलोक मे विप्लव मच गया तब देवता भी यज्ञभाग न पाने से क्लेशित हुए और उनकी प्रार्थना पर 'ब्रह्मा' ने अपनी बुद्धि से सौ हजार अध्यायों मे एक नीतिशास्त्र बनाया जिसमे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष सब का पूरा वर्णन है। यह उनने 'शकर' को सिखाया, उनने उसका सक्षेप कर के 'वैशालाक्ष' शास्त्र बनाया।

उस दस हजार अध्यायो के शास्त्र को 'इंद्र' ने सीख कर पांच हजार अध्यायो का 'बाहुदतक' शास्त्र चलाया। उसका सक्षेप करके 'बृहस्पति' ने तीन हजार अध्यायो का 'बार्हस्पत्य' और 'काव्य' (शुक्र) ने उसे हजार ही अध्यायो का बना दिया।

जब यो नियम और धर्म नियत हो गए तब उनको चलाने के लिए देवताओ ने 'विष्णु' से पूछा कि—"मर्त्यो मे एक जो श्रेष्ठतम होने योग्य है उसे बनाइए"। वहां से 'तैजस विरजा' मन से ही उत्पन्न किया गया, किंतु उसने राज्य करना नही चाहा, उसकी इच्छा सन्यास मे रही। उसका पुत्र 'कीर्तिमान्', और उसका 'कर्दम' ये भी मनुष्यो से बढ कर तपस्वी हुए। उसके पुत्र 'अनग' ने दड-नीति जान कर प्रजापालन किया किंतु उसका पुत्र नीतिमान् 'अतिबल' महाराज्य पाकर इद्रियवश हो गया। उसकी स्त्री 'सुनीथा' थी जिससे 'वेन' उत्पन्न हुआ।

यं प्रजासु विधर्माणं रागद्वेषवशानुगम्।
मन्त्रपूतैः कुशैर्जघ्नुर्ऋषयो ब्रह्मवादिन॰॥

मनुस्मृति कहती है कि उसने वर्णसकरता चलाई। भागवत कहता है कि उसने ब्राह्मणो से कहा कि मैं ही ईश्वर हूँ, मेरे लिये यज्ञ करो, जैसा मैं कहूँ वैसा ही पुण्य पाप है। जो हो, प्रजा मे विधर्मा, रागद्वेष के वश उस राजा को ब्रह्मवादी ऋषियो ने कुशो से मार-मार कर मार डाला।

अब ऋषियो ने उसकी जाँघ को मथा। उसमे से एक विकृत, अशुद्ध, ठिंगना, जले हुए कुदे का-सा, लाल आंखो और काले केशावाला पुरुष निकला जिसे ऋषियो ने कहा कि—"निषीद=बैठ जा"। उससे ये निषाद भील म्लेच्छ वन-चारी उत्पन्न हुए हैं। या गर्हित नीचे के भाग को छांट निकाल ऋषियो ने उस मरे हुए राजा के दहने हाथ को मथन किया। अब हम यह नही कह सकते कि पुराणो मे यह रूपक है या सच्चा वर्णन। यदि रूपक है तो इसका अर्थ आजकल की भाषा मे यह है कि ऋषियो ने नीच प्रवृत्ति के लोगो को निकाल बाहर किया और मृत-राजा की बाँह अर्थात् बराबर के मनुष्यो मे से मथन (छानबीन, चुनाव) करके एक इद्र के समान रूपवान् पुरुष निकाला। कवच पहने, तलवार बाँधे, धनुष-बाण धारे, वेद वेदाग धनुर्वेद का पारगामी वह नरोत्तम था। सारी दड-नीति उसम आश्रित थी। वह वैन्य=वेन का पुत्र महर्षियो को हाथ जोड कर बोला—"(आपके मथन से) मेरे म धर्म-अर्थ को देखनेवाली सूक्ष्म बुद्धि उत्पन्न हुई है, इससे मैं क्या करूँ, यह मुझे तत्त्व से समझाइए। जो अर्थ समेत (निष्प्रयो-जन नहीं) कार्य आप मुझे कहेगे वह करूँगा। इसमे कोई विचार मत कीजिए।" तब उसे देव और ऋषियो ने कहा कि—

"नियतो यत्र धर्मो वै तमशंकः समाचर।"

"जहाँ धर्म नियत है वह काम निःशंक होकर कीजिए। प्रिय अप्रिय का विचार छोड़कर सब जंतुओं में समान होकर काम, क्रोध, लोभ और मान को दूर बहाकर, लोक में जो कोई मनुष्य धर्म से विचलित हो धर्म को सदा विचारते हुए आपको उसे अपने हाथों से पकड़ना चाहिए।"

प्रतिज्ञा

'प्रतिज्ञा चाधिरोहस्व मनसा कर्मणा गिरा।
पालयिष्याम्यहं भौमं ब्रह्म इत्येव चासकृत् ॥
यश्चात्र धर्म इत्युक्तो दण्डनीतिव्यपाश्रयः ।
तमशंकः करिष्यामि स्ववशो न कदाचन ॥
लोकं च संकरात्कृत्स्नं त्रातास्मीति परंतप ॥"

"मन, कर्म और वाणी से इस प्रतिज्ञा को बार-बार स्वीकार कीजिए (शब्दार्थ—आरूढ़ होइए) कि भूमि और ब्रह्म को मैं पालन करूँगा। इस (धर्म-नीति ग्रंथ में) दण्डनीति के आश्रित जो धर्म इस नाम से कहा गया है उसे निःशंक करूँगा, कभी अपने वश होकर काम नहीं करूँगा और समस्त लोक को वर्ण-संकरता से बचाऊँगा।" इसके उत्तर में वैन्य ने कहा कि—"यदि ब्राह्मण मेरे सहायक हों तो ऐसा ही हो।" इस पर ऋषियों ने प्रसन्न होकर उसका अभिषेक किया। यों विष्णु से आठवें उस राजा के सारस्वत ऋषि प्रभृति पुरोहित हुए और सूत और मागधों ने उसकी प्रशंसा की। उसके अभिषेक करनेवालों ने सोचा था कि—"यह हम सब को फैलाएगा" इससे उसका नाम फैलानेवाला = 'पृथु' हुआ, "यह हम सब को क्षतों से बचाएगा" इससे 'क्षत्रिय' हुआ। उस पृथु वैन्य को देखकर प्रजागण बोल उठे कि "हम रज् गए, रीझ गए" इसी अनुराग से उसका नाम 'राजा' हुआ।

पृथिवी को समतल करना और दुहना

अब सबने उससे कहा कि "आप सम्राट् हैं, क्षत्रिय हैं, राजा हैं, हमारे पिता हैं, रक्षक हैं, महाराज! आप प्रभु हुए, हमें ईप्सित वर दीजिए जिससे हम सदा तृप्त होकर सुखपूर्वक बरतते रहें।" पृथु ने धरती को धनुष-बाण लेकर घर दबाया। वह गोरूप धारण करके कहीं शरण न पाकर उसी की शरण आई और बोली कि—"मुझे मारकर प्रजाओं का पालन काहे पर करोगे?" पृथु ने उत्तर दिया—"अपने शरीर को पैनाकर।" अस्तु जमीन ने कहा कि—"मैं गौ हूँ, मेरे लिये बछड़ा और दोहनेवाला और पात्र बता दो जिससे मैं दूध देती जाऊँ। परंतु जरा पृथ्वी को समतल तो करो जिससे मेरा चूता हुआ दूध सब ओर फैले।"

पृथु ने सब ओर से शिलाजालों को हटाया और जगह-जगह पहाड़ छोड़ दिए। पहले तो, जैसा ऊपर कहा गया है, न ग्राम थे न नगर, पर अब जहाँ-जहाँ समतल भूमि मिलने लगी वहीं-वहीं मनुष्य निवास करना पसद करने लगे। पृथु ने सब विधान कर दिया जिससे सारे भूत पृथ्वी दुहने लगे, उसका दूध पीने लगे।

मनुष्यों ने पृथ्वी को ही पात्र बनाया। प्रथम मनुष्य स्वयंभू मनु को वत्स, और पृथु को दोहनेवाला बनाया और खेती और अनाज दुहा।

पृथु का प्रताप

उसके राज्य मे न बुढ़ापा था न दुर्भिक्ष, आधि और व्याधि कहाँ? साँपो, चोरों या किसी और का भय न था। भूमि शस्यों की माला से सिंगारी हुई रहती। जब वह समुद्र को जाना चाहता, पानी रुक जाते, पहाड़ उसे मार्ग दे देते। उसने पृथ्वी मे से सत्रह प्रकार के अन्न दोहन करके निकाले। जंगली पशु भी उसके इतने वश मे थे कि, शतपथ ब्राह्मण के अनुसार, उन्हे नाम लेकर बुला लिया करते कि 'आओ, आज तुम्हे पृथु पकाना चाहता है।' उसने लोगो को रिझाया इससे वह 'राजा' कहलाया। सब से ही भगवान् विष्णु राजा मे प्रविष्ट हुए हैं।

(महाभारत—द्रोणपर्व ६९, शांतिपर्व ५८।)

[प्रथम प्रकाशन : मर्यादा दिसम्बर-जनवरी, १९११-१२ ई०]

सुकन्या की वैदिक कहानी

हिंदू लोग भोजन किए पीछे एक श्लोक[1] पढ़ा करते हैं जिसका तात्पर्य यह है कि राजा शर्याति, उसकी कन्या सुकन्या, मुनि च्यवन, सोम, और अश्विनीकुमार, भोजन किए पीछे इनका नित्य स्मरण करनेवाले की आँख कभी नहीं बिगड़ती। इस सुकन्या की पतिभक्ति की कहानी प्रसिद्ध है। कैसे उसने बूढ़े च्यवन की धर्मपूर्वक सेवा की, कैसे वह बहकाई जाकर भी पतिव्रत से नहीं डिगी, और कैसे उसके सतीत्व के बल से उसका पति भला-चंगा हो गया, यह रोचक कहानी हिंदू माताओं, देवियों और पुत्रियों को सदा स्मरण रहती होगी। तभी तो हिंदुओं ने उसके उपाख्यान को इतना गौरव दिया कि नित्य के स्मरणीय नामों में उसको रखा। इस कथा का पौराणिक रूप झालरापाटन के पंडित गिरिधर शर्मा ने 'सरस्वती' की किसी पिछली संख्या में खड़ीबोली की कविता में वर्णन किया है। आज मैं उस कथा का वैदिक स्वरूप सुनाता हूँ जो पौराणिक कथा का पिता है।

शतपथ ब्राह्मण के चौथे कांड में आश्विन ग्रह (सोम का वह कटोरा जिसके देवता अश्विनीकुमार होते हैं) की प्रशंसा के साथ साथ यह आख्यायिका आई है—

जहाँ से भृगु के वंशीय या अंगिरस् के वंशीय (अपने कर्मों से) स्वर्गलोक को गए वहाँ च्यवन, जो या तो भृगुगोत्र का था या अंगिरस् गोत्र का, बहुत बूढ़ा और पलीत का होकर[2], पीछे रह गया। मनुवंशी शर्यात[3] राजा अपने ग्राम के साथ[4]

१ शर्याति च सुकन्या च च्यवन सोममश्विनौ।
भोजनान्ते स्मरेन्नित्य तस्य चक्षुर्न हीयते॥

२ कृत्यारूप कठपुतली का सा या पुतले का-सा।

३. पौराणिक नाम शर्याति। वेद में इस का नाम भी शार्यात अर्थात शर्यात के गोत्र का मिलता है। पुराने राजाओं और देवताओं का सगोत्र और सयोनि होना बहुत जगह पाया जाता है।

४ सारी प्रजा के साथ, सारी सेना के साथ या सारी कौम के साथ।

विचर रहा था। उसने उसी के, च्यवन के, पडोस मे आकर डेरा किया। लडको ने[1] खेलते-खेलते च्यवन को बूढा पलीत का-सा और निकम्मा समझकर पत्थरो से खूब दला। वह (च्यवन) शर्यातवालो[2] पर क्रुद्ध हुआ जिससे उनको व्यामोह हो गया और बाप बेटे से लडने लगा और भाई भाई से।[3] शर्यात ने सोचा कि—"मैंने कुछ न कुछ किया है जिससे कि यह आन पडा।' इसलिये उसने ग्वालो और गडेरियों को बुला कर कहा—"तुम मे से किसी ने आज यहाँ कुछ देखा था?" उन्होंने उत्तर दिया—"यहाँ पर एक बूढा मनुष्य ही प्रेत सा सोया रहता है। उसे निकम्मा समझ कर कुमारो ने पत्थरो से दला है।" राजा समझ गया कि यही च्यवन है।[4] वह हाथ जोड कर और उसमे अपनी पुत्री सुकन्या शार्याती को रख कर चला और वहाँ पहुँचा जहाँ ऋषि था, और बोला—"ऋषे, नमस्ते। मैं नही जानता था कि इससे मैंने अपराध किया (शब्दार्थ—हिंसा की)। यह सुकन्या (शब्दार्थ—अच्छी लडकी) है इससे मैं तुमसे प्रायश्चित्त करता हूँ (शब्दार्थ—अपराध छिपाता हूँ), मेरा ग्राम फिर जुड जाय, समझ जाय।[5]"

१ शर्यात् के पुत्र अथवा कौन के कम-उम्र जवान।

२. शर्यात के परिवार पर, या सारी प्रजा पर। सब से पुराने समाजो मे कुल का बडेरा ही जाति का राजा होता था। प्रजा के दोनो अर्थ हैं, संतति और रिआया। पुराने राजा सन्तति में और प्रजा में भेद भी नही समझते थे क्योंकि संतति ही, किसी काल में, प्रजा थी।

३ दुर्वासा का ठट्टा और अपमान करने से द्वारिका में यदुवंशियों को भी यों ही व्यामोह हुआ था और मद्य पीकर वे भी यों ही कट मरे थे। राजकुमारो का उद्दंड होना सदा प्रसिद्ध है, जैसे—
यत्किञ्चित्कारितया नृणां भवेद्राजपुत्रत्वम्', और 'कर्कट सधर्माणो हि जनकभक्षा राजपुत्रा' (कौटिल्य)

४ काण्व शाखा के शतपथ ब्राह्मण में यह कथा कुछ और तरह है—तब शर्यात ने सोचा—'कुछ न कुछ मैंने किया है जिससे ऐसी बडी भारी आपत्ति आई।' तब उसे यह सूझा—'अवश्य ही बूढा आंगिरस या भार्गव च्यवन यहाँ छूट गया था उसे मैंने किसी-न किसी तरह प्रतिकूल कर दिया होगा। इससे ही इतनी बडी आपत्ति हुई।" उसने अपने ग्राम को बलवा जुटाया। सब को जुटा कर उसने पूछा—"गोपालों या गडेरियो मे किसी ने यहाँ कुछ देखा है?" उन्होने कहा—"वह वहाँ एक बुड्ढा प्रेत-सा आदमी पड़ा है, उसे लडकों ने ढेलों से मारा है। यही देखा है।'

५ पौराणिक कथा में तपस्या में बैठे हुए च्यवन की आँखों में चपलता और बालसुलभ कौतूहल से स्वयं सुकन्या ने काँटा चुभाकर रुधिर निकाला है और फिर जब इस कारण पिता के कटक पर आपत्ति आई तो अपने पाप के अपराध स्वरूप उसने स्वयं उस वृद्ध की 'अंधे की लाठी' बनना स्वीकार किया है। वैदिक कथा में कन्या का स्वार्थ-त्याग और भी अद्भुत है। जाति उद्दंड कुमारो ने अपराध किया है। सारे राष्ट्र पर विपत्ति पडी है। उसे मिटाने के लिये पिता अपनी निरपराधिनी कन्या को, इजराईल के जज जेफ्था की तरह बलि देता है। वह भी पिता की आज्ञा के अनुसार, अपने पिता और भाइयों के कल्याण के लिये, उसी बूढे प्रेत जैसे पति की अनन्य सेविका हो जाती है।

तभी उसकी प्रजा ठीक हो गई और शर्यात मानव वहाँ से डेरा उठाकर (शब्दार्थ—जुड़ा जोड़ कर) फिर चल पड़ा कि दूसरी बार अपराध न हो जाय।

अश्विनी दोनो जगत् मे चिकित्सा करते हुए फिरते थे। वे सुकन्या के पास आए और उससे जोड़ा करना चाहा। उसने यह नही माना। उन दोनों ने कहा —"सुकन्ये किस लिये इस बूढ़े खूसट प्रेत के साथ सोती है ? हमारे पास चली आ।" वह बोली—"जिसे मुझे बाप ने दिया है उसके जीते जी मैं उसे नहीं छोड़ूँगी।" ऋषि यह जान गया। वह बोला—"सुकन्ये, तुझे इन्होंने क्या कहा ?" उसने उससे सब बखान कर दिया। सुनकर उसने कहा—"यदि तुझे ऐसा ही फिर कहें तो कहना कि तुम अपने आप भी तो ऐसे समृद्धिवाले और भरे पूरे नही हो कि मेरे पति की निंदा करते हो। यदि वे तुझे पूछें कि हम क्योंकर नही समृद्ध और नही भरे पूरे हैं तो कहना कि मेरे पति को फिर जवान कर दो तब तुम्हें कहूँगी।" वे फिर उसके पास आए और उसे वैसे ही कहा। वह बोली—"तुम दोनों भी तो बहुत समृद्ध और बहुत भरे पूरे नही हो कि मेरे पति को हँसते हो।" उन्होंने कहा—"हम काहे से नही भरे पूरे हैं, काहे से असमृद्ध हैं ?" उसने उत्तर दिया—"मेरे पति को फिर युवा कर दो तब कहूँगी।" वे बोले—"इस दह मे[1] उसे न्हिला दे, वह जिस अवस्था को चाहेगा उसी का होकर निकलेगा।" उसने उस दह मे न्हिलाया और (च्यवन ने) जिस वय की इच्छा की उसी के साथ वह निकला। वे बोले—"सुकन्ये, हम काहे से नही भरे पूरे हैं, काहे से नही समृद्ध हैं ?" उनको ऋषि ने ही उत्तर दिया—"देवता कुरुक्षेत्र मे यज्ञ कर रहे हैं। उसमे से तुम दोनो को अलग कर रक्खा है, इसलिये नही भरे पूरे हो, नही समृद्ध हो।" वहाँ से दोनो अश्विन् चल दिए और बहिष्पवमान नामक सूक्त से स्तुति हो चुकने के समय यज्ञ मे देवो के पास आ पहुँचे। उन्होंने कहा—"हमको बुलाओ।" देवताओ ने कहा—"तुमको नहीं बुलाएँगे, तुम चिकित्सा करते हुए बहुत दिन मनुष्यो मे मिल-जुलकर विचरे हो।"[2] वे बोले—"बिना सिर के यज्ञ से यज्ञ कर रहे हो।" देवताओं ने पूछा—"क्योंकर बिना सिर के से ?" वे बोले—"हमे यज्ञ मे बुलाओ तब कहेंगे।"[3] "ठीक है" यों कह कर देवताओ ने उन्हे बुलाया। उनके लिये इस आश्विन् सोमरस के कटोरे को लिया। वे दोनो यज्ञ के अध्वर्यु बने और यज्ञ का सिर

१ काण्व शाखा मे दह का उल्लेख नही है।

२ मनुष्यो के सपर्क से ब्राह्मणों मे चिकित्सकों की तरह देवताओं मे अश्विन् भी कुछ हीन माने जाते थे, बहुत काल तक उन्हें यज्ञ में भाग नही था।

३ यहां अश्विन् वही चाल चले हैं जिससे सुकन्या और च्यवन ने उनसे अपना मनोरथ पाया था।

विचर रहा था। उसने उसी के, च्यवन के, पडोस मे आकर डेरा दिया। लडको ने[1] खेलते-खेलते च्यवन को बूढा पलीत का-सा और निकम्मा समझकर पत्थरो से खूब दला। वह (च्यवन) शार्यातवालो[2] पर क्रुद्ध हुआ जिससे उनको व्यामोह हो गया और बाप बेटे से लडने लगा और भाई भाई से।[3] शर्यात ने सोचा कि—'मैंने कुछ न कुछ किया है जिससे कि यह आन पडा।' इसलिये उसने ग्वालों और गडेरियो को बुला कर कहा—"तुम मे से किसी ने आज यहाँ कुछ देखा था?" उन्होंने उत्तर दिया—"यहाँ पर एक बूढा मनुष्य ही प्रेत-सा सोया रहता है। उसे निकम्मा समझ कर कुमारो ने पत्थरो से दला है।" राजा समझ गया कि यही च्यवन है।[4] वह हाथ जोड कर और उसमे अपनी पुत्री सुकन्या शार्याती को रख कर चला और वहाँ पहुँचा जहाँ ऋषि था, और बोला—"ऋषे, नमस्ते। मैं नही जानता था कि इससे मैंने अपराध किया (शब्दार्थ—हिंसा की)। यह सुकन्या (शब्दार्थ—अच्छी लडकी) है इससे मैं तुमसे प्रायश्चित करता हूँ (शब्दार्थ—अपराध छिपाता हूँ), मेरा ग्राम फिर जुड जाय, समझ जाय।[5]"

१ शर्यात् के पुत्र अथवा कौम के कम-उम्र जवान।

२. शर्यात के परिवार पर, या सारी प्रजा पर। सब से पुराने समाजो मे कुल का बडेरा ही जाति का राजा होता था। प्रजा के दोनो अर्थ हैं, सतति और रिआया। पुराने राजा सतति में और प्रजा में भेद भी नहीं समझते थे क्योंकि सतति ही, किसी काल में, प्रजा थी।

३ दुर्वासा का ठट्ठा और अपमान करने से द्वारिका में यदुवंशियों को भी यों ही व्यामोह हुआ था और मद्य पीकर वे भी यों ही कट मरे थे। राजकुमारों का उद्दण्ड होना सदा प्रसिद्ध है, जैसे—
'यत्किञ्चित्कारितया नृणां भवेद्राजपुत्रत्वम्', और 'कर्कट सधर्माणो हि जनकभक्षा राजपुत्रा' (कौटिल्य)

४ काण्व शाखा के शतपथ ब्राह्मण में यह कथा कुछ और तरह है—तब शर्यात ने सोचा—'कुछ न कुछ मैंने किया है जिससे ऐसी बडी भारी आपत्ति आई।' तब उसे यह सूझा—"अवश्य ही बूढा आंगिरस या भार्गव च्यवन यहाँ छूट गया था उसे मैंने किसी-न किसी तरह प्रतिकूल कर दिया होगा। इससे ही इतनी बडी आपत्ति हुई।" उसने अपने ग्राम को बलवा जुटाया। सब को जुटा कर उसने पूछा—"गोपालों या गडेरियों ने किसी ने यहाँ कुछ देखा है?" उन्होंने कहा—"वह वहाँ एक बुड्ढा प्रेत-सा आदमी पडा है, उसे लडकों ने ढेलो से मारा है। यही देखा है।"

५ पौराणिक कथा मे तपस्या बैठे हुए च्यवन की आँखो मे चपलता और बालसुलभ कौतूहल से स्वय सुकन्या ने काँटा चुभाकर रुधिर निकाला है और फिर जब इस कारण पिता के कटक पर आपत्ति आई तो अपने पाप के अपराध स्वरूप उसने स्वय उस वृद्ध की 'अंधे की लाठी' बनना स्वीकार किया है। वैदिक कथा में कन्या का स्वार्थ-त्याग और भी अद्भुत है। जाति के उद्दण्ड कुमारो ने अपराध किया है। सारे राष्ट्र पर विपत्ति पडी है। उसे मिटाने के लिये पिता अपनी निरपराधिनी कन्या को, इजराईल के जज जेफ्था की तरह, बलि देता है। वह भी पिता की आज्ञा के अनुसार, अपने पिता और भाइयो के कल्याण के लिये, उसी बूढे प्रेत जैसे पति की अनन्य सेविका हो जाती है।

तभी उसकी प्रजा ठीक हो गई और शर्यात मानव वहाँ से डेरा उठाकर (शब्दार्थ—जुडा जोड कर) फिर चल पडा कि दूसरी बार अपराध न हो जाय।

अश्विनी दोनो जगत् मे चिकित्सा करते हुए फिरते थे। वे सुकन्या के पास आए और उससे जोडा करना चाहा। उसने यह नहीं माना। उन दोनो ने कहा —"सुकन्ये किस लिये इस बूढे खूसट प्रेत के साथ सोती है? हमारे पास चली आ।" वह बोली—"जिसे मुझ बाप ने दिया है उसके जीते जी मैं उसे नहीं छोडूँगी।" ऋषि यह जान गया। वह बोला—"सुकन्ये, तुझे इन्होने क्या कहा?" उसने उससे सब बखान कर दिया। सुनकर उसने कहा—"यदि तुझे ऐसा ही फिर कहें तो कहना कि तुम अपने आप भी तो ऐसे समृद्धिवाले और भरे पूरे नही हो कि मेरे पति की निंदा करते हो। यदि वे तुझे पूछें कि हम क्यो-कर नही समृद्ध और नहीं भरे पूरे हैं तो कहना कि मेरे पति को फिर जवान कर दो तब तुम्हें कहूँगी।" वे फिर उसके पास आए और उसे वैसे ही कहा। वह बोली—"तुम दोनो भी तो बहुत समृद्ध और बहुत भरे पूरे नही हो कि मेरे पति को हँसते हो।" उन्होंने कहा—"हम काहे से नहीं भरे पूरे हैं, काहे से असमृद्ध हैं?" उसने उत्तर दिया—"मेरे पति को फिर युवा कर दो तब कहूँगी।" वे बोले—"इस दह में[1] उसे न्हिला दे, वह जिस अवस्था को चाहेगा उसी का होकर निकलेगा।" उसने उस दह मे न्हिलाया और (च्यवन ने) जिस वय की इच्छा की उसी के साथ वह निकला। वे बोले—"सुकन्ये, हम काहे से नही भरे पूरे हैं, काहे से नही समृद्ध हैं?" उनको ऋषि ने ही उत्तर दिया—"देवता कुरुक्षेत्र म यज्ञ कर रहे हैं। उसमे से तुम दोनो को अलग कर रक्खा है, इस-लिये नही भरे पूरे हो, नही समृद्ध हो।" वहाँ से दोना अश्विन् चल दिए और बहिष्पवमान नामक सूक्त से स्तुति हो चुकने के समय यज्ञ मे देवो के पास आ पहुँचे। उन्होंने कहा—"हमको बुलाओ।" देवताओ ने कहा—"तुमको नही बुलाएँगे, तुम चिकित्सा करते हुए बहुत दिन मनुष्यो मे मिल-जुलकर विचरे हो।"[2] वे बोले—"बिना सिर के यज्ञ से यज्ञ कर रहे हो।" देवताओ ने पूछा—"क्योंकर बिना सिर के से?" वे बोले—"हम यज्ञ मे बुलाओ तब कहेंगे।"[3] "ठीक है" यों कह कर देवताओ ने उन्हें बुलाया। उनके लिये इस आश्विन् सोमरस के कटोरे को लिया। वे दोनों यज्ञ के अध्वर्यु बने और यज्ञ का सिर

१ काण्व शाखा मे दह का उल्लेख नही है।

२ मनुष्यों के सपर्क मे ब्राह्मणो मे चिकित्सको की तरह देवताओं म अश्विन् भी कुछ हीन माने जाते थ बहुत काल तक उन्हें यज्ञ में भाग नही था।

३ यहा अश्विन् वही चाल चले हैं जिससे सुकन्या और च्यवन ने उनसे अपना मनोरथ पाया था।

फिर उन्होंने लगा दिया। यह बात दिवाकीर्त्यों के ब्राह्मण[1] मे लिखी है कि उन्होने कैसे यज्ञ का सिर फिर लगाया। इसी से यह कटोरा बहिष्पवमान स्तोत्र हो चुकने पर लिया जाता है क्योंकि वे (अश्विन्) वहिष्पवमान के स्तुत हो जाने पर आए थे।

जैमिनीय तलवकार ब्राह्मण मे इसी कथा का एक कुछ नवीन रूप है। उसमे कथा का पिछला भाग यो है—

अश्विन् दोनो ने ऋषि से कहा—"महाराज, हमे सोम का भागी बनाइए।" "अच्छी बात है, तुम मुझे फिर युवा कर दो।" वे उसे सरस्वती के शैशव (निकलने के स्थान) के पास ले गए। ऋषि (सुकन्या से) बोला—"बाले, हम सब एकसार दिखाई देते हुए निकलेंगे, तू तब मुझे इस चिह्न से पहचान लेना।" वे सब ठीक एकाकार दीखते हुए स्वरूप मे अति सुदर होकर निकले। उस (सुकन्या) ने उसे (च्यवन को) पहचान कर कहा—"यही मेरा पति है।" उन्होंने ऋषि से कहा—"ऋषे, हमने तुम्हारा वह काम पूरा कर दिया है जो तुम्हारा काम था, तुम फिर युवा हो गए हो, अब हमको इस तरह सिखाओ कि हम सोम के भागी हो जायें।" तब च्यवन भार्गव युवा होकर शर्यात मानव के पास गया और उसने पूर्व वेदि पर उसका यज्ञ कराया। राजा ने उसे सहस्र (गौएँ) दी, उनसे उसने यज्ञ किया। यो च्यवन भार्गव, इस च्यवन साम में प्रशंसित होकर फिर युवा हो गया। उसने बाला स्त्री पाई और सहस्रदक्षिण यज्ञ किया।

पौराणिक कथा से इस पुरानी कथा की तुलना पाठक कर लें।

[प्रथम प्रकाशन मर्यादा : जनवरी-फरवरी, १९११-१२ ई०]

१ दिवाकीर्त्य या दिवाकीर्त—शतपथ १४ १ १ ८ से तात्पर्य है। गवामयन नामक सवत्सर सत्र मे विषुवत् का दिन (अथवा एकविंश) भी आता है। उसके पहले और पीछे दस दस दिन जो याग होते है उनके प्रयोग मे आने वाले मन्त्र, और वह इक्कीसवाँ दिन भी दिवाकीर्त्य कहलाते हैं। ऋग्वेद १० । १७० । १-३ के सामगान का भी नाम दिवाकीर्त्य है। महादिवाकीर्त्य के ग्यारह मन्त्रो का उल्लेख शांखायन श्रौतसूत्र में है। साम-संहिता उत्तरार्चिक ८।३ का नाम बोधायन धर्मसूत्र में महादिवाकीर्त्य लिखा है।

मनु वैवस्वत

मात्स्यन्यायाभिभूता प्रजा वैवस्वतं मनं राजानं चक्रिरे।

[कौटिल्य (चाणक्य) अर्थशास्त्र]

विवस्वत् का पुत्र मनु सबसे प्रथम मनुष्य था। उसकी स्त्री का नाम मनु, मनायी अथवा मनावी मिलता है। उसी के पीछे मनुष्य और मानव कहलाते हैं। परतु मनु वैवस्वत पहला राजा भी हुआ है, मनुष्य उसके पहले भी थे। उसकी चुनावट और राज्य प्राप्ति का वर्णन महाभारत शांतिपर्व के ६६वें अध्याय में है।

अराजकता के दोष

भीष्म युधिष्ठिर को समझा रहे हैं कि राष्ट्र का सबसे बडा काम राजा का अभिषेक करना है, जिस राष्ट्र में इन्द्र नहीं होता उसे दस्यु हरा डालते हैं, वहाँ धर्म नहीं ठहर सकता, प्रजाएँ आपस मे एक दूसरे को खाती हैं, अराजकता को धिक्कार है। श्रुति कहती है कि—"जब राजा का प्रणाम करता है (या एक पठातर के अनुसार चुनता है) तब इन्द्र को ही प्रणाम करता (या चुनता) है" और "अराजक राष्ट्र मे बसना नहीं चाहिए," वहाँ अग्नि देवताओ तक हव्य ही नहीं पहुँचाता। जिन राष्ट्रो मे राजा न हो, या जिनके वीर मर चुके हैं उनमे यदि कोई बलवान् राज्यार्थी आए तो उनके लिये सुमन्त्रित यही है कि सामने उठ कर उसकी पूजा करें क्योंकि अराजक राज्य से कोई बात पापतर नहीं है। जो गौ दु:ख से दूध देती है उसे सताते हैं, जो सुख से दुहा जाती है उसे कोई नहीं छेडता।

यदतप्त प्रणमते म तत्सतापयन्त्युत।
यत्स्वय नमते दारु न तत् सनामयन्त्यपि॥

जो लकडी बिना तपाए नव जाती है उसे तपाते नही और जो आप नव जाती है उसे नवाते भी नही। इसी उपमा के अनुसार धीर बलवान् को नव जाय। जो बलवान् को प्रणाम करता है वह इन्द्र को प्रणाम करता है। भूति चाहनेवाले राजा बनाएँ ही, जो अराजक हैं उनके न धन सुरक्षित हैं, न स्त्रियाँ। पापी मनुष्य अराजकता मे औरो का धन चुराता हुआ प्रसन्न होता है, परतु जब उसका दूसरे हरते हैं तो राजा को चाहता है। और यह भी न समझना कि अराजकता मे पापी सुख पाते हैं। जी नही, एक का धन दो मिल कर हर लेते हैं और दो का बहुत से और अदास दास बनाए जाते है, बलात्कार से स्त्रियाँ हरी जाती हैं!

राजा न चेद् भवेल्लोके पृथिव्या दण्डधारकः।
जले मत्स्यानिवाभक्ष्यन् दुर्बलं बलवत्तराः॥

यदि पृथ्वी मे दडधारक राजा न होता तो पानी की मछलियो की तरह दुर्बल को अधिक बलवान् खा जाते।

पुराकाल मे प्रजाएँ अराजक होने से पानी मे मत्स्यो की तरह (अपने से) दुर्बलो को खाती हुई नष्ट हो चली थी ऐसा हमने सुना है। इस सोशियलिस्टो के आदर्श समाज ने आपस मे मिलकर प्रतिज्ञाएँ की, ऐसा भीष्म ने सुना था। "जो हम लोगो मे जबान मे तेज हो, दड मे क्रूर हो, या परदारा गमन करने-वाला हो, या जो हमारी प्रतिज्ञाओ को तोडे वैसो को हम छोड देंगे।" आपस मे विश्वास के लिये, सब वर्णों मे एक भाव से प्रतिज्ञा करके वे रहते थे। तथापि कुछ काल मे असुखी होकर वे पितामह (ब्रह्मा) के पास गए और उनसे कहा कि—"बिना ईश्वर के हम नष्ट हुए जाते हैं, भगवन् ईश्वर दिखा जिसे हम मिल कर पूजा करें और जो बदले मे हमे पाले।" पितामह ने उन्हे 'मनु' को दिखाया। मनु ने उनका कहना स्वीकार नही किया।

मनु ने कहा कि—"इस पापकर्म से मैं डरता हूँ, राज्य बहुत ही कठिन है, विशेष कर सदा के मिथ्यावृत्त मनुष्यो मे।" प्रजाओ ने कहा कि—"डरो मत, तुम्हारे लिए हम धन का हिस्सा देंगे। पशुओ मे से पाँचवाँ हिस्सा, जो कुछ खान मे से निकलेगा उसका पाँचवाँ हिस्सा, धान का दसवाँ हिस्सा देंगे जो तुम्हारे कोष को बढाएगा। सुरूप विवाह योग्य कन्याओ मे से सर्वोत्तम कन्या देंगे। प्रधान प्रधान मनुष्य अच्छे शस्त्र और वाहन लेकर तुम्हारे पीछे चलेंगे। इस तरह से बलवान् होकर प्रतापी और दुर्धर्ष तुम हम सबको सुख मे रखोगे। और जो तुम्हारी रखवाली मे प्रजा धर्म करेगी, हमारी तरफ से उसका चतुर्थ भाग तुम्हारे मे स्थित होगा। राजन्, उस बडे धर्म से, जो तुम्हे सुख से बिना परिश्रम मिलेगा, भावित होकर हम सब तरह से रक्षा करो जैसे देवताओ को इद्र।

विजयाय हि निर्याहि प्रतपन् रश्मिवानिव ।
मानं विधम शत्रूणां धर्मं जनय नः सदा ॥

सूर्य की तरह तपते हुए विजय के लिए निकलो, शत्रुओं का मान धमका कर निकालो, हमारे धर्म को सदा उत्पन्न करो।"

ऐसा कहने पर वह बड़े बल से घिरा हुआ, तेज से चमकता हुआ चला। उसके महत्त्व को देखकर सब वर्णों के, आश्रमों के लोग म्लेच्छ और दस्यु तक डर गए और सब ने अपने धर्म मे मन लगाया। तब बरसते हुए मेघ की तरह पापात्माओं को सब ओर शांत करता हुआ और स्वकर्म मे लगाता हुआ वह सारी पृथ्वी पर घूमा।

यह उपाख्यान कह कर भीष्म बाबा कहते हैं कि यों ही पृथ्वी में जो मनुष्य भूति चाहते हैं वे प्रजा के अनुग्रह के लिये पहले राजा करें। जैसे शिष्य गुरु को, और जैसे देवता इंद्र को प्रणाम करते हैं वैसे राजा को भक्ति से प्रणाम करें। जिसका स्वजन सत्कार करते हैं उसे पराए भी बहुत मानते हैं, और जिसे घर के ही अवज्ञा करते हैं उसका दूसरे भी तिरस्कार करते हैं। इसीलिये राजा को छत्र, वाहन, वस्त्र, गहने, खाना, पीना, घर, आसन, शय्या, और सब उपकरण दे क्योंकि दूसरों से उसका अपमान होना सब को दुःख देनेवाला होता है। और राजा, राष्ट्र का गोप, दुःख से जीतने योग्य, मुसकाकर बोलनेवाला हो और बात करने पर मनुष्यों को मीठा उत्तर दे, कृतज्ञ हो, दृढ़-भक्ति हो, बराबर भाग बाँटनेवाला हो, जितेंद्रिय हो और सब प्रजा उसकी ओर देखे तो वह मृदु भाव से और सीधा देखे।

कृतज्ञो दृढभक्तिः स्यात्संविभागी जितेन्द्रियः ।
ईक्षितः प्रतिवीक्षेत मृदु वल्गु च ऋजु च ॥

इससे अगले अध्याय मे बृहस्पति का और राजा वसुमनस् का संवाद दिया है जिसमें राजा-प्रजा का संबंध यों कहा गया है—

राजा प्रजानां प्रथमं शरीरं
प्रजाश्च राज्ञोऽप्रतिमं शरीरम् ।
राज्ञा विहीना न भवन्ति देशा
देशैर्विहीना न नृपा भवन्ति ॥

[प्रथम प्रकाशन - मर्यादा जनवरी-फरवरी, १९११-१२ ई०]

पुराने राजाओं की गाथाएँ

यो तो ऋग्वेद मे बहुत से राजाओ की 'दानस्तुति' हैं, परन्तु यहाँ पर उन्ही राजाओं का उल्लेख किया जाता है जिनके विषय की गाथाएँ ऐतरेय ब्राह्मण मे ऐंद्र महाभिषेक के प्रसग मे और शतपथ ब्राह्मण मे अश्वमेध के प्रसग मे दी हैं। संभव है कि अध्वर्यु के इस कहने पर कि—"इस यजमान के पुराने साधुकर्ता राजाओं के साथ गाओ" वीणा वालो के झुड इन्ही को गाते हो। क्या ही अच्छा होता यदि पारिप्लव उपाख्यान के प्रतीक मात्र न रहकर पूरी कथाएँ रहती और उन ब्राह्मण और राजन्य वीणा-गाथियो की 'अपने आप भरी हुई' गाथाओ के कुछ नमूने भी बचते। गाथाएँ बहुत पुरानी हैं। ब्राह्मण-काल के पहले से ही 'अभियज्ञ गाथाएँ' चली आती हैं। ये पुराणो की बीज हैं और ऋग्वेद के मत्र और जदावस्था की गाथाओ से उस तरफ और बौद्ध-गाथाओ से इस तरफ बहुत सबध रखती है।

जनमेजय, परीक्षित का पुत्र

तुर कावषेय ने उसका ऐंद्र महाभिषेक किया और इद्रोत दैवाप शौनक ने उसे अश्वमेध कराया। गाथा—

आसदीवाले देश में, धान खानेवाला, सोने के चाँद और कठे पहननेवाला।
चितकबरा घोड़ा बाँधा देवताओं के लिये जनमेजय ने॥

भीमसेन, उग्रसेन श्रुतसेन, परीक्षित के पोते

इनने क्रमश ज्योति-अतिरात्र, गौ अतिरात्र और आयु-अतिरात्र यज्ञ किए। गाथा—

परीक्षित के पोते, यजमान अश्वमेधो से, एक के पीछे एक।
पुण्यात्माओं ने छोड़ा पाप कर्म को पुण्य कर्म करके॥

भरत दौष्यंति

ममता के पुत्र दीर्घतमा ऋषि ने इसका ऐंद्र महाभिषेक किया और इसने विष्णुक्रात अश्वमेध किया। तब इसने यह व्याप्त राज्य पाया जो भरतों का है। गाथाएँ—

सोने से ढके हुए काले श्वेत दांतों वाले मृगों (हाथियों) के। एक सौ सात बद्व (टोले) भरत ने मष्णार (देश) में दिए॥

दुष्यंत के पुत्र भरत ने यह अग्नि साचिगुण देश में (वेदि पर) चिना। जहाँ सहस्रों ब्राह्मणों ने टोले-टोले गौएँ बाँटीं (आपस में)॥

अठत्तर भरत दुष्यंत के पुत्र ने यमुना तट पर। और गंगा पर पचपन घोड़े वृत्र के मारनेवाले (इंद्र) के लिए बाँधे॥

राजा एक सौ तैंतीस यज्ञीय घोड़ों को बाँधकर। दुष्यंत का पुत्र (सुद्युम्न का वंशधर) और मायावी राजाओं को अपनी अधिक माया से जीता॥

अप्सरा शकुंतला ने नाडपित् (कण्व के आश्रम ?) में भरत को (गर्भ में) धारण किया॥

जिसने सारी पृथ्वी को जीतकर इंद्र के लिये यज्ञ के योग्य हजार से ऊपर घोड़े लाए॥

बड़ा कर्म भरत का न तो पहले न पिछले जने। मर्त्य, जैसे आकाश को हाथों से, न पा सके और न पाँचों मनुष्य॥

पाँचों मनुष्यों से अभिप्राय ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषादों से है।

मरुत्त आविक्षित

संवर्त आंगिरस ने इसका ऐंद्र महाभिषेक किया और इसने महाव्रत अतिरात्र अश्वमेध यज्ञ किया। यह जाति का आयोगव था। गाथा—

मरुत परोसने वाले मरुत्त के घर में रहे। अविक्षित के पुत्र, काम पूरक के यहाँ, अग्नि द्वाररक्षक और विश्वेदेव सभासद॥

शतानीक सात्राजित

सोमशुष्मा वाजरत्नायन ने इसका ऐंद्र महाभिषेक किया। इसने काश्य (काशी के) राजा के घोड़े को हर के गोविनत नाम अश्वमेध किया। तब से काशि लोग अग्नि ही नहीं रखते कि 'हमारा सोमपान हरा गया'। गाथाएँ—

शतानीक सत्राजित के पुत्र ने पड़ोस में काशियों के यज्ञरूपी।
पवित्र घोड़े को हर लिया जैसे भरत ने सत्वतों के (घोड़े को)॥

राज्य के पड़ोस में दशम मास में स्वच्छंद चरते हुए धृतराष्ट्र के यज्ञीय।
श्वेत घोड़े को लेकर शतानीक ने गोविनत से यज्ञ किया॥

आज तक भरतवंशियों की बड़ाई को न पहले के और न पीछे के जने पा सके।
न सातों (जाति के) मनुष्य, जैसे मर्त्य आकाश को बाहों से॥

शार्यात मानव

च्यवन भार्गव ने इसका ऐंद्र महाभिषेक किया था। यह देवताओं के सत्र में भी गृहपति बनाया गया था। विशेष मेरी लिखी 'सुकन्या की वैदिक कहानी'[1] में देखिए।

आंबाष्ठ्य

इसका ऐंद्र महाभिषेक पर्वत और नारद ऋषियों ने किया था। (क्या यह अंबष्ठ जाति का था?)

युधांश्रौष्ठि, उग्रसेन का पुत्र

इसका ऐंद्र महाभिषेक पर्वत और नारद ने किया था।

विश्वकर्मा भौवन

कश्यप ने इसका ऐंद्र महाभिषेक किया। भूमि ने यह गाथा गाई थी—

न मुझे कोई मनुष्य दे सकता है (सारी को) भुवन के पुत्र विश्वकर्मन्, तैने मुझे दे डाला! मैं समुद्र के जल में डूब जाऊँगी, कश्यप को की हुई तेरी प्रतिज्ञा (सारी पृथ्वी देने की) व्यर्थ है॥

सुदास पैजवन

इसका ऐंद्र महाभिषेक वसिष्ठ ने किया था। ऋग्वेद में इसकी दानस्तुतियों का वर्णन है।

अंग

इसका दूसरा नाम अलोपाग था, क्योंकि सारे शरीर के अंग इसके सुंदर और नीरोग थे। इसका ऐंद्र महाभिषेक उदमय आत्रेय ने किया। राजा ने यह गाथा कही थी—

1. देखें इस ग्रंथ का पृष्ठ ४६,—सम्पादक

दस हजार हाथी और दस हजार दासियाँ।
तुझे मैं देता हूँ हे ब्राह्मण! मुझे इस यज्ञ में बुला॥

क्योकि प्रियमेधस् (ऋषि) लोग उस समय उदमय आत्रेय को यज्ञ करा रहे थे। उसकी ये गाथाएँ हैं—

जिन गौओं से प्रियमेधस् के पुत्रों ने उदमय को यज्ञ कराया।
अत्रि के पुत्र उसने (प्रति गौ के लिये) दो दो हजार टोले बीच मे रखे॥
अट्ठासी हजार श्वेत घोड़े विरोचन के पुत्र ने।
यज्ञ करते हुए अपने पुरोहित को (उदमय को) अच्छे रथ खींचनेवाले खोलकर दिए॥
देश देश से लाई हुई सब धनाढ्य कन्याएँ।
दस हजार दीं आत्रेय ने सोने के कंठे (निष्क) पहनने वालीं॥
अत्रि का पुत्र अवचत्नुक देश में दस हजार हाथी देकर।
ब्राह्मण थक गया और अपने पड़ोसियों को अंग का दान लेने के लिये बोला॥
"तुझे सौ" "तुझे सौ" यों कहते कहते थक गया।
"तुझे हजार" "तुझे हजार" यों कह कहकर साँस लेने लगा॥

दुर्मुख पांचाल

बृहदुक्थ ऋषि ने इसे ऐंद्र महाभिषेक सुनाया, जिससे यह राजा न होकर भी (=जन्म से क्षत्रिय न होकर भी ?) दिग्विजयी हुआ। इसे छोड और ऊपर के सब ने अश्वमेध भी किए थे।

शोण सात्रासाह पांचाल

इसने त्रयस्त्रिंशस्तोम अश्वमेध किया। गाथाएँ—

सत्रासाह का पुत्र जब अश्वमेध कर रहा था।
सब तुर्वश देश के तेतीस घोड़े निकले और छः हजार कवचधारी॥
छः छः करके, छः हजार तुम कोक ,के पिता के।
यज्ञ मे तेतीस (स्तोम ?) निकले और छः हजार कवचधारी॥
पांचाल राजा सात्रासाह जब अच्छी मालाएँ पहन कर यज्ञ कर रहा था।
इंद्र सोम से मस्त हुआ और ब्राह्मण धनों से तृप्त हुए॥

क्रैव्य पांचाल

'क्रिवि' यह पहले पाचालो (देश और जाति) का नाम था। वहाँ के इस राजा ने आप्तोर्याम अतिरात्र अश्वमेध किया।

क्रिवियों में सबके सिरमौर (अतिपुरुष) ने यथार्थ अश्व को पकड़ा।
पांचाल ने परिवक्रा में, सौ हजार (गौएँ) जिसको दक्षिणा थी॥
हजार अयुत (दस हजार या अनगिनत ?) थे और पच्चीस सौ थीं।
(दक्षिणाएँ) जिन्हें दिशा दिशा से आकर पाचालों के ब्राह्मणों ने बाँटा॥

पर आट्णार, कोशल का राजा

अभिजित् अतिरात्र अश्वमेध से यज्ञ करने वाले इस राजा के विषय में यह गाथा है—

अट्णार के पुत्र पर ने यज्ञ के योग्य अश्व को बांधा। सोने की मेखला पहननेवाले कौशल्य ने, और पूरी दिशाएँ दान में दीं॥

पुरुकुत्स, इक्ष्वाकु वंश का

इसने विश्वजित् अतिरात्र नामक अश्वमेध दौर्गह अश्व से किया। इसी को लक्ष्य करके ऋग्वेद के चौथे मंडल ४२ सूत्र में[1] पुरुकुत्स का पुत्र त्रसदस्यु कहता है कि—

ये हमारे पुरखा सात ऋषि यहाँ थे दौर्गह के बाँधे जाने के समय। उनने त्रसदस्यु, इंद्र के समान वृत्रहंता को इस पृथ्वी का अर्धदेव यज्ञ से बनाया॥

ध्वसन् द्वैतवन

इस मत्स्य (देश और जाति) के राजा ने अनुष्टुप्-संपन्न अश्वमेध किया। गाथा—

संग्रामों में जीतनेवाले द्वैतवन राजा ने चौदह घोड़े। वृत्रहा इंद्र के लिये बाँधे इससे द्वैतवन सरोवर (का नाम पड़ा)॥

ऋषभ याज्ञतुर

श्विक्नों के इस राजा ने एक विशस्तोम अश्वमेध किया जैसा कि गाथा में कहा है—

ऋषभ याज्ञतुर राजा के यज्ञ करने पर ब्राह्मण।
अश्वमेध में धन पाकर दक्षिणाएँ बाँटते थे॥

१ ८वें मंत्र में।—संपादक

अत्यराति जानंतपि

वसिष्ठ-गोत्री सत्यहव्य के पुत्र ऋषि ने जनतपि के पुत्र अत्यराति को ऐंद्र महाभिषेक सिखाया जिससे वह राजा न होकर भी अपनी विद्या से सब पृथ्वी को जीतता गया। तब सात्यहव्य वसिष्ठ ने उसे कहा—"तैंने पृथ्वी (समुद्र-) तीर तक जीत ली, अब मुझे बड़प्पन को पहुँचा।' अत्यराति ने उत्तर दिया—' ब्राह्मण, जब मैं उत्तरकुरु (तिब्बत?) जीत लूँ तो तू ही राजा पृथ्वी का बन जाना। मैं तेरा सेनापति ही रहूँगा।" उत्तर मिला—'वह तो देवक्षेत्र है, उसे मर्त्य कभी जीत नहीं सका, तैंने मेरे से द्रोह किया है, तो मैं (तेरा सारा विजय) तुझसे ले लेता हूँ।' यों वीर्य-रहित निस्तेज हो जाने पर जानतपि को अमित्रतपन शुष्मिण शिब्य के पुत्र राजा ने मार डाला।

महाभारत के षोडशराजकीय उपाख्यान (द्रोण पर्व और शांति पर्व) में इन गाथाओं के टुकड़े कई जगह इन तथा और राजाओं के वर्णन में भी आए हैं।

[प्रथम प्रकाशन मर्यादा दिसम्बर जनवरी, १९११-१२ ई०]

राजसूय

यह यज्ञ केवल क्षत्रिय (राजन्य) के करने का है, वह भी ऐसा हो जिसने वाजपेय न किया हो। वाजपेय और राजसूय का सम्बन्ध पहले दिखा चुके हैं।

पहले सहस्रदक्षिण, चार दीक्षावाला 'पवित्र' नामक सोमयाग करना होता है, जिसकी दीक्षा माघ शुक्ल पूर्णिमा के पीछे के पहले दिन अर्थात् फाल्गुन शुक्ल १ को होती है। नवमी को उसकी पूर्णाहुति होती है।

दशमी के दिन 'अनुमति' (=देवताओं की सम्मति या एकवाक्यता) के लिये आठ कपालों (ठिकरों या मट्टी के तवों) पर पका हुआ पुरोडाश (रोट) चढ़ाया जाता है। जब उसके लिये चावल पीसे जा रहे हों तब 'शम्या' (रथ का जूआ) के पीछे पीसने की शिला के नीचे बिछाए हुए कृष्णाजिन पर जो कुछ टपके उसे स्रुव (होम के चमचे) में ले लिया जाय। दक्षिणाग्नि से एक आग का पलीता लेकर दक्षिण की ओर चले और जहां स्वयं फटी भूमि या ऊसर मिले वहीं वह अग्नि रख कर उसमें अध्वर्यु उन टपके हुए चावलों का होम करे—"हे निर्ऋति (=मृत्यु)! यह तेरा भाग है, इसे प्रसन्न होकर ले, स्वाहा।" पीछे लौट आवे, मुड़ कर न देखे। अब अनुमति का यज्ञ मामूली इष्टि की तरह होता है, उसकी दक्षिणा वस्त्र है। मैत्रायणी संहिता में निर्ऋति के यज्ञ की दक्षिणा कोने पर फटा हुआ काला कपड़ा और अनुमति की दूध देनेवाली गौ लिखी है।

एकादशी को अग्नि और विष्णु के लिये याग होता है, दक्षिणा स्वर्ण, द्वादशी को अग्नि और सोम के लिये, दक्षिणा छोड़ा हुआ बैल, त्रयोदशी को इंद्र और अग्नि के लिये, दक्षिणा रथ खेंचने वाला सांड, चतुर्दशी को नए धान का यज्ञ, दक्षिणा गौ।

फाल्गुन की पूर्णिमा को 'चातुर्मास्य' याग शुरू होते हैं। उस दिन 'वैश्वदेव', आषाढ की पूर्णिमा को 'वरुणप्रघास', कार्तिकी पूर्णिमा को 'साकमेधीय' होता है। चार-चार महीने के नियम से दूसरी फाल्गुन शुक्ल पूर्णिमा को 'शुनासीरीय'

होना चाहिए, परन्तु यहाँ फाल्गुन शुक्ल १ को ही कर दिया जाता है।

उसी दिन—**पचवातीय** नामक याग होता है। आह्वनीय अग्नि को बखेर कर उसके पाँच ढेर लगाए जाते हैं। जिस जिस दिशा मे यह ढेर हो उस उस के मत्र से उसमे होम होता है—

> अग्नि जिनका नेता है उन पूर्व मे बैठे देवताओ के लिये स्वाहा।
> यम जिनका नेता है उन दक्षिण मे बैठे देवताओ के लिये स्वाहा।
> विश्वदेव जिनके नेता हैं उन पश्चिम मे बैठे देवताओ के लिये स्वाहा।
> मित्रावरुण या मरुत् जिनके नेता हैं उन उत्तर मे बैठे देवताओ के लिये स्वाहा।
> सोम जिनका नेता है उन पूजनीय ऊपर बैठे हुए देवताओ के लिये स्वाहा।

फिर अग्नि समेट दी जाती है और उसमे पाँच होम किए जाते हैं जिनके मत्रो का अर्थ वही है, पर शब्दक्रम भिन्न है, जैसे "जो देव अग्निनेत्र पूर्व बैठे हैं उनके लिये स्वाहा" इत्यादि। इसकी दक्षिणा तीन घोडे वाला रथ होता है।

माध्यदिनो के उसी दिन और काण्वो के यहाँ द्वितीया को **इंद्रतुरीय** यज्ञ होता है। उसमे अग्नि के लिये आठ ठिकरोवाला यव का (रोट), वरुण के लिये यव की खीर, रुद्र के लिये गवेधुक की खीर, और चौथे (इसी से यज्ञ का यह नाम पडा) इद्र के लिये बोझा ढोनेवाली गौ का दधि लिया जाता है। यज्ञ मे जहाँ 'खीर' का उल्लेख हो वहाँ 'चरु' अर्थात् लपसी समझनी चाहिए। वही बोझा ढोनेवाली गौ ही इसमे दक्षिणा होती है।

द्वितीया के दिन 'पाप या शत्रु को सोत बुहार कर दूर फेंकने का' यज्ञ—**अपामार्ग होम** होता है। अध्वर्यु पलाश या विककत की लकडी के स्रुव मे अपामार्ग (आंधीझाडा) के चावल ले और अन्वाहार्यपचन (=दक्षिणाग्नि) से यह कह कर पलीता उठावे कि—"अग्ने! विरोध करनेवाली सेनाओ को दबा, बुरा चाहनेवालो को दूर फेंक, हे अजेय! अधर्मी शत्रुओ को जीत और यज्ञ करनेवालो मे तेज धर।" उत्तर या पूर्व चलकर उसी अग्नि मे होम करे कि "देव सविता की प्रेरणा मे अश्विनो की बाँहो, पूषा के हाथो से और उपाशु (सोम का एक प्याला) के वीर्य से होम करता हूँ।" जिधर होम किया है उधर ही "राक्षस मारा गया, तुझे राक्षसो के वध के लिये" कह कर स्रुव को फेंक दे। "राक्षस को मार दिया है" कह कर बिना पीछे देखे लौट आवे।

यहाँ मैत्रायणो और तैत्तिरीयो की अनुमति, राका (=पूर्णिमा) सिनीवाली (=अमावास्या का वह भाग जब चाँद दीखे), कुहू (=अमावास्या का शेप जब चाँद बिल्कुल न हो) के लिये चरु और धाता के लिये बारह ठिकरोवाला होता है।

उसी दिन 'तीन तीन देवता के मिले हुए होम' अर्थात् त्रिषयुक्त होते हैं। पहले में अग्नि-विष्णु के लिये ग्यारह ठिकरों का, इंद्र-विष्णु के लिये चरु और विष्णु के लिये चरु होता है। इसकी दक्षिणा बौना बैल। दूसरे में, अग्नि-पूषा के लिये कपालवाला, इंद्र-पूषा के लिये चरु, और पूषा के लिये चरु होना है, दक्षिणा श्याम-श्वेत बैल। तीसरे में अग्निसोम के लिये ग्यारह कपाल का, इंद्रसोम के लिये चरु और सोम के लिए चरु होता है। इसकी दक्षिणा बभ्रु रंग का बैल।

तृतीया के दिन वैश्वानर के लिये बारह कपाल वाला होता है, जिसकी दक्षिणा बैल है और वरुण के लिये यव की लपसी जिसकी दक्षिणा काला कपड़ा है। उसी दिन से राजसूय का विशेष और चमत्कारी एक काम रत्नहोम आरंभ होता है। राष्ट्र में प्रधान ग्यारह पद (राजा के अंग) होते हैं, जो जो उन पदों पर हैं वे नए राजा से आदर पाने योग्य होते हैं। अतएव एक एक करके उनके घर पर प्रति दिन खास देवता के लिये खास द्रव्य से होम होता है और उसकी दक्षिणा भी खास उसी पद के उपयुक्त है। यजमान भी अध्वर्यु के साथ अपने इन 'रत्नों' के घर जाता है। यों करने से राजा, जिसका अभिषेक होगा, उन रत्नों का 'प्रसूत' हो जाता है और उनको अपने से 'न हटने वाले' बनाता है।

(१) पहले दिन 'सेनापति' के घर में 'अग्नि अनीकवान् (=सेनावाला)' के लिये आठ कपालोंवाला होता है जिसकी दक्षिणा सोना है।

(२) दूसरे दिन 'पुरोहित (=अग्रणी ब्राह्मण) के घर में बृहस्पति (=देवों का पुरोहित)' के लिये चरु, दक्षिणा कृष्णपृष्ठ या श्वेतपृष्ठ बैल।

(३) स्वयं 'यजमान' के घर में इंद्र (क्षत्र का दैव रूप) के लिये ग्यारह कपालों-वाला, दक्षिणा बलिष्ठ बैल।

(४) चौथे दिन 'यजमान की महिषी' (पहले ब्याही हुई बड़ी रानी) के यहाँ अदिति (= पृथ्वी, देवों की पत्नी) के लिये चरु, दक्षिणा दुधार गौ।

(५) पाँचवें दिन 'सूत' (=अश्वपोषक) चारण (पुराने आख्यानों को रखने-वाला) के यहाँ वरुण (वेग प्रेरक) के लिये यव का चरु, दक्षिणा अश्व।

(६) छठे दिन 'ग्रामणी' के (पटेल, वैश्यों का मुखिया महत्तर = मेहता) के यहाँ मरुत् (दैव प्रजा या विश्) के लिये सात कपालोंवाला, दक्षिणा चित्र वर्ण का बैल।

(७) सातवें दिन 'क्षत्ता' (प्रतीहार, दूत, जनाने का प्रबंधकर्ता) के घर पर सविता (प्रेरक) के लिये आठ या बारह कपालोंवाला बनाया जाता है। श्वेत-रक्त भारवाहक बैल इसकी दक्षिणा है।

(८) आठवें दिन 'संग्रहीता सारथि' के यहाँ याग होता है। 'संग्रहीता' का अर्थ कोई कोई आचार्य 'कर वसूल करनेवाला' करते हैं। या तो संग्रहीता घोड़े जोड़ने-वाला है और सारथि हाँकनेवाला—रथ के चलते समय दोनों 'बंधुर' (कोच बक्स)

पर दहने बाएँ खड़े रह जाते होंगे—*अथवा, 'सव्येष्ठि= बाएँ बैठनेवाला'*। यह स्वयं रथस्वामी का नाम है, क्योंकि जिस रथ मे केवल 'बधुर' पर दो की ही बैठक होती होगी वहाँ हाँकने के सुभीते के लिये सारथि दहने बैठता होगा और सरदार बाएँ। सग्रहीता और सव्येष्ठि प्राय एक ही अर्थ मे मिलते हैं। अथवा दो सारथि होते होंगे, एक चलानेवाला और एक बाग खैंचने (उन्हें हाथ मे सग्रह करने) वाला। दोनो रथ मे बैठनेवाले के दहने बाएँ खड़े रहते हैं। उनके घर मे अश्विन् (दो जोड़ले देव) के लिये दो कपालोवाला पुरोडाश बनता है और दक्षिणा भी दो जोड़ले बैल या (वैसे न मिलें तो) एक दूसरे के पीछे जने हुए बैल होती है।

(९) नवें दिन 'भागदुघ' (=खिलाने वाला, प्रजाओ से भाग दुहकर राजा को देनेवाला) के घर पूषन् के लिये चरु होता है, दक्षिणा श्वेतकृष्ण बालोवाला बैल।

(१०) दसवें दिन रत्नहवि रत्न के घर जाकर नही होता। 'अक्षावाप' और 'गोविकर्त' के घरो से गवेधुक अन्न लाकर यजमान के यहाँ पर ही रुद्र के लिये चरु पकाया जाता है। 'अक्षावाप' जुए (द्यूत) का अफसर है जो जुए मे पासे फेंकता है। 'गोविकर्त' का अर्थ किसान भी होता है और कसाई और व्याध भी। पिछले अर्थ ही होंगे नहीं तो राजा ही उसके घर न चला जाता। रुद्र के लिये, इसलिये कि रुद्र उस गौ को चाहता है जो जूए मे 'हारी' जाती है। रुद्र भी अग्नि है और जूआ भी अग्नि है जिसमे पासे अँगारे है। इन दोनो की दक्षिणाएँ श्वेतबाहु या श्वेतपुच्छ बैल, नख की-सी टेढ़ी तलवार और बालो की रस्सी से बँधी पासे फेंकने की डिब्बी या चौपड़ होती हैं। सम्भव है कि ये दोनो हीन कर्म एक ही जाति के भाइयो के होते हो।

(११) ग्यारहवें दिन *'दूत'* (पालागल, प्यादा जो हरकारे की भाँति दौड़ाया जाता है) के घर में चार चमचो मे लिये घी से अध्वा (=रास्ते) के लिये होम होता है और दक्षिणा मे स्नायु या अजगर-चर्म से लिपटा धनु, या मयूरपिच्छ और चमड़े की भाँती बाणो से भरी हुई और लाल पगड़ी मिलती है।

(१२) बारहवें दिन अर्थात् चतुर्दशी को राजा 'परिवित्ति' अर्थात् पति की छोड़ी अपुत्रा स्त्री के घर जाकर निर्ऋति (=अभाग्य, मृत्यु) के लिये काले धानो को नखो से छिलवा उतार कर उनके चरु का कड़छी से होम करता है कि "निर्ऋते, यह तेरा भाग है कृपा करके इसे ले।" दक्षिणा—काली, रोगिणी बुड्ढी गौ। उस स्त्री को कहता है कि (तुम जैसी अभागी) मेरे राज्य मे मत रह। वह किसी ब्राह्मण के घर चली जाती है जहाँ पर कि राजा का अधिकार नही चलता।

ये दक्षिणाएँ उन उन रत्नो को दी जाती हैं, मानो उन्हें नए राजा की ओर से तोहफे और अपने अपने काम मे लगे रहने के लिये खिलत हैं।

उसी दिन सोम और रुद्र के लिये श्वेतावत्सा श्वेता गौ के दूध से चरु बनता है और वही गौ उसकी दक्षिणा है।

पूर्णिमा के दिन मित्र-बृहस्पति के लिये एक चरु होता है। अश्वत्थ की पूर्व या उत्तर को अपने आप टूटी हुई शाखा के पात्र से ढके पात्र मे मोटे चावल बृहस्पति के लिये पकाए जाते हैं और उनकी भाफ से ऊपर के पात्र मे उन्ही मे से बीने हुए बारीक और टूटे चावल मित्र के लिये बनते हैं। रथ के पिछवाडे मशक मे दूध भर के बांधा जाय और रथ चलाया जाय तो रथ की हलचल से स्वय जो घी बन जाता है वह मित्र के चरु मे डाला जाता है।

इसके पीछे पद्रह दिन खाली ही बीतते हैं।

चैत्र शुक्ल प्रतिपदा को 'अभिषेचनीय' अर्थात् अभिषेक-सबधी सोमयाग आरभ होता है जो पाँच दिन रहता है। पहले दिन दीक्षा, तीन उपसद और एक सुत्या जिसमे उक्थ्य की तरह सोम निकाला जाता है। पहले दिन कुछ अग्नि और सोम के पशु-याग का अश करके देवसू अर्थात् तेज उत्पन्न करनेवाले या चेतानेवाले होम होते हैं—

(१) सविता सत्यप्रसव के लिये प्लाशुक अर्थात् काटे जाकर फिर उग आने वाले धानों का द्वादश कपाल या अष्टाकपाल।

(२) अग्नि गृहपति के लिये आशु अर्थात् तीन पक्ष मे पकने वाले धानो का अष्टाकपाल।

(३) सोम वनो के पति के लिये श्यामाक या बिना काँटे के कण (साँका) का चरु।

(४) बृहस्पति वाक् (पति) के लिये नीवार अर्थात् जगली धान का चरु।

(५) इद्र ज्येष्ठ के लिये वर्ष भर मे पकनेवाले लाल चावल, या अति ऊँचे उठकर पानी छोडने वाले (=हायन) धान का चरु।

(६) रुद्र पशुपति के लिये गवेधुक का चरु।

(७) मित्र सत्य के लिये नाब (अपने आप उगनेवाले) धान का चरु।

(८) वरुण धर्मपति के लिये यव का चरु।

अब अध्वर्यु यजमान का दहना हाथ पकडकर कहता है—"सविता तुझे सब उत्पत्तियो (या शासको) पर राज्य के लिये उत्तेजित करे, अग्नि गृहस्थों पर, बृहस्पति वाणी के लिये, इद्र बडप्पन के लिये, रुद्र पशुओ के लिये, मित्र सत्य के लिये, वरुण धर्मपतियो (पर राज्य करने) के लिये।" और भी जोर से कहता है —

हे देवो, इसे उत्तेजित करो इस रीति से कि कोई इसका सपत्न (रकीब) न हो, बडे क्षेत्र के लिये, बडे बडप्पन के लिये, बडे मनुष्यो पर राज्य के लिये, इद्र के इद्रिय (बल) के लिये। इसे (यहाँ राजा का नाम लें) अमुक (यहाँ पिता

का नाम ल) के पिता को, अमुक (यहाँ माता का नाम ले) के पुत्र को, इस (यहाँ *जाति का नाम ले) प्रजा के लिये । हे अमुक जातिवालो ! यह तुम्हारा राजा है।* हम ब्राह्मणो का राजा सोम है।" यहाँ 'हे अमुक जातिवालो' की जगह भी जाति का नाम डालना होता है जैसे हे कुरुओ, हे पाचालो। तैत्तिरीय सहिता मे अमुक की जगह पक्का पाठ ही है कि 'हे भरतो' और मैत्रायणी मे पक्का पाठ है कि 'हे जनसमूह'।

यो करने से अध्वर्यु सारी प्रजा को 'राजा का अन्न' बना देता है, ब्राह्मणो को छोडकर, जो राजा का अन्न नही है।

अभिषेक के लिये जलों का लेना

अभिषेक के लिये सत्रह तरह के जल (द्रव पदार्थ) और एक सूर्य की किरणो का जल (=जल की भाफ) ये अट्ठारह जल लिए जाते हैं। इनमे से जो किसी *विशेष समय पर ही मिल सकते हैं उन्हें अध्वर्यु पहिले से ही लाकर यूप के उत्तर* को रख लेता है, दूसरो को अभी जाकर लाता है। सब जल न्यारे न्यारे उदुबर या पलाश के पात्रो मे लिए जाते हैं।

पहिले सरस्वती नदी का जल यो कहकर लिया जाता है कि "मधु से भरा हुआ, रस से भरा, चेतना वाला, राजा बनाने वाला जल देवताओ ने लिया था जिससे उनने मित्र और वरुण का अभिषेक किया, जिससे उनने इद्र को शत्रुओ से आगे बढा दिया।"

अब अध्वर्यु चार चमचो मे घी लेकर स्वय पानी मे जाता है। उसके जाते ही सामने जो लहर उठती है उसमे यह कह कर होम करे कि—

"बलवान् की लहरें हो राष्ट्र देनेवाली, राष्ट्र मुझे दो, स्वाहा।" फिर नीचे लिखे मत्र से उसके जल को उठा लाता है—

बलवान् की लहरें हो, राष्ट्र देनेवाली, राष्ट्र अमुक को दो स्वाहा। अमुक की जगह जिसका अभिषेक करना है उसका नाम लेवे। जो लहर उसके पानी मे जाते ही पीछे को गई है उसमे यह कह कर चार चमचो का होम करे—

"बलवानो की सेना के स्वामी हो, राष्ट्र देनेवाले, राष्ट्र मुझे दो, स्वाहा"।

और यह कह कर उसके जल को उठाता है—

"बलवानो की सेना के स्वामी हो, राष्ट्र देनेवाले, राष्ट्र अमुक को दो, स्वाहा"।

यो ही प्रत्येक प्रकार के जल मे पहले मंत्र से चार आहुतियाँ दे और दूसरे से उठा ले। दूसरे मत्र मे 'अमुक' की जगह यजमान का नाम लें। इन मंत्रो मे "राष्ट्र देनेवाले, राष्ट्र मुझे दो, स्वाहा", "राष्ट्र देनेवाले राष्ट्र अमुक को दो, स्वाहा" सबम साधारण है। केवल जल की प्रथमा न्यारी-न्यारी है जो दोनो मत्रो मे पहले जोडी जाती है। सक्षेप के लिये जलो के नाम और मत्रो के पहले विशेषण-भाग

ही लिखे जाते हैं—

नदी का बहता हुआ जल, 'अर्थ को पहुँचनेवाले हो'।

बहाव से उलटा (प्रतिलोम) बहता हुआ जल, 'ओजवाले हो'।

बहाव से ऊपर निकलकर मार्गांतर से फिर उसमे मिलनेवाला जल, 'ऊपर से बहनेवाले हो'।

समुद्र की अच्छे उठानवाली लहर, 'जल के पति हो'।

भँवर का जल जो लकडो को उठाकर बहा ले, 'जल के गर्भ हो'।

बहते पानी मे स्थिर पानी जिस पर धूप पड रही हो, 'सूर्य की सी चमडी-वाले हो'।

धूप निकले हुए मे बरसता पानी अधर मे रोककर, 'सूर्य के से वर्चस्वाले हो'।

तलाव का जल, 'मोद देनेवाले हो'।

कुएँ का जल, 'गहरे ढकने मे रहनेवाले हो'।

ओस (ठार) का जल, 'चाहने योग्य हो'।

मधु, 'सबसे बलवान् हो'।

गौ के प्रसव के समय उल्व के साथ निकलनेवाला जल, 'शक्तिवाले हो'।

दूध, मनुष्यो के पालनेवाले हो'।

घी, 'सब को पालनेवाले हो'।

सूर्य की किरणो से भाफ बनकर जो जल के परमाणु उठते हैं उन्हे अजलि से ले-लेकर इन सत्रह तरह के जलो मे मिलावे—

"जल हो, स्वराज् हो, राष्ट्र देनेवाले, राष्ट्र मुझे दो, स्वाहा।

जल हो, स्वराज् हो, राष्ट्र देनेवाल, राष्ट्र अमुक को दो, स्वाहा।'

सरस्वती-जल (पहले) और मरीचिजल (अठारहवें) म होम नही किया जाता। इन सब चित्र जलो की महिमा कही गई है, जैसे, अठारहवें म जलकण किसी के अधीन नही हैं इसलिय जिसका उनसे अभिषेक होता है वह स्वराट् हो जाता है, आठवें म, भँवर जल का गर्भ है इसलिये उनसे अभिषिक्त यजमान अपनी प्रजा का गर्भ हो जाता है।

इन सब को प्रत्येक के लिये मत्र पढकर, उदुबर के पात्र मे मिलावे कि—"मधुवाली मधुवालियो से मिलें, क्षत्रिय के लिये बडा क्षत्र उत्पन्न करती हुई।' उस पात्र को मैत्रावरुण के आसन के पास रखे—"अपने स्थान मे विना आक्रमण के, बल के साथ, बैठे रहो, क्षत्रिय के लिये बडा तेज धारण करते हुए।" पास ही अभिषेक के लिये पलाश, उदुबर, वड की दाढी और अश्वत्थ के पात्र विना मत्र पढे रखे जाते हैं।

दुपहर के सोमपान के समय, महेंद्र के लिये सोम खेंचने के पहले, अध्वर्यु इन पात्रों के पूर्व व्याघ्रचर्म बिछाता है, "सोम की चमक (सुंदरता) तू है, तेरी-सी मेरी चमक हो।" सोम पीने से इंद्र व्याघ्र के समान हो गया था इससे व्याघ्रचर्म की चमक को सोम की चमक कहा गया। चर्म के पीछे सीसे का टुकडा रखा जाता है।

मनुष्यो मे सबसे पहले 'वेन का पुत्र पृथु' ही अभिषिक्त हुआ। उसने चाहा कि सब अन्न मेरे हो जायें तो वैसा ही हुआ। यहाँ तक कि जगल के पशुओं को भी उसके लिये बुला लिया करते थे कि 'अमुक पशु यहाँ आ जा, राजा तुझे पकाना चाहता है।' उस राजा के लिये ये बारह पार्थहोम किए गए थे, और जिस जानकार के यहाँ जानकार लोग ये होम करते हैं उसके भी सब अन्नाद्य आ जाता है। उनमे से छः यहाँ किए जाते हैं। छः अभिषेक के पीछे—

अग्नि के लिये स्वाहा।
सोम के लिये स्वाहा।
सविता के लिये स्वाहा।
सरस्वती के लिये स्वाहा।
पूषा के लिये स्वाहा।
बृहस्पति के लिये स्वाहा।

सोमयाग की विधि से कुशा के दो पवित्र या छानने बनाए जाते हैं और उनमें सोना बुना जाता है, "तुम दोनो छानने के पवित्र हो, विष्णु के।" उनमे होकर अभिषेक जल को छानता है, "सविता की प्रेरणा से मैं तुम्हें छानता हूँ अच्छिद्र (निर्दोष) पवित्र से, सूर्य के किरणो से; हे जल! वाणी के बंधु, गर्मी से उत्पन्न, नहीं दबाया गया है तू, सोम का हिस्सा है; स्वाहा, राजा को उत्पन्न करनेवाला।"

छानकर जल को चारों अभिषेक-पात्रो मे डालता है—"ये महिमावाले जल सुख में भागी हैं साथ खेलनेवाले, नही धर्षण के योग्य, श्रमी, ढँकनेवाले। इन निवासों में वरुण ने अपना घर किया है, उस जल के पुत्र ने इन सर्वोत्तम माताओ के अन्दर।"

वस्त्रधारण और शस्त्रधारण

यजमान को 'क्षौम' या 'ताप्यं' (क्षुमा या तृपा घास का बुना हुआ रेशमी या सणिया वस्त्र, या बुनते समय तीन बार जल या घी पिलाया हुआ वस्त्र, या वल्कल, या तीन बार घी मे भिगोया हुआ वस्त्र) पहनाता है कि "तू क्षत्र का उल्व है।" उस पर यज्ञपात्रों के चित्र सुई से काढे होते हैं। उस पर बिना रँगी

ऊन का 'पाडव कंबल' पहनाता है, "तू क्षत्र का जरायु है।" उस पर सब ढकनेवाला 'लंबा चोगा' पहनाता है, "तू क्षत्र की योनि है।" अब एक पगडी सिर पर लपेट कर उसके दोनों छोर कमर की मोरी मे अथवा नाभि के पास ही खोसता है कि "क्षत्र की नाभि है।" गर्भ मे भी इसी भांति उल्ब, जरायु, योनि और नाभि के वेष्टन होते हैं, मानो क्षत्रिय अपने क्षत्र तेज का गर्भधारण कर रहा है।

अध्वर्यु धनुष को यह कह कर चढाता है कि "यह इंद्र का वृत्र मारनेवाला भुज है।" धनुष की एक छोर को छूता है कि "तू मित्र का है" और दूसरी को, "तू वरुण का है।" फिर यजमान के हाथ मे दे देता है, "तुझसे यह वृत्र को मारे।" अध्वर्यु तीन बाण उठाता है—एक को 'तू चीरनेवाला है', दूसरे को 'तू फाडनेवाला है' तीसरे को 'तू शत्रु को कँपानेवाला (या चूकनेवाला) है' और यजमान के हाथ मे उन्हे यह कह कर देता है कि "इसे सामने चलते हुए बचाओ, इसे पीछे चलते हुए बचाओ, इसे टेढे चलते हुए बचाओ, इसे सब दिशाओ से बचाओ।"

मालूम करना

अध्वर्यु स्वय पढता और यजमान से कहलाता है, "मनुष्यो, यह तुमको विदित हो रहा है, अग्नि गृहपति को विदित है, बडे यशवाले इंद्र को विदित कर दिया गया है, व्रत धारण करनेवाले मित्रावरुणो को विदित कर दिया गया है, सब पदार्थों के स्वामी पूषा को विदित कर दिया गया है, सबको शुभ देनेवाले द्यौ और पृथ्वी को विदित कर दिया गया है, चौडा शरण देने वाली अदिति को विदित कर दिया गया है।"

सदस्र मे बैठे केशव (हीजडा—न पुरुष न स्त्री, मैत्रायणो के नाई) के मुँह मे ताँबा (=लाल लोहा, न सोना न लोहा) डाल कर कहता है कि "काटनेवाले जीव शान्त कर दिए गए।"

दिग्विजय

यजमान की बाँह पकड कर अध्वर्यु उसे चारो ओर घुमाता है और प्रति दिशा मे कुछ पैंड चला चलाकर कहता है—

"प्राची को चढ। गायत्री छद, रथतर साम, त्रिवृत् स्तोम, वसंत ऋतु और ब्रह्मरूपी धन तुझे रक्षा करें।

दक्षिण को चढ। त्रिष्टुप् छंद, बृहत् साम, पचदश स्तोम, ग्रीष्म ऋतु और

पश्चिम को चढ। जगती छंद, वैरूप साम, सप्तदश स्तोम, वर्षा ऋतु और विश् रूपी धन तुझे बचावें।

उत्तर को चढ। अनुष्टुप् छंद, वैराज साम, एकविंश स्तोम, शरद् ऋतु और फलरूपी धन तुझे बचावें।

ऊपर को चढ। पंक्ति छंद, शाक्वर रैवत साम, सत्ताईस और तेतीस स्तोम, हेमंत-शिशिर ऋतु और वर्चस् रूपी धन तुझे बचावें।"

व्याघ्रचर्म के नीचे जो सीसा रखा है उसे पैर से यजमान ठुकराता है— "नमुचि का शिर दूर फेंका गया।" नमुचि को इंद्र ने मारा था।

अध्वर्यु इसके पीछे यजमान को व्याघ्रचर्म पर बिठाता है—"सोम के समान प्रकाशवाला तू है।" यजमान कहता है, 'मेरा प्रकाश तेरे जैसा हो।"

सोने का एक चाँद यजमान के पैरों के नीचे रखता है—"मृत्यु से बचा।"

यजमान सिर पर नौ छेदवाला या सौ छेदवाला सोने का भूषण पहन कर कहता है, "तू ओज है, तू जीत है तू अमृत है।"

राजा बाँहें उठाकर पढता है, "सोने के से रूपवाले! तुम दोनों बलवान् ऊषा के उगने पर उठते हो सूर्य की तरह, हे मित्र वरुण! अपने रथ पर चढो और वहाँ से दिति और अदिति (सांत और अनन्त, सीमाबद्ध और असीम) को देखो", "तू मित्र है, तू वरुण है।"

अभिषेक

मनुष्य के दोनों हाथ मित्र और वरुण हैं और मनुष्य उनका रथ है। हाथ ऊँचे करके अभिषेक इसलिये कराया जाता है कि कहीं हाथों का क्षत्र तेज अभिषेक जल के सम्मिलित तेज से दब न जाय।

यजमान पूर्व की ओर मुँह किए खडा रहता है। अध्वर्यु या पुरोहित (ब्राह्मण) उस पलाश के पात्र में रखे हुए जल से अभिषिक्त करता है—"तुझे सोम के तेज से अभिषिक्त करता हूँ, क्षत्रों का क्षत्रपति बढता जा।"

उसके पीछे पीछे उदुंबर पात्र के जल से राजा का भाई उसका अभिषेक करता है—'तुझे अग्नि के तेज से अभिषिक्त करता हूँ, क्षत्रों का क्षत्रपति बढता जा।"

पीछे न्यग्रोध (वड की दाढी) के पात्र से और राजवंशीय जो उसका मित्र होकर आया है राजा का अभिषेक करता है—"तुझे सूर्य के वर्चस् से अभिषिक्त करता हूँ, क्षत्रों का क्षत्रपति बढता जा।" इसके बाद अश्वत्थ के पात्र से वैश्य उसका अभिषेक करता है—'तुझे इंद्र के इंद्रिय से अभिषिक्त करता हूँ, क्षत्रों का क्षत्रपति बढता जा।"

फिर सब मिलकर कहते हैं, "प्रकाशमान बाणों से इसकी रक्षा कर।"

अध्वर्यु उच्च स्वर से कहता है, 'हे देवो ! इसे उत्तेजित करो इस रीति से कि कोई इसका सपत्न (रकीब) न हो, बड़े क्षत्र के लिये, बड़े बड़प्पन के लिये, बड़े मनुष्यों पर राज्य के लिये, इन्द्र के इन्द्रिय के लिये, इसे (यहाँ राजा का नाम ले) अमुक (यहाँ पिता का नाम ले) के पुत्र को, अमुक (यहाँ माता का नाम ले) के पुत्र को इस (यहाँ जाति का नाम ले) प्रजा के लिये। हे अमुक (यहाँ जाति का नाम ले) जातिवालो, यह तुम्हारा राजा है, हम ब्राह्मणों का राजा सोम है।"

फिर अब बाकी के छ 'पार्थ होम' किए जाते हैं—

इन्द्र के लिये स्वाहा।
कोलाहल के लिये स्वाहा।
मश के लिए स्वाहा।
अश के लिय स्वाहा।
भग के लिये स्वाहा।
अर्यमा के लिय स्वाहा।

या तो इस जगह पर, या द्यूत के पीछे अध्वर्यु होता को कहता है कि 'शुन शेप की कथा कहो।" यह कथा पृथक् लेख मे दी गई है।[1]

दीक्षित लोग सदा काले हरिण के सींग से खुजाते हैं। राजसूय-याजी भी दीक्षित होता है इसलिये अपने पास की खुजालनी उठाकर सिर पर से टपकते हुए अभिषेक-जल को पीठ पर लीपता हुआ पढता है—

'बलवान् वृषभ पहाड की पीठ से नौकाएँ स्वय चलती बही आ रही है, वे ऊपर की ओर मुखवाली को जाकर पीछे नीचे की ओर मुडती है और अहिर्बुध्न्य (गहरे का साँप) के पीछे चली आती है।"

अब यजमान व्याघ्रचर्म पर तीन डग भरता है और कहता है कि—'विष्णु का बाहरी पैंड भरता है, विष्णु का बाहरी पैड है, विष्णु का पैड है।"

जो जल अभिषेक स बचा है वह पलाश-पात्र मे रखकर यजमान अपने प्रियतम पुत्र को देता है कि— 'यह मेरा काम, मेरा वीर्य, मेरे पीछे मेरा पुत्र चलता हुआ रखे।" पुत्र पीछे से यजमान को छूता है और यजमान घर की आग मे होम करता है, 'प्रजापते ! तुझे छोडकर कोई नही दूसरा इन सृष्टि के विश्वरूपो के चहुँओर व्याप्त है। जिस कामना से हम तुझ बुलाते है वह हमे प्राप्त हो। यह अमुक का पिता है। अमुक इसका पिता है। हम धनो के स्वामी हो, स्वाहा।" 'यह' और 'इस' की जगह पुत्र का नाम और 'अमुक' की जगह पिता का नाम कहना चाहिए। जैसे दशरथ के अभिषेक के समय पहला वाक्य राम दशरथ

१ देखिए शुन शप की कहानी यही ग्रथ पृ ४८

का पिता है" और दूसरा "दशरथ राम का पिता है" इस प्रकार कहा गया है।

बाकी जल को पलाश-पात्र से आग्नीध्र अग्नि में होमता है—"हे रुद्र! जो तेरा कर्मशील सबसे बड़ा नाम है, उसी में तू होमा जाता है। तू घर में होमा जाता है। स्वाहा।"

गौओं की जीत

राजा को शस्त्र पहना कर सबको मालूम करना, उसे चारों ओर घुमाकर दिशाओं को चढ़ाना, और पीछे अभिषेक करना यही क्रम अब तक इंगलैंड की गद्दी पर बैठाने का है। अभिषेक के पीछे राजा ने विष्णु के डग भर कर धर्म की चाल चलने की प्रतिज्ञा कर ली है और अपने पीछे पुत्र के लिये जयकामना कर ली है। अब उसे अपने बल का प्रमाण देना चाहिए। उस समय के मनुष्य कागजी घोषणा-पत्रों को थोड़ा ही समझते थे। सम्भव है कि राजा में वीर्य कुछ भी न हो, तो उस समय के निरय झगड़ालू समय में उसकी क्या चलती? वरुण का वीर्य अभिषेक होते ही नष्ट हो गया था, उसने उसे गौओं में पाया। ऐसे ही राजा भी शत्रु की गौएँ जीत लाकर प्रजा को सिद्ध करता है कि मैं असमर्थ नहीं हूँ, तुम्हारा उपकारक हूँ। उस समय धन की जांच गौओं से ही होती थी। जो अर्थ आजकल लखपती और करोड़पति का है वह उन दिनों 'सहस्रगु' आदि शब्दों का था। सभ्य समाज के सबसे पहले धन पालतू पशु ही थे। अति प्राचीन काल में यह गौओं की लड़ाई और जीत सचमुच ही होती होगी, पीछे वाजपेय की दौड़ और इंगलैंड के कवचधारी हिमायती की तरह, आजकल के जनेऊ की काशीयात्रा की तरह, केवल रीति रह गई।

आहवनीय के उत्तर को किसी सजाति की सौ या अधिक गौ रखी जाती हैं। पास ही वह गाड़ा रहता है जिस पर होम का अग्नि रखा जाता है। यजमान वाजपेय की तरह रथ उतारे—"तू इन्द्र का वज्र है।" धुरा पकड़ कर उसे घुमावे और वेदि के दक्षिण भाग में लाकर उसे जोड़े—"शासन करनेवाले मित्र-वरुण के निदेश से मैं जोड़ता हूँ।" "दृढ़ता के लिये, न डिगने के लिये, बल के लिये, मैं, न क्षय पानेवाला अर्जुन (=इन्द्र) तुझ पर चढ़ता हूँ" यह कह कर रथ पर चढ़ता है। चार घोड़ों में से दहने को हांकता है—"मरुतों के वेग से, जीवित करने से तू जीत।"

कृष्णयजु के कल्पसूत्र से जान पड़ता है कि एक दूसरा राजन्य धनुष-बाण लेकर गौओं में खड़ा रहता है, मानो वह गौओं का स्वामी है और उन्हें बचाने को आया है। राजसूययाजी उस पर बाण छोड़ता है कि—"मन को जीता" और प्रदक्षिण रथ घुमाकर कहता है कि—"मुझमें बल और ऊर्ज।"

गौओं के बीच में जाकर रथ को रोकता है, "मन से हम पावें।" धनुष की एक छोर से एक गौ को छूता है—"वन से मिलकर हम जीतें हैं, इन्हें मैंने जीता, इन्हें मैंने अपना किया।" फिर जितनी गौएँ जीती हैं उतनी या उससे अधिक उनके स्वामी को देकर अपनी क्रूरता को धोता है, क्योंकि आर्य राजा जीतकर फिर उसी मनुष्य को अपने स्थान पर अपने नीचे दृढ़ कर दिया करते थे।

यूप के सामने होकर निकलता है—"हे वसवानों के जीतनेवाले इंद्र! हम ब्रह्मा के न होने से तुझे पाने के अयोग्य न हो जायें। हे वज्रहस्त! तू रथ पर चढ़, जिसे तू वश करता है और जिसको प्रशस्त घोड़ोंवाली बागा को।" लौट कर सदस् के पास रथ रोकता है। अब रथ खोलता है और रथ का जो जो भाग जिस देवता का है उसे उसके लिये होम करता है—

गृह के पति अग्नि के लिये स्वाहा (बम और जूआ)।
धन के पति सोम के लिये स्वाहा (चक्र और लकड़ी का सामान)।
मरुतों के तेज के लिये स्वाहा (घोड़े और सव्येष्ठा और सारथि)।
इंद्र के प्रशस्त बल के लिये स्वाहा (स्वामी)।
ये 'रथविमोचनीय' होम कहलाते हैं।

"पशुओं का रस है" यों कहकर सूअर के चमड़े के जूते पहनता है और गहने भी। फिर पृथ्वी को संबोधन करके कहता है, "माता धरती, तू मुझे न हिंसा कर, मैं तुझे न हिंसा करूँ।" यों कहने से उसके और पृथ्वी के बीच में पुत्र और माता का संबंध स्थापित हो जाता है जिससे कोई भी दूसरे का अपकार न करे। अब रथ से उतरता है—"जल से, गौओं से, सत्य से और पर्वत से उत्पन्न हंस, प्रकाश में बैठा हुआ, वसु अंतरिक्ष में बैठा हुआ, होता वेदि में बैठा हुआ, अच्छे स्थानों में बैठा, मनुष्यों में बैठा, सत्य में बैठा, वही परम सत्य है।"

सारथि साथ न उतरे, रथ अपने स्थान पर टांग दिया जाय, वहाँ से वह कूद पड़े।

मैत्रायणीयों के यहाँ यजमान अपना धनुष यह कह कर पत्नी को देता है कि "यह वज्र सबसे बड़ा बल देनेवाला है, इससे हमारा पुत्र वाज (बाजी) को जीते।"

यजमान रथ खड़ा रखने के आधार पर उनके पिछले दहिने पहिए से सौ-सौ रत्ती के सोने के दो चाँद बाँधता है और पहिए की लीक में उदुंबर की शाख रखता है। पहले चाँद को छूता है—'इतना है तू, तू आयु है, मुझे आयु दे', दूसरे को "तू जोड़ा है, तू वर्चस् है, मुझमें वर्चस् रख।" उन्हें ब्रह्मा को देता है और उदुंबर शाखा को छूता है—"तू ऊर्ज है, मुझमें ऊर्ज रख।"

अध्वर्यु यजमान के दोनों हाथों को व्याघ्रचर्म पर रखी हुई दही की कूंडी में डुबोता है—'इंद्र के तुम दोनों वीर्य करनेवाले हाथों को मैं नीचे खींचता हूँ।"

फिर उसे धनुष-बाण सौंप देता है। उस दही को होम मे कार्य मे लाते हैं। बीच ही मे सिंहासन पर विराजना होता है। व्याघ्रचर्म पर खदिर की चौकी (पीढ़ी) रस्सियों से बिरली बुनी हुई या चमड़े की बधडी (तसमो) से बुनी हुई, (भारतों के यहाँ) रखी जाती है—"तू अच्छी बैठक है, सुख से बैठने की है।" उस पर बिछावन की जाती है—"क्षत्र की योनि है।" अध्वर्यु यजमान को बिठाता है—"अच्छी बैठक पर बैठ, सुख से बैठने की पर बैठ, क्षत्र की योनि पर बैठ।"

ढिंढोरा

यजमान के हृदय पर हाथ रखकर अध्वर्यु कहता है—

'बैठ गया है व्रत धारण करनेवाला वरुण प्रजा के निवासो मे।"

'साम्राज्य के लिये सुकर्मा।"

इसमे 'व्रत धारण करनेवाला' यो कहा गया है कि राजा जो चाहे सो बोल नही सकता और जो चाहे वह कर नही सकता, जैसे अप्रामाणिक आदमी या अव्रत राजा कर सकता है। वह वही बोले जो ठीक है, वही करे जो ठीक है। इनसे श्रोत्रिय और राजा धृतव्रत कहे जाते हैं।

द्यूत या जूआ

अध्वर्यु पाँच पासे हाथ म लेकर राजा के हाथ मे देता है कि—"तू सबके ऊपर स्वामी है, ये पाँच दिशाएँ तेरे अधीन हो।" मैत्रायणी के अनुसार सौ पासे राजा को सौंप दिए जाते हैं क्योकि पुरुष की आयु सौ वर्ष की होती है। और चार सौ राजा के सामने फेंके जाते हैं कि 'खुला राजा का।" फिर उनम से पाँच उसे दिए जाते हैं। तैत्तिरीयों के यहाँ हजार सोने के पासे फेंक कर उनमे से पाँच दिशाओ के प्रतिनिधि पाँच देने की चाल है। ये पासे या तो विभीतक (बहेडा) के फल होते थे या साने के वैसे ही बनते थे और उन पर अंक लिखे होते थे।

अध्वर्यु अब चुपचाप यज्ञकाष्ठा से राजा को पीटते हैं जिससे वह फिर कभी 'मार न खाय' क्योकि राजा अदड्य होता है।

अब 'रत्न' राजा को घेरकर बैठ जाते हैं और राजा के और अध्वर्यु के यह बातचीत होती है जिससे राजा अपना स्वरूप जान लेता है—

राजा—ब्रह्मन्!

अध्वर्यु—तू ब्रह्मा है, तू सत्य प्रेरणा करनेवाला सविता है।

राजा—ब्रह्मन्!

अध्वर्यु—तू ब्रह्मा है, तू सत्य बलवाला वरुण है।

राजा—ब्रह्मन्!

अध्वर्यु—तू ब्रह्मा है, तू प्रजाओ के बलवाला इन्द्र है।

राजा—ब्रह्मन् !

अध्वर्यु—तू ब्रह्मा है, तू अच्छा कृपालु रुद्र है।

राजा—ब्रह्मन् !

अध्वर्यु—तू ब्रह्मा है।

अब राजा अपनी प्रजाओं को कहता है, "हे बहुत करनेवाले, हे अधिक भला करनेवाले, हे फिर फिर करनेवाले !"

पुरोहित या अध्वर्यु यजमान को लकड़ी की तलवार 'स्फ्य' देता है—"तू इन्द्र का वज्र है, उससे अब मेरी आराधना कर।" राजा यही कह कर अपने भाई को दे देता है। वह इसी मंत्र से सूत को या गाँव के मुखिया (थवई—स्थपति) को। वह वैसे ही वह कर वैश्यों के महत्तर (महताजी या पटेल) को। वह भी उसे भागेत (सजात, जमींदार=कृषक) को। यों सब अपने अपने अधिकार में नियम को समझ जाते हैं।

उसी खड्ग से पूर्वाग्नि के पास द्यूतभूमि मंत्रों से बनाई जाती है और उसमें एक चँदुआ (=विमिन) खड़ा किया जाता है। जुए के मैदान में सोना रख कर चार चमचों के घी से अध्वर्यु होमता है—

"अग्नि बड़ा, धर्म का पति, प्रसन्न

अग्नि बड़ा, धर्म का पति, घी को स्वीकार करे, स्वाहा !'

यह कह कर पासे फेंके जाते हैं कि "स्वाहा से पवित्र किए गए हो, तुम सूर्य की किरणों के साथ अपने भाइयों में सब से श्रेष्ठ स्थान पाने के लिये यत्न करो", क्योंकि जिसका दाव आवेगा वही सब में श्रेष्ठ होगा।

अध्वर्यु कहता है कि "गौ (की बाजी लगा कर उस) का जुआ करो।" यह जुआ यजमान के भाग्य की परीक्षा के लिये है। अतएव पासे यों फेंके जाते हैं कि सबसे अच्छा दाव राजा का आवे और 'सुन्न' विचारे सजात का आवे जिसकी गौ है।

ऋग्वेद में एक तिरेपन पासों के खेल का वर्णन है। छांदोग्य उपनिषद् में रैक्व के बड़भागी होने की यों उपमा दी है कि जैसे 'कृत की जीत में सब हार जाते हैं वैसे सब उसका भला ही भला होता है।' जिस विभीतक पर '१' लिखा होता था वह 'कलि' कहलाता था और २, ३, ४ अंकवाले पासे क्रमशः 'द्वापर', 'त्रेता' और 'कृत' कहलाते थे। यदि और सब पासे एकसे पड़ते (चित या पट) और कलि उनसे विपरीत होता तो कलि जीतता, परन्तु यदि औरों की तरह ही पड़ता तो कृत (सब से बड़ा अंक) जीतता। शुनःशेप की कथा में एक श्लोक पर ध्यान दीजिए। अनुमान होता है कि खेल ऐसा ही होता होगा। यही नाम पीछे चलकर युगों के पड़ गए हैं। यहाँ राजा को जिताना ठहरा इससे उसके कृत आता और सजात के कलि। अब सजात की गौ जीती जाने से 'मारी गई' और वह सभा-

सदो को दी जाती है। (महाभाष्य पातंजल २।३।६०—"गामस्य तदह सभाया दीव्येयु" और कापिष्ठल संहिता—"गा घ्नन्ति = गा विदीव्यति = गा सभासद्‌भ्य उपहरति।")

कुछ याज्ञिक नाम होकर अध्वर्यु के यह कहने पर कि "स्तोम (प्रार्थना) को जाओ" यजमान आसानी से उठकर चला जाता है।

दशपेय

अभिषेक के दसवें दिन सोम के दस प्याले होते है जिनके लिये सोम अभिषेक के सोम के साथ ही खरीद लिया गया था। यजमान और नौ ऋत्विक्, ये दस एक एक प्याले की ओर एक एक कमर झुकाकर रेंगते है। परतु रेंगने के समय उन्हें अपने दादा से लेकर पहले, पीछे की ओर, दस ऐसे पुरखाओं का नाम लेना पड़ता है जो सोमयाजी रहे हो। ऐसे बडभागी विरले होते हैं, जिनके दस दस पूर्वज सोमपीथी हुए हों। रेंगने का मंत्र यह है—

"सविता प्रेरणा करनेवाले से, सरस्वती वाणी से, त्वष्टा बनाए हुए रूपो से, पूषा पशुओ से, इस (यजमान) इद्र से, बृहस्पति ब्रह्म से, वरुण ओज से, अग्नि तेज से, सोम राजा से, विष्णु दसवी देवता से प्रेरित होकर मैं रेंगता हूँ।"

यहाँ एक एक प्याले मे दस दस पीनेवाले होते हैं—एक ऋत्विक् और नौ और। यो नौ जने पीते हैं। यजमानके पात्र मे साथ पीनेवाले चाहे क्षत्रिय हो चाहे ब्राह्मण। यजमान सब को कमल या सोने के कमलो की माला पहनाता है।

दक्षिणाएँ

ब्रह्मा को बारह गर्भिणी गौ, उद्‌गाताको सोने की माला, होता को सोने का चाँद, अध्वर्यु को सोने के दो दर्पण, प्रस्तोता को घोडा, मैत्रावरुण को बाँझ गौ, ब्राह्मणाच्छशी को भार-वाहक बैल, नेष्टा पोता को दो वस्त्र, अच्छावाक् को यव से भरी हुई एक बैल की गाडी, और आग्नीध्र को बैल।

प्रयुग्हवि

राजसूय-याजी वर्ष भर तक प्रति मास 'जोडे के हवि' से होम करता रहे। छह महीने का साथ भी कर लेते है, जैसे 'कुरुपचाल के राजा शिशिर ऋतु के पीछे रथ जोडकर पूर्व के उपजाऊ देशो पर चढ जाते और वर्षा के पहले घर लौट आते।' अतएव वे कहा करते, "ऋतु जुडे मे जुडे हुए हमे बहते हैं और जुडी हुई ऋतुओ के पीछे पीछे हम चलते है।"

केशवपनीय

राजसूय-याजी वर्ष भर तक बाल न कटवावे। उसके पीछे केशवपनीय इष्टि करके, फिर बाल कटवा लिया करे, मुँडवावे नहीं। न कभी उसे पृथ्वी पर नंगे पैर चलना उचित है। वह सदा जूते पहने रहे ताकि सब लोगों से ऊँचा रहे।

(शुक्ल यजुर्वेदसंहिता अध्याय ६।१०, मैत्रायणी संहिता २।६, ४।३, शतपथ-ब्राह्मण ५।२-५, कात्यायन श्रौतसूत्र १५ प्रभृति।)

[प्रथम प्रकाशन : 'मर्यादा' : दिसम्बर-जनवरी, १९११-१२ ई०]

चाणूर अंध्र

विष्णुसहस्रनाम' में विष्णु के हजार नामों में से एक 'चाणूरान्ध्र-

१ महाभारत, अनुशासनपर्व, अध्याय २५४ (कुम्भकोण संस्करण) = अध्याय १४९ (प्रतापचन्द्र राय का संस्करण)। महाभारत के सब पते कुम्भकोण संस्करण ही से दिए जाएँगे।

विष्णुसहस्रनाम, भीष्मस्तवराज, गीता, अनुस्मृति और गजेन्द्रमोक्ष ये महाभारत के पंच रत्न कहे जाते हैं। इनमें से विष्णुसहस्रनाम (अनुशासन पर्व, अध्याय २५४) भीष्मस्तवराज (शान्तिपर्व, अध्याय ४६), श्रीमद्भगवद्गीता (भीष्मपर्व, अध्याय २५-४२) और अनुस्मृति (शान्तिपर्व, अध्याय २१०, अनुगीता दूसरी चीज है, आश्वमेधिकपर्व, अध्याय १६-९१) तो यहाँ हैं, किन्तु गजेन्द्रमोक्ष का कहीं महाभारत में पता नहीं है। गजेन्द्रमोक्ष जो पंचरत्नों में पढ़ा जाता है वह श्रीमद्भागवत (स्कन्ध ८, अध्याय २-४) से है।

कुछ समय बीता, हिंदी के एक अतिशयमय पत्र में यह बात उठाई गई थी कि एक प्रसिद्ध प्रेस के छपे भागवत में 'विप्राद् द्विषड्गुणयुताद्०—' इत्यादि श्लोक नहीं छपा है सो यह स्मार्त बनियों की चालाकी है। ब्राह्मणविरोधी पर पुस्तकों में जोड़ देने का दोषारोपण तो सदा से होता आया है, स्मार्तों पर छाँटकर श्लोक निकाल देने का यह नया है। प्रेस के स्वामी ने क्षमा माँग ली। इस श्लोक को निकालने से स्मार्तों का क्या बन जाता और रहने से क्या बिगड़ता था? यदि वैष्णव गुणयुक्त चाण्डाल से अव्रत को अच्छा मानते हैं तो मानते रहें, स्मार्त भी मानते हैं, करके न वैष्णवों ने दिखाया न स्मार्तों ने। उसी समय उसी पत्र के एक सम्पादक महाशय ने एक नई बात निकाली थी कि नारदपंचरात्र महाभारत में था, जैसा कि अकबर के समय के उसके अनुवाद रज्मनामे से प्रकट है, पीछे स्मार्तों ने ही उसे महाभारत में से निकाल दिया। बात यह है कि महाभारत के अनुक्रमणिका-पर्व आदि के अनुसार कहीं नारदपंचरात्र को ढूँढ़ने की गुंजाइश नहीं, न कहीं महाभारत की कथा या उपाख्यानों में उसका मेल बैठता है। जैसे गजेन्द्रमोक्ष भारत में पाँचवाँ रत्न कहलाता है किन्तु उसमें कहीं न होकर भागवत में है, वैसे नारदपंचरात्र पृथक् ग्रंथ है। उसके उपक्रम, उपसंहार, प्रश्नोत्तर, कथाप्रसंग किसी में महाभारत की गंध नहीं। अकबर के समय में फारसी जाननेवाले मुसलमान अनुवादकर्ता को जो कह दिया गया वही उसने मान लिया, महाभारत की पोथियों से आधुनिक रीति पर छानबीन नहीं की गई थी? हरिवंशपुराण पृथक् ग्रंथ है, किन्तु महाभारत का खिल माना

निषूदन[1] भी है। इसका अर्थ होता है चाणूर नामक अंध्र को मारने वाला। यही अर्थ शांकर भाष्य में किया है।[2] चाणूर मथुरा के राजा कंस का प्रसिद्ध मल्ल था जिसे श्रीकृष्ण ने मारा था।[3] उसे अंध्र कहने के दो ही अर्थ हो सकते हैं, या तो वह अंध्र नामक वर्णसंकर (प्रतिलोम) जाति का हो जो वैदेहिक से कारावरी में उत्पन्न होता है[4] या वह अंध्रदेश का निवासी हो।[5] दूसरा अर्थ अधिक उचित जान पड़ता है,

> जाता है। उसकी कथाएं भी भारत की ही कही जाती हैं। भागवत का गजेंद्रमोक्ष भी भारत का ही कहा जाता है। यों नारदपंचरात्र भी भारत का ही कहा जाता होगा। नारदपंचरात्र को कोई महाभारत से निकालकर क्या ले लेगा जब कि भागवतधर्म पांचरात्रागम, एकान्तिक धर्म, सात्वतधर्म या भक्तिमार्ग महाभारत में स्थान स्थान पर बिखरा हुआ है? महाभारत के शांतिपर्व में जो नारायणीयाख्यान (अध्याय ३४४-३४८ आदि) है उसी में कथा है कि नर-नारायण ऋषियों ने श्वेतद्वीप में इस धर्म का उपदेश किया। वहाँ से नारद इसे लाए और 'पंचरात्रानुशब्दित' करके इसका प्रचार किया। इसी से यदि नारदपंचरात्र को महाभारत के अन्तर्गत कहा जाय तो कह सकते हैं। नारदपंचरात्र में द्वादश स्कंधों के भागवतपुराण ब्रह्मवैवर्तपुराण, विष्णुपुराण, गीता और महाभारत का नामोल्लेख है। नारायणीय उपाख्यान के मूल पाठ में हंस को प्रथम अवतार, कूर्म को दूसरा, मत्स्य को तीसरा कहा है। फिर वराह आदि गिनकर राम दाशरथि आठवां, सात्वत कृष्ण नवां और कल्कि दसवां गिना गया है। नारदपंचरात्र में बुद्ध को नवां अवतार गिनकर प्रारम्भ में हंस को छोड़ दिया गया है। इससे सिद्ध होता है कि नारदपंचरात्र का मूल उपादान महाभारत में होने पर भी वह पीछे का ग्रंथ है। रघुनाथ के अनुवादकर्ताओं को यही कह दिया होगा कि नारदपंचरात्र महाभारत में है। यों ही साम्प्रदायिक खींचतान के दिनों में 'पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते', 'प्र तद्विष्णो', इत्यादि श्लोक या प्रक्षिप्त अथवा कल्पित मन्त्र वेद से मिलती हुई भाषा में बनाए जाकर खिल, परिशिष्ट या 'इति श्रुति' तक की छाप से काम दे दिया करते थे। अब पदपाठ, सर्वानुक्रम, शाखाभेद, भाष्य आदि की पूरी जाँच होने, प्राचीन पोथियों के विदेशों के पुस्तकालयों या सरकारी पुस्तकालयों में पहुंचने और कई प्रतियों से शोधकर पाठों के छप जाने से यह व्यवसाय बंद हो गया है।

१ महाभारत, अनुशासनपर्व, अध्याय २५४, श्लोक १०३
२ श्रीवाणीविलास प्रेस, श्रीरंग का स्मारक संस्करण, जिल्द १३, पृष्ठ ११८ (श्लोक १०१ का भाष्य)।
३ महाभारत, उद्योगपर्व, अध्याय १३०, श्लोक ६१, श्रीमद्भागवत स्कंध १०, अध्याय ४४ हरिवंश, अध्याय ८६ [redacted] भी इसके मारे जाने की कथा है। महाभारत, सभापर्व में चाणूर और अंध्रक नामक दो राजा भी कहे गए हैं जो सभाप्रवेश में युधिष्ठिर के साथ थे (अध्याय ४, श्लोक ३२ और ३०)।
४. मनुस्मृति १०। ३६
५ अंध्र या आंध्र देश तथा उसके निवासी दोनों के लिए आता है। यह तेलगु (तिलगु भाषी) देश है जिसमें मद्रास के उत्तरी सरकार विभाग, विजयानगरम्, विजगापटम् (विशाखपट्टन) आदि प्रांत हैं। ऐतरेय ब्राह्मण के शुनःशेप उपाख्यान में लिखा है कि विश्वामित्र ने जब शुनःशेप को नरमेध से बचाकर अपना पुत्र बनाया तब उसके पचास पुत्रों ने इसे स्वीकार

क्योंकि अंध्र जाति मृगया से जीविका करनेवाली और नगरों से बाहर रहनेवाली कही गई है,[1] मल्ल नहीं। सो अंध्रदेश पहले भी एक राममूर्ति उत्पन्न कर चुका है।

न किया। विश्वामित्र के शाप से ये और उनके वंशज अंध्र, पुंड्र, शबर, पुलिंद और मूतिब हुए (ऐतरेय ८। १८)। शांखायन श्रौतसूत्र में पुलिंदों का नाम नहीं है, और मूतिब के स्थान पर मूचिप है। ऐतरेय में उन्हें विश्वामित्र ने शाप दिया है कि 'अन्तान् वः प्रजा भक्षीष्ट' अर्थात् तुम्हारी संतान (सीमा+) अंत देशों को भोगे और ब्राह्मण में उन्हें उदन्त्य (सीमाप्रान्तवासी) और 'दस्यूनां भूयिष्ठा' कहा है। इसका यही अर्थ है कि ये जातियाँ ऐतरेय ब्राह्मण के काल में आर्यों की निवासभूमि के सीमाप्रांतों पर रहती थीं। कृष्णा और गोदावरी का मध्यभाग अंध्र या आंध्र अनार्यों का वासस्थान था।

१ वैदेहिकादन्ध्रमेदौ बहिर्ग्रामप्रतिश्रयौ (मनु० १०। ३६), शूद्रो वैदेहकादन्ध्रो बहिर्ग्रामप्रतिश्रयः (महाभारत, अनुशासनपर्व, अध्याय ८१, श्लोक २२)।

पुरातत्व

शैशुनाक मूर्तियाँ

शिशुनाक वंश के महाराजाओ की दो प्रतिमाएँ

लगभग सौ वर्ष हुए, गगा की बाढ का पानी उतर जाने पर, पटने से दक्षिण की ओर नदी तीर पर, बुकानन महाशय को पत्थर की एक विशाल मूर्ति मिली। यह सिर समेत पुरुष की मूर्ति थी, किंतु इसके हाथ-पाँव खडित और चेहरे के नाक आदि त्रुटित थे। ऊँचाई मे यह पूरे पुरुष के आकार की थी और कुछ भद्दी थी, सुकुमार शिल्प का नमूना न थी। दुपट्टा कधे पर होकर पीछे को गया था। उस पर पीठ की ओर कधे के पास कपडे की सलवटो मे कुछ अक्षर थे। मूर्ति को खोदकर बुकानन साहब के घर पर लानेवाले मजदूरो ने कहा कि कुछ वर्ष हुए देहात के दक्षिण भाग मे एक खेत मे यह मूर्ति मिली थी और लोग इसे पूजने लगे, किंतु पहले दिन ही वहाँ पर आग लग जाने से इसका पूजन अशुभ समझकर लोगो ने इसको गगा प्रवाह कर दिया था। उसी स्थान पर एक और ऐसी ही मूर्ति की टाँगें पृथ्वी के बाहर निकल रही थी और एक तीसरी मूर्ति को हाकिंस साहब उठवा ले गए थे। उस स्थान पर जाकर बुकानन साहब ने देखा तो ५०, ६० फुट लम्बे ईंटा के मकान के ध्वसावशेष पाए। उनमें से ईंट आदि तो लोग निकालकर ले गए थे। खोदने पर पहली मूर्ति के समान, किंतु उससे मोटी और कुछ लबी, दूसरी मूर्ति मिली। इसके पैर साबित तथा भुजाओ के कुछ अश थे। सिर न था और बाएँ कधे पर चँवर बना हुआ था। जैन साधु भी ऐसा ही चँवर (ओगा) रखते हैं। मिस्टर बुकानन ने समझा कि मदिर और उसकी मुख्य प्रतिमा नष्ट हो गई हैं, ये परिचारको या पार्षद देवताओ की प्रतिमाएँ हैं। तीसरी मूर्ति मिस्टर बुकानन ने देखी ही नही। ये दोनो मूर्तियाँ डाक्टर टेलर के हाथ लग गईं और उसके भाई ने सन् १८२० ई० मे इन्हे बगाल की एशियाटिक सोसाइटी को भेंट कर दिया। वहाँ इनकी कुछ कद्र न हुई, पिछवाड़े के बगीचे

की झाडियो मे ये बरसो पडी रही। चालीस वर्ष पीछे इन पर बेगलर महाशय की दृष्टि पड़ी तब उसने उस समय के पुरातत्त्व विभाग के डाइरेक्टर सर अलिगजेंडर कनिंगहाम का ध्यान इनकी ओर खीचा। सन् १८७६ ई० मे ये इडियन म्यूजियम की भरहुत गैलरी मे ऊँची चौकियो पर पधराई गईं। जेनरल कनिंगहाम ने अपनी पद्रहवी रिपोर्ट मे इनका वर्णन किया। उस समय उसे याद आया कि पटने शहर के बाहर अगम कुआँ नामक स्थान के पास एक ऐसी ही तीसरी मूर्ति है जो ढग, हाथो के निवेश और वेशविन्यास मे ठीक इन विशालकाय मूर्तियो की सी है। अगम कुएँ के पास रहनेवाले ग्रामीण उस पर नया सिर लगाकर उसे माता माई के नाम से पूजते थे। संभव है कि वह कभी वहाँ कही मिल जाय। यदि हाकिसवाली मूर्ति यही हो तो तीन नहीं चार समानाकार मूर्तियाँ वहाँ से मिली।

जेनरल कनिंगहाम ने उनकी बहुत ही चमकदार पालिश या जिलअ पर ध्यान देकर उनके शिल्प-सबधी महत्त्व को समझा और प्राचीन हिंदू शिल्प के नमूनो म उन्हें सर्वोच्च स्थान दिया। यह जिलअ मौर्य पालिश कहलाती है। मौर्यकाल से पहले की मूर्तियाँ तो उस समय मिली ही कहाँ थी, मौर्यकाल के पीछे की चीजो म ऐसी सुदर दर्पणाकार पालिश नही मिलती। खोजियो ने यह भी माना है कि यह पालिश हिंदुस्तान की अपनी उपज नही, पर्शिया (ईरान) के कारीगरो की लाई हुई है। इस विषय पर पीछे विचार किया जायगा।

जेनरल कनिंगहाम ने इन्हे यक्षो की मूर्तियाँ माना और उनके पीठ पर के लेखो को यो पढा—

[सिरवाली मूर्ति (१) पर] यखे अचुसनिगिक (अर्थात् अचुसनिगिक यक्ष)।

[बिना सिर की मूर्ति (२) पर] यखे सनतनद (अर्थात् सनतनद यक्ष)।

कनिंगहाम साहब के पीछे किसी ने इन मूर्तियो या उन पर के लेखो पर ध्यान नही दिया।

यो ये मूर्तियाँ सन् १८१२ मे मिली, सन् १८७६ म उनका स्वरूप ज्ञात हुआ, किंतु उनका वास्तव विवरण सन् १९१९ मे बाबू काशीप्रसाद जायसवाल ने किया। जायसवाल महाशय ने खूब विचार कर निर्णय किया है कि ये दोनो मूर्तियाँ शिशुनाक वश के दो महाराजाओ की हैं। बुकानन साहब ने जिस ईंट के मकान का उल्लेख किया है वह शैशुनाक राजाओ का देवकुल था। देवकुल क्या होते थे तथा भास के प्रतिमा नाटक से उनके विषय मे क्या जाना जाता है इस पर (इसी अक मे)[1] एक पृथक् लेख[2] पढिए। पहली (सिरवाली) मूर्ति शैशुनाको

१ नागरी प्रचारिणी पत्रिका १९२० ई०

२ देखिए चद्रधर शर्मा गुलेरी जी का लेख देवकुल (गुलेरी साहित्यालोक सम्पा० डॉ० मनोहरलाल, किताबघर गाधीनगर, दिल्ली-३१

ये देवकुल में से महाराज अजउदयिन् की है जिसने पाटलिपुत्र बसाया और जिसका समय ईसवी सन् पूर्व ४८३ से ४६७ है। दूसरी (बिना सिर की) मूर्ति प्रसिद्ध विजेता सम्राट् नंदिवर्धन की है जिसका समय ईसवी सन् पूर्व ४४६ से ४०६ है। लेख दोनों पर इस प्रकार हैं—(१) भगे अचो छोनीधोशे (२) सपखते वट नंदि, या वपखेते वेट नंदि।

दीदारगंज की प्रतिमा

ता० १८ अक्तूबर सन् १९१७ को पटने से पूर्व गंगातीर पर नसीरपुर ताजपुर हिस्सा खुर्द, या दीदारगंज कदम रसूल, में एक मुसलमान सज्जन को कोई बड़ा पत्थर गड़ा दिखाई दिया। खोदने से जान पड़ा कि वह एक मूर्ति की चौकी थी। मूर्ति निकलते ही बाँस की छतरी बनाकर लोग उसे पूजने लग गए किंतु कई उत्साही खोजियों के उद्योग से यह मूर्ति बचाकर पटना म्यूजियम में पहुँचा दी गई। बिहार उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी के जर्नल की मार्च, १९१९ की संख्या में डाक्टर स्पूनर ने इस प्रतिमा के विषय में एक लेख लिखा है। यह किसी चामरग्राहिणी स्त्री की प्रतिमा है जो किसी मंदिर या महल की देवमूर्ति या राजमूर्ति के दाहिने हाथ पर खड़ी हुई परिचारिका हो। साधारण परिचारिका के भूषण तथा शृंगार इतने अधिक नहीं होते। मूर्ति तथा चौकी मिलकर साढ़े छः फुट ऊँची है। मूर्ति तथा चौकी चुनार के चकतेदार रेतीले पत्थर की एक ही शिला से गढ़ी हुई है। इस पर भी मौर्यकाल की वही चमत्कारी पालिश है जो कहीं-कहीं पानी या मैल के दागों से बिगड़ गई है, तो भी बाएँ कंधे, दाहिने हाथ, जाँघ और नंगी पीठ पर वही काँच की-सी चमक विद्यमान है जिसे मौर्यकाल (और उसके पूर्व के) शिल्पी ही चुनार के पत्थर पर ला सकते थे। अशोक के आज्ञास्तंभ सदा के लिये इस शिल्पकला-यश के ध्वज के समान हैं।

हिंदुस्तान में जो मूर्तियाँ या प्रतिमाएँ मिली हैं वे प्रायः पत्थर पर कोरकर ही बनाई हुई मिली हैं। कहीं कुराई से आकार, अंग, भूषण आदि अधिक उभरे हैं, कहीं कम, किंतु समूची मूर्ति ही तक्षण से प्रायः नहीं बनाई जाती है, पीछे पत्थर का आधार रख लिया जाता है। पिछला भाग पत्थर ही से चिपका रहता है। देवमूर्तियों में सहारे के लिये आभा, प्रभामंडल, तकिया, दंड या भुजा और जंघाओं के सहारे की आड़ी या खड़ी पत्थर की शिला रख ली जाती है। समूची मूर्तियाँ गुलाई में चारों तरफ से कोरी हुई, अँगरेजी स्टेच्यू के ढंग की, बहुत ही कम मिलती हैं। इंडियन म्यूजियम की दोनों विशालकाय (शिशुनाक) मूर्तियाँ, बेसनगर की स्त्री-मूर्ति, जो महाराजा सेंधिया ने वहाँ पर भेंट की है तेलिम मूर्ति, साँची की स्त्री-मूर्ति मथुरा की परखम मूर्ति, और यह प्रतिमा—ये मूर्तियाँ ही सुडौल गोल सब ओर से कोरकर बिना सहारे बनाई हुई मिली हैं। ऐसी बनावट

मे शिल्पी की वस्त्र और भाव बनाने की चतुराई पाई जाती है। ये सब मूर्तियाँ बहुत प्राचीन काल की एक ही शिल्प-सप्रदाय की होनी चाहिएँ।

यह प्रतिमा बहुत ही सुन्दर है, तो भी इसका आगा जितना अच्छा बना है पीछा तथा बगलें उतनी रमणीय नही। नीचे के भाग पर धोती को तरह एक ही वस्त्र पहनाया गया है। उसे सामने घनी चुनावट म समेटकर एक लबी लाँग के रूप म पैरों तक गिराया है। नितव पर उसकी सलवट तथा जघाओं पर उसकी मोड बहुत फबती है। बाएँ नितंब पर एक मोरी है जिसमे होकर वस्त्र का एक छोर पीठ पर से टेढा जाकर दाहिनी कुहनी पर टिककर बल खाता हुआ नीचे की ओर गिरा है। ऊपर का भाग नंगा है। दाहिने हाथ म चँवर बडी अच्छी धज से लिया हुआ है। भूषणों मे एक पाँच लडी की मेखला है। लडियाँ पीछे को छितरी हुई हैं किंतु आगे एक ही जगह सिमट गई हैं और दो घटी के-से छल्ला मे निकलकर लटकती लाँग के नीचे आ गई हैं। छल्ले, सभव है, सोने के हों, किंतु मेखला की कडियाँ शकरपारे के आकार के मूल्यवान् पत्थरो की हैं। प्रत्येक नगीने के दोनो ओर गोल मनके हैं। गले म बडे मोतियो की एक तिलडी है जिसकी ऊपर की लड कठ से चिपकी हुई है, बाकी दोनो छातियो तक आई हैं। कुडल डमरू के आकार के हैं, उनके नीचे के टोकन औंधे है। दाहिने हाथ मे १४ चूडियाँ हैं और कुहनी के पास उनके पीछे एक बडा कडा है। सिर पर मोतियो की लडें हैं जो ललाट पर एक गोल बिंदे मे सिमटी हैं और सिर पर भिन्न धाराओं म जाकर सुदर लटो के विशेष रूढि से गुँथे हुए केशपाश तक चली गई हैं। पैरो म घुँघरू हैं। क्या वस्त्र, क्या भूषण, और क्या सिर चेहरे तथा नेत्रो के भाव, सब मे प्रतिमा मनोहारिणी है। भावभगी बहुत ही नैसर्गिक है। कुछ उझकन और चमरवाले हाथ का बल अच्छी तरह दिखाया है। आँख का कटाक्ष ठीक वैसा ही है जैसा कुमराहर मे उपलब्ध मौर्यकाल के सिर मे है। नगे अगों की बनावट बहुत चमत्कारिणी है। नीचे तथा पीछे का भाग उतना अच्छा नहीं। पृथुजघना का कविसकेत ठीक निवाहा नही गया।

वेश मे बेसनगर की प्रतिमा की इससे समानता है। उसमे कौंधनी ऐसी ही है किंतु केशविन्यास और तरह का है। यह ऐतिहासिक पालिश भी उसमे नही है तथा और कई बातों म वह इससे भद्दी है। नीचे के भाग म उसमे भी यही न्यूनता है। अगों की बनावट मे भरहुत गैलरी की (शैशुनाक) प्रतिमाएँ इसके समान नहीं, किंतु भावगठन आदि म यह दीदारगज की चामरग्राहिणी तथा शैशुनाक मूर्तियाँ एक ही शिल्प-सप्रदाय की हैं।

सभव है कि यह मूर्ति किसी गणिका की हो। बौद्ध जातको (६।४३२) मे उल्लेख है कि राजमहलों मे मातृकाओं की सजीव-सदृश प्रतिमाएँ रहा करती थीं। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनुसार (पृष्ठ १२३) मातृकाएँ एक प्रकार की

दरबारी गणिकाएँ होती थी जो त्यौहारो के अवसर पर राजचिह्न (चामर, भृंगार आदि) लेकर राजा की सेवा मे उपस्थित होती थी। क्षेमेंद्र की समय-मातृका मे ऐसी ही चतुर मातृका (गणिका, वारस्त्री) की कथा है। कवियो ने 'एतासामरविन्दसुन्दरदृशा द्राक् चामरान्दोलनादुद्वेल्लद्भुजवल्लिकंकणझणत्कार.'[1] तथा 'लीलावलयरणित चामरग्राहिणीना'[2] का वर्णन किया है। यह विभूषण-विभूषित प्रतिमा भी किसी गणिका की होगी जो किसी राजमहल के सहन मे रखी गई होगी।

अस्तु, यह प्रतिमा भी मौर्य-पालिश के कारण यक्षिणी मानी गई। पटना म्यूजियम मे इस पर यक्षिणी का टिकिट (लेबल) लगाया जाने लगा। जायसवाल महाशय ने सोचा कि भारतवर्षीय शिल्प मे साकेतिक व्यवहार यह है कि यक्षो तथा यक्षिणियो की नाक चिपटी और गाल की हड्डियाँ निकली हुई होती हैं। इस गोल ठुड्डी तथा उभरे वक्षस्थल की आर्यमहिला को यक्षिणी क्यो कहा जाता है? तब कनिंगहाम साहब की दुहाई देकर कहा गया कि इडियन म्यूजियम की भरहुत गैलरी की विशालकाय प्रतिमाएँ भी तो उन पर के लेखो से यक्षो की सिद्ध होती हैं।

इस पर जायसवाल महाशय ने उन मूर्तियो पर के लेखो की छापो को देखा तो उन पर यक्ष पद ही कही न था।

मूर्तियो का विवरण

मूर्तियाँ मिरजापुर या चुनार के मटमैले रेतीले पत्थर की बनी हुई हैं। इन पर मौर्य-पालिश है। जहाँ मूर्तियाँ पहले थी वहाँ अवश्य अग्निकोप हुआ होगा, उसी से रग पीला पड गया है। इसी तरह के पत्थर पर अशोक के स्तभाभिलेख हैं और अशोककालीन प्रतिमाएँ भी इसी पत्थर की मिली हैं। उन सब पर भी यही उत्कृष्ट पालिश है। दोनो मूर्तियो के हाथ टूटे हैं। अज की मूर्ति मे धोती के फूँदे तथा पैर पलस्तर से भद्दी तरह पुन बनाए गए हैं। नदि की मूर्ति के सिर नही है। अज के नाक आदि कुछ खडित हैं। उसके दुहरी ठुड्डी है। बाल किसी विशेष शैली से पीछे की ओर सँवारे हुए हैं। चेहरे पर दाढी-मूँछ नही है। मूर्ति छ फुट ऊँची है। नदि की मूर्ति उससे कुछ ऊँची, गठीली और मोटी है। वर्त का अर्थ पीतल या लोहा होता है सो मूर्ति देखने से 'वर्तनदि' नाम दृढता के विचार से अन्वर्थ जान पडता है। प्रतिमाओ मे सजीवता है, जीव-सदृश कल्पना है। नीचे का वस्त्र धोती है, आगे वह कुछ ऊँची है जिससे पैर दिखाई

1 भोजप्रबध।
2 उदभट।

देते रहे। पीठ की ओर लगातार सलवटों की लहरों से धोती एड़ी तक दिखाई गई है। धोती के पीछे लाँग या मोरी लगी हुई नहीं है। धोती के ऊपर सलवटदार गुलाईवाला कमरबंद है जो धोती तथा मिरजई को सँभाले हुए है। इस कमरबंद पर धोती के छोर की फूलदार घुलवाँ गाँठ है जिससे गुलाईदार पल्ले लटके हुए हैं। उनके सिरों पर फुँदे हैं। पल्ले तथा सिमटी धोती की बत्ती और फुँदे अच्छे बने हैं। ऊपर का वस्त्र एक चौड़ा दुपट्टा या उत्तरीय है जो सामने बाएँ कंधे के ऊपर से गया है। पेट पर वह जनऊ की तरह पड़ा है। बीच में छाती पर दुपट्टे में एक गुलाईदार गाँठ है। पीठ पर भी दुपट्टा तिरछी सलों में सिमटा हुआ गया है। बाएँ कंधे पर से उसका पल्ला नीचे एड़ी तक चुनावटदार लंबाई में लटक रहा है। अज की बाँह पर अंगद ठीक वैसा ही है जैसा भरहुत स्तूप के कठहरे के राजाओं की मूर्तियों में है। नंदि के अंगद मकर-मुख हैं, उन पर स्वर्णकारों के सांकेतिक बेल-बूटे हैं। अज के कानों में कुंडल हैं। दोनों में दुपट्टे के नीचे एक अधोवस्त्र मिरजई का-सा होना चाहिए। मोटे निकले हुए पेट, कमर की त्रिवलि तथा नाभि का विन्यास यही सूचित करते हैं। इस मिरजई की कंठी पर बुनावट के काम का हाशिया है। दोनों मूर्तियों में इसकी बूटेकारी न्यारी-न्यारी है। गले में एक चाँद या निष्क है। इस गहने की डोर पीछे बँधी हुई है और उसके फुँदे लटक रहे हैं। वैदिक राज्याभिषेक प्रकरण में भी ऐसे ही वस्त्र वर्णित हैं। जूतों का वर्णन प्राचीन काल से चला आता है, किंतु मूर्तियों में नंगे पैर दिखाने का कदाचित् यह आशय है कि प्रजा राजा के पैरों को पूजती थी।[1] नंदि के कंधे पर एक चँवरी है।

[1] राजसूय प्रकरण में इतने वस्त्रों का वर्णन* है—(१) तार्प्य-तार्प्य या क्षौम, तृपा या क्षुमा नामक रेशेदार घास का बना हुआ एक तरह का सनिया या टसर होता था या जिसे बुनते समय तीन बार जल या घी से तर किया जाता था। यह भीतर का वस्त्र होता था जिस पर यज्ञपात्रों की मूर्तियाँ सुई के काम से काढ़ी हुई होती थीं। (२) पाण्ड्व कंबल, बिना रँगे ऊन का ऊपर का वस्त्र। (३) अधीवास, लबादा या चोगा। (४) उष्णीष, लंबी पगड़ी जिसे सिर पर लपेटकर दोनों छोर कमर की मोरी में या नाभि के पास खोंसे जाते थे। कुछ लोग सिर पर ही लपेटते थे, नाभि के पास नहीं खोंसते थे। (स्त्रियाँ भी उष्णीष बाँधती थीं, क्योंकि एक जगह 'इन्द्राण्या उष्णीष' कहा है) इन चारों वस्त्रों को रूपक से गर्भरूप क्षत्र (क्षत्रियत्व) के उल्व, जरायु, योनि और नाभिनाल कहा है। (५) वराहचर्म के जूते—बिना केशवपनीय इष्टि किए वर्ष भर तक राजसूययाजी को बाल न मुँड़वाने चाहिएँ और गद्दी पर भी जूते पहने ही बैठना चाहिए। (देखो, शतपथ ब्राह्मण, ५।२-५, 'मर्यादा', दिसम्बर-जनवरी १९११-१२, में मेरा लेख×)। सूर्य की मूर्ति में घुटनों तक के फुटबूट होते हैं और सब देव-मूर्तियों के पाँव नंगे बनाए जाते हैं।

* दे०—इस ग्रंथ में पृष्ठ ७९-८०—संपादक।

× दे०—इस ग्रंथ में पृष्ठ ७२ से ८८—संपादक।

मौर्य-पालिश और शिल्पकार

कंधे पर से दुपट्टे का जो पल्ला नीचे तक लटका है उस पर सलवट की समानान्तर गहरी रेखाएँ हैं। उन रेखाओं के नीचे, कंधे के पास ही, लेख हैं। दुपट्टे की सलवट बनाने के पहले ही शिल्पी ने लेख के अक्षर खोदे थे। वस्त्र की रेखा अक्षरों को बचाकर गई है, उनके ऊपर से गई है, उनके रहते हुए बनी है। चतुर शिल्पी ने अक्षरों के रहते हुए भी वस्त्र की भंगी को नहीं बिगड़ने दिया। कनिंघम साहब इन मूर्तियों को अशोक-काल की मानते थे, किंतु लेख के अक्षरों को नवीन समझकर उन्हें ईसवी सन् के आरंभ की कह गए। कलकत्ता विश्वविद्यालय के भारतीय शिल्प के वाचक अरुण सेन महाशय का मत है कि अक्षर दुपट्टे की रेखाओं से पहले बने हैं, तथा शिल्प-संबंधी विचार से मूर्तियाँ मौर्यकाल के पूर्व की हैं। मौर्यकाल में शिल्प में एक प्रकार की उन्नति या अधःपात दिखाई देता है। इन प्रतिमाओं में उस शिल्प का प्राचीन युग है। दोनों प्रतिमाएँ एक ही उस्ताद के हाथ की नहीं, तो भी दोनों कारीगर एक ही संप्रदाय के थे। केशों की सांकेतिक बनावट, पैरों का पारिभाषिक भद्दापन, सब इस शिल्परूढ़ि का पुरानापन सिद्ध करते हैं। मौर्य-पालिश कहती है कि ये मूर्तियाँ मौर्यकाल से पीछे की नहीं हो सकतीं। लेख उसी समय के हैं जिस समय की प्रतिमाएँ हैं। लिपि मौर्यकाल से प्राचीन है, मौर्यलिपि की पूर्वज लिपि है। अतएव प्रतिमा तथा लेख, शिल्प तथा लिपि विचार से, मौर्य-काल के पहले के हैं। रहे पालिश और उसके ईरानी जन्म, सो यही दर्पणाकार चमकदार पालिश बाबू शरच्चन्द्र दास ने जायसवाल महाशय को एक 'वज्र' पत्थर के टुकड़े पर दिखाई जो मौर्यकाल से भी बहुत प्राचीन है। शाक्यस्तूप के पिपरावाटे के पात्र (पिपरावा पात्र) पर भी, जो मौर्यों से पहले का है, यही पालिश है। इन्हीं मूर्तियों की प्राचीनता इस पालिश की प्राचीनता सिद्ध करती है। अतएव इस पालिश का जन्म हिंदुस्तान में, जहाँ वह 'वज्र' बना, मानना चाहिए, पर्शिया (ईरान) में नहीं।

चँवरी

नंदि के कंधे पर चँवरी देखकर यह कहा जा सकता है कि यह राजा की मूर्ति नहीं है, किसी परिचारक या यक्ष की है, किंतु यह साधारण नियम नहीं कि राजा चँवरी हाथ में न रखे या परिचारक ही चँवरी रखे। अजंता की गुफा में एक चित्र है जिसमें रानी थाली पर कमल रखकर एक राजा के सामने पेश कर रही है। यह राजा हंसजातक का राजा है क्योंकि सिंहासन पर हंस बने हुए हैं। उसके हाथ में चँवरी है। और भी कई राजाओं के चित्रों में हाथ में चँवरी है। एक सचित्र जैन रामायण में राजाओं के हाथ में चँवरियाँ बनी हुई हैं।

मुसलमानी समय के चित्रो मे हाथ मे चँवरी देना एक सौंदर्यकला थी। जैन यति चँवरी (पिच्छिका) हाथ मे रखते थे।

लिपि-विवेचन

मूर्तियो को अशोक के समय की मानने को तैयार होकर भी जिन 'पीछे के', ईसवी सन् के प्रारभ के आस-पास के, अक्षरो के भरोसे जेनरल कनिगहाम ने पुरानी न समझा या वे अक्षर विचार करने पर बडे अद्भुत निकले। हिंदुस्तान की प्राचीन लिपियो मे जितने प्रकार के अक्षर मिले है उनमे से किसी शैली से भी वे पूरी तरह नही मेल खाते। ये अति प्राचीन ब्राह्मी अक्षरो से भी प्राचीन रूप जान पड़े। इन अक्षरो का पढना यही मानकर समव हो सका है कि ये अशोक लिपि के अक्षरो के भी मूल अक्षर है, अर्थात् जिन अपरिस्फुट, श्रमसाध्य वर्णो का व्यवहार करते करते परिमार्जित होकर अशोकलिपि के सुडोल अक्षर विकसित हुए हैं, वे वर्ण ये ही हैं।

सिरवाली प्रतिमा पर का लेख, जायसवाल महाशय के अनुसार, भगे अचो छोनीधीशे है। पहले दो अक्षर अलग खोदे हैं, मानो पदच्छेद किया है। दूसरे दो अक्षर कुछ बडे हैं तथा यह जोडा भी पृथक् है, मानो नाम होने के कारण न्यारा पद बनाया गया है। पहला अक्षर 'भ' है। यह कलम को तीन दफा उठाकर तीन रेखाओ से बना है। अशोकलिपि का 'भ' दो ही रेखाओ से बनता है। इसी से उसमे ऊपर की ओर नोक-सी उठ गई हुई मिलती है। अर्थात् यह 'भ' पूर्वरूप है। अशोकलिपि का 'भ' मँजा हुआ है। दूसरा अक्षर 'ग' है। बाईं ओर की रेखा के अत मे नोक है और दाहिनी ओर की कुछ टेढी है। अशोकलिपि के 'ग' की दोनो रेखाएँ या तो कलम उठाए बिना ही बनती हैं, या दोनो अश सहज और समान बने होते हैं। भट्टिप्रोलु के लेख के 'ग' मे दोनो रेखाओ मे असमानता रह गई है। यो यह अक्षर भी अशोकलिपि के 'ग' का पूर्वरूप हुआ। तीसरे अक्षर 'अ' को देखिए। इस प्राचीन रूप मे दोनों कान बहुत विलग हैं। धीरे-धीरे उनकी गुलाई घटी, वे पास-पास आए और दो रेखाओ से बननेवाला अशोकलिपि का 'अ' बन गया। चौथे अक्षर 'च' मे यह विशेषता है कि इसकी खडी लकीर नीचे के अक्षराश से पृथक् रहकर आगे को बढी हुई है। यह तीन रेखाओ से बना है। अशोकलिपि का 'च' दो ही रेखाओ से बना है—एक तो ऊपर की खडी रेखा, दूसरी नीचे के वर्ण को कलम बिना उठाए बनाती है। अशोक के गिरनार लेख मे 'च' का एक नमूना इससे कुछ मिलता है। पुराने जाने हुए अक्षरो मे यह 'च' ही मूर्ति के 'च' से मिलता है। पाँचवें तथा छठे अक्षर 'छ' तथा 'न' तीन-तीन रेखाओ से बने हैं। अशोकलिपि मे वे दो दो रेखाओ से बने जान पडते हैं। इस 'न' तथा अशोक के समय के 'न' की समानता केवल दिखाई देने की है, वास्तव

नही। सातवाँ अक्षर 'ग' नही हो सकता, 'ट' नही हो सकता (क्योकि ये अक्षर स्थानातर मे इन्ही मूर्तियो पर असदिग्ध मिलते हैं), 'ए' नही हो सकता (क्योकि ई की मात्रा स्पष्ट लगी हुई है), यह अशोकलिपि के 'घ' का ही पूर्वरूप माना जा सकता है। ऊपर से दो रेखाएँ नीचे की ओर खीचकर नीचे एक आधार की रेखा उन दोनो को मिलाती हुई बनाने से यह तीन कलमो से बना है। अशोक का 'घ' इसी का विगडा या सुधरा रूप है जो एक सीधी तथा एक गुलाईदार रेखा से बनता है। भट्टिप्रोलु के स्तूप का 'घ' इस 'घ' तथा अशोक के 'घ' का मध्यवर्ती रूप जान पडता है। अतिम अक्षर 'श' है। यह तीन रेखाओ से बना होने से ईसवी चौथी शताब्दी का 'के' नही हो सकता। यह भी भट्टिप्रोलु के 'श' तथा अशोकलिपि के 'श' का पूर्वज है। ऊपर की मध्यरेखा पिछले रूपो मे छोटी होती चली गई है, ऊपर का भाग बिलकुल न रहकर नीचे का अश दोनो ओर की रेखाओ से लबा हो गया है। इस 'श' मे ये रेखाएँ ऊपर की ओर है, किंतु पिछले रूपो मे नीचे की ओर हैं।

बिना सिर की मूर्ति का लेख यह है—सपखते वट नदि या वपखेते षेट नदि।

पहला अक्षर 'व' का पुराना रूप हो सकता है, किंतु मूर्ति की कोहनी से ऊपर की सलवट तक एक पतली रेखा और है, जो या तो पत्थर की दर्ज है या सलवट का ही अश हो। उसे इस अक्षर का भाग न मानें तो यह 'स' है। इस अक्षर के तीन अश हैं—एक तो भीतरी रेखा से नोक तक, दूसरा नोक से दूसरे अक्षर की आडी रेखा तक अर्द्धवृत्त, तीसरा नोक के ऊपर का सिरा। अशोकलिपि मे 'स' और 'व' दोनो द्विरेखात्मक वर्ण हैं, उनमे बिचली रेखा सीधी नही होती। वस्तुत 'स', 'श', 'व' मे उतना भेद न उस समय की भाषा मे था, न लिपि मे। दूसरा अक्षर तीन भिन्न रेखाओ से बना है, एक दाहिनी ओर की सकोण रेखा ऊपर से नीचे को, दूसरी बाई ओर नीचे से ऊपर को, तीसरी आधार रेखा। यह बनावट 'प' की है, 'ल' की नही। दाहिनी रेखा बाँई से कुछ छोटी है। अशोक-लिपि के 'प' के एक ही कलम से बनने से उसकी बाँई रेखा बहुत ही छोटी होती गई है। यह 'ब' भी हो सकता है। तीसरा अक्षर 'ख' है जो चार रेखाओ से चौखूँटा बना है, ऊपर को तुर्रा है। अशोकलिपि मे चारो खूँटें गुलाई पा जाती है जिससे चारो रेखाओ का पृथक्त्व मिट सा जाता है। तुर्रा भी नीचे लटक आया है, उसकी नोक मिट गई है, मानो लिखना अधिक सरल और सहज हो गया है। चौथे अक्षर 'त' की दो टाँगें हैं और ऊपर सिर अलग जोडा है। अशोक के समय तथा पीछे के 'त' दो ही रेखाओ से बने हैं। पाँचवें अक्षर 'व' मे बगलो की दोनो रेखाएँ कुछ गुलाई लिए हुए हैं। आधार रेखा आडी पृथक् है। ऊपर को खडी लकीर है। भट्टिप्रोलु का 'व' इससे कुछ मिलता है। अशोकलिपि का 'व' बिल-

कुछ गोल हो गया है। एक वृत्त और दूसरी ऊपर की खड़ी रेखा, यों दो ही रेखाओं का बनता है। छठा अक्षर 'ट' अशोकलिपि का है। सातवाँ 'न' पटना मूर्ति में भी है। अन्तिम अक्षर तीन बार कलम उठाकर बनाया है। किसी के अशोक लेख का 'ह' इससे कुछ मिलता है, बाकी 'ह' एक ही कलम से बनते थे।

मात्राओं में 'ए' की मात्रा अक्षर की बाईं ओर एक आड़ी या तिरछी रेखा है (देखो ने, शे, खे, ते)। यही मात्रा बढ़कर पीछे बंगला में बाईं ओर आ गई, जैन पोथियों में पड़ी मात्रा हो गई और हिंदी में वर्ण के ऊपर चली गई। ओ की मात्रा वर्ण के सिर पर आड़ी रेखा है (देखो को, तो, मे सिरे की मुटाई। 'ते' पर 'ए' की मात्रा 'ओ' की सी है)। 'इ' की मात्रा वर्ण पर एक खड़ी रेखा (देखो वि) और ई की मात्रा दो खड़ी रेखाएँ हैं (देखो, मी, पी)। अनुस्वार (सं पर) स्पष्ट है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि पहले जो अक्षर तीन या अधिक रेखाओं से कलम उठाकर बनाए जाते थे, वे अशोकलिपि में दो एक रेखाओं से बिना कलम उठाए बनने लगे। ये अक्षर आयास साध्य हैं, अशोक के अक्षर अनायास बनते हैं। विकासक्रम से धीरे तथा श्रम से बननेवाले अक्षर (जैसे इन मूर्तियों के) पुराने होते हैं, गुलाईदार (घसीट या शिकस्ता) पीछे के। इन अक्षरों तथा अशोकलिपि के अक्षरों में विकास का वही संबंध है जो अशोक के लेख तथा रुद्रदामन् के लेखों में है।

यह संभव है कि मौर्यकाल के पहले दो तरह की लिपियाँ प्रचलित हों, दोनों पहले की मूल ब्राह्मी के रूपान्तर हों। उनमें से एक के अक्षर तो ईसवी पूर्व पाँचवीं शताब्दी के ये ही हैं, दूसरी आगे चलकर मौर्यों की राजलिपि हो गई हो। उधर दक्षिणी लिपि, मथुरा, पभोसा, हाथीगुम्फा के लेखों के कई अक्षर इन्हीं मूर्तियोंवाली लिपि के सदृश हैं। मौर्य काल के पीछे एक ही काल की लिपियों में इतने अधिक भेद मिलते हैं कि बिना दो मूल लिपि माने ईसवी सन् पूर्व तीसरी शताब्दी की एक ही मूल लिपि से वे सब निकले हों यह मानना कठिन है। बौद्ध तथा जैन पुस्तकों में ब्राह्मी लिपि के साथ-साथ ही पोक्खरसादी लिपि का भी नाम मिलता है। संभव है कि ये इन्हीं दोनों पुरामौर्य लिपियों के नाम हों।

लेखों का अर्थ तथा उनकी भाषा

भगे अचो छोनीधीशे का अर्थ 'भगवान् (=ऐश्वर्ययुक्त) अच (अज) क्षोणि+अधीश (=पृथ्वीपति)' है। भगे वैदिक साहित्य में आता है जिसका अर्थ संबोधन में ऐश्वर्ययुक्त स्वामी या महामहिम प्रभु होता है। दूसरे लेख का

अनुवाद यह होगा—'सर्वक्षेत्र [पति] या सर्वक्षिति [पति] वर्त नदि'। सप को षप या सब पढ़ने से या वट को वेट पढ़ने से भी इन प्राकृत शब्दों की संस्कृत छाया सर्व और वर्त ही रहेगी। अर्थशास्त्र (पृष्ठ ३३८) में राज्य के अर्थ में क्षेत्र पद आया है। बौद्ध धर्म-ग्रंथों की पाली भाषा ही इन लेखों की भाषा है। शैशुनाक काल में वही राजभाषा रही हो यह प्रतीत होता है संस्कृत नहीं। इस भाषा में 'ज' को 'च' हो जाता है (अजो का अचो)। वैयाकरणों ने इसे उत्तर-पश्चिमी प्राकृत अर्थात् राजकीय पाली का एक लक्षण माना है (जैसे प्राजन का प्राचन, अशोक लेखों में व्रजन्ति का वचन्ति)। सर्व का सप होना भी पाली के अनुकूल ही है (जैसे प्रजापती का पजापति)। क्ष का छ (क्षोणी का छोनी) भी पाली लेखों में बहुत मिलता है (जैसे क्षुद्र का छुद्दो)। क्षोणि + अधीश की संधि छोनीधीशे (संस्कृत क्षोण्यधीश) होना पाली व्याकरण से सिद्ध है। भगे तथा क्षेत्र शब्दों का प्राचीन अर्थों में प्रयुक्त होना भाषा की प्राचीनता सिद्ध करता है।

इतिहास

पुराणों में पाटलिपुत्र के शैशुनाक राजाओं की नामावली में नदिवर्धन का नाम है। इसमें नाम तो नदि ही है, वर्धन विजयसूचक उपाधि है, नाम का अंश नहीं, जैसे हर्ष के लिए हर्षवर्धन, अशोक का अशोकवर्धन। वायु ब्रह्माण्ड तथा मत्स्य पुराणों में नदि को उदयिन् का पुत्र लिखा है। विष्णुपुराण में उदयिन् को उदयाश्व कहा है। भागवत में नदि को आजेय अर्थात् अज का पुत्र लिखा है और उदयिन् के स्थान पर अज नाम दिया है। उधर आवंती की राजनामावली में प्रद्योतवंश के समाप्त होने पर नदिवर्धन का नाम है। ये दोनों नदि एक ही हैं, अर्थात् पाटलिपुत्र का नदि ही अवंती (उज्जैन) का राजा भी हुआ। वहाँ पर वायु ब्रह्माण्ड और विष्णुपुराणों में उसके पिता का नाम अजक या अज लिखा है। मत्स्यपुराण की एक पुरानी प्रति में अज को शैशुनाक कहा गया है। अतएव कोई संदेह न रह गया कि शैशुनाक नदि के पिता उदयिन् और अवंती के नदि के पिता अज दोनों एक ही व्यक्ति हैं। अज तथा उदयिन् दोनों का अर्थ सूर्य होता है, इसीलिए मत्स्यपुराण में प्रद्योतवंश के प्रसंग में इस राजा का नाम सूर्यक लिखा गया है। वायुपुराण में अवंती के वंश में नदिवर्धन का पाठांतर वर्तिवर्धन भी मिलता है, वर्ति का प्राकृत रूप वट्टि या वटि होता है। मूर्ति के लेख से अनुमान कर सकते हैं कि प्राकृत वट या वेट का संस्कृत रूप 'वर्त' होना चाहिए, वर्ति नहीं। पोथियों की २३०० वर्ष की लेख परंपरा में एक मात्रा की गड़बड़ क्षंतव्य है।

पुराणों में नदि के पुत्र का नाम महानदि या महानंद दिया है। उत्तरी बौद्ध ग्रंथों में उसे नंद और महानंद लिखा है। जैन लोग नंद, उसके पिता और पुत्र

तीनों के लिये नद नाम का ही व्यवहार करते हैं। खारवेल के लेख मे भी नद ही नाम दिया है। पुराणो मे 'नद राज्य' का काल १०० वर्ष दिया है जिसमे अनिरुद्ध के राज्य के ६, मुड के ८, नदिवर्धन के ४०, महानद के ३५ और महानद के पुत्रो के ८ वर्ष सम्मिलित हैं। मुड और अनिरुद्ध वर्तनदि के भाई थे। यो पुराणो मे भी नदिवश को नदवश कह दिया है। ये शैशुनाक नद थे, इनके पीछे जो सकर नद हुए उन्हे नवनद (नए नद) कहा गया है। एक जैन ग्रथ मे जिस नद को चद्रगुप्त मौर्य ने हराया उसे नवनद कहा है।

अज-उदयिन् का समय ई० पू० ४८३ से आरभ होता है और पुराणो के अनुसार ४४६ ई० पू० तथा बौद्ध लेखो के अनुसार ई० पू० ४६७ तक है। नदि के राज्य का अत पुराणो के अनुसार ४०६ ई० पू० है। अतएव प्रथम मूर्ति का काल ई० पू० ४६७ से ४४६ तक है, तथा द्वितीय मूर्ति का ई० पू० ४०६ है, क्योकि मूर्तियाँ राजाओ के परलोकवास के पीछे देवकुल मे स्थापित की गई होंगी।

जैन लेखो मे अवती के इतिहास के वर्णन मे नद वश का वर्णन करते समय पालक वश के पीछे उदयिन् का राज्य करना लिखा है। पुराणो के अनुसार नदि अवती का विजेता मान लिया गया था इसलिए पौराणिक और जैन लेखो मे यह विसवाद प्रतीत होता था। अब अज और उदयिन् की एकता स्थापित हो जाने से और पुराणो मे शैशुनाग अज का अवती की वशावली के अंत मे नाम होने से यह भेद मिट गया। उदयिन् (अज) ने ही अवती को जीतकर मगध का राज्य बगाले की खाडी से अरब सागर तक फैलाया और अवती का जो आतक शताब्दी भर से मगध के सिर पर था उसे दूर किया।

प्रद्योतवश का अत विशाखयूप नामक राजा से हुआ। विशाखयूप को ही आर्यक गोपालक मानना चाहिए। भास तथा कथासरित्सागर (अर्थात् बृहत्कथा) के अनुसार वह प्रद्योत का पुत्र था और मृच्छकटिक के अनुसार वह पालक के प्रजापीडन से विप्लव होने पर राजा हुआ।

पुराणो में अवती मे अज का राज्यकाल २१ वर्ष और मगध मे उदयिन् का राज्य ३३ वर्ष लिखा है। उदयिन् के राज्यकाल के १२वें वर्ष (ई० पू० ४७१ के लगभग) अवती के राजवश का अत हुआ होगा। जैन-वशावलियो के अनुसार अजातशत्रु के राज्य के छठे वर्ष मे पालक (अवती की) गद्दी पर बैठा। अजातशत्रु के छठे वर्ष तथा उदयिन् के १२वें वर्ष का अतर ७४ वर्ष होता है। अर्थात् पालक और विशाखयूप ने ७४ वर्ष राज्य किया। पुराणो मे इन दोनो का राज्यकाल भी २४ और ५० अर्थात् ठीक ७४ वर्ष ही दिया है। किंतु जैन वशावलियो मे इन दोनो के ६० या ६४ ही वर्ष दिए हैं जिसका समाधान यह हो सकता है कि मृत्यु के पहले दस वर्ष तक विशाखयूप मगध के उदयिन् राजा के अधीन रहा हो, अर्थात् उसका अस्तित्व पराधीन होकर भी बना रहा हो या उदयिन् ने अवती

मे राजा होने के समय से उसका राजकाल न गिनकर मगध मे गद्दी पर बैठने के समय से गिन लिया गया हो और पालक के पीछे उसी का समय गिनने से प्रद्योतवश के वर्ष कम रह गए हों।

पुराणो मे अवती मे (प्रद्योत) राजवश के समाप्त हो जाने पर भी वहाँ की वशावली जारी रखी, इसका अर्थ यह हो सकता है कि उदयिन् ने विजेता होकर भी यावज्जीवन अवती के राज्य का मगध से पृथक्त्व रखा और उसके पुत्र नदि ने भी ३० वर्ष तक वैसा ही किया। मत्स्यपुराण मे अज और नदि के राजकाल का योग ५२ वर्ष दिया है। अज के २१ तथा नदि के ३० वर्ष पृथक् पृथक् भी दिये हैं। मत्स्यपुराण की कुछ प्रतियो मे लिखा है कि इन ५२ वर्षों के पीछे पाँच प्रानद्यो का राज्य रहा। नदि के पीछे पिछले (नवीन) नदा को मिलाकर अवश्य ही पाँच नद हुए।

नदि ने अपने पिता उदयिन् की राजधानी पाटलिपुत्र को छोड़कर लिच्छिवियो के गणराज्य की राजधानी वैशाली मे गगा पार दूसरी राजधानी बनाई। बौद्ध तारानाथ ने नदि को वैशाली मे राज्य करता हुआ लिखा है। सुत्तनिपात मे, नदि के समकाल मे, वैशाली को मगध की राजधानी लिखा है। उसी के काल में वैशाली मे बौद्धा का दूसरा सघ हुआ था। बौद्ध कथानक यह है कि पाणिनि उसी की राजसभा मे आया। मगध का राज्य बढाकर उसने वर्धन उपाधि को चरितार्थ किया और कदाचित् इसीलिये राजधानी पाटलिपुत्र से आगे को हटाई। उत्कल का विजय भी उसी ने किया।

वाद विवाद

जायसवाल महाशय का लेख छप जाने के पीछे इन मूर्तियो के विषय मे बहुत कुछ वाद विवाद हुआ है। इस विवाद के मुख्य प्रश्न ये है—

मूर्तियाँ यक्षो की हैं कि राजाओ की ?

लेखो का पाठ जो जायसवाल महाशय ने पढा है वही ठीक है कि और कुछ ?

लेख मूर्तियो के समकालिक है या पीछे के ? यदि समकालिक हैं तो अपेक्षाकृत नवीन लिपि पुरानी मूर्तियो पर कैसे ? अथवा नए अक्षरोवाली मूर्तियाँ पुरानी क्योकर हो सकती है ? यदि पीछे के अक्षर है तो मूर्तियो का वस्तुतत्त्व वे कैसे दिखा सकते हैं ?

मगध और अवती के इतिहास के अज और उदयिन् तथा दो नदिवर्धनो की एकता जो जायसवाल महाशय ने स्थापित की है वह कहाँ तक ठीक है ?

इस विवाद ने कभी कभी सनातन धर्म और सुधारको के विवाद का रूप धारण कर लिया है। जैसे पाणिनीय व्याकरणवाले यह दुहाई दिया करते है कि

"सामर्थ्ययोगान्न हि किंचिदत्र पश्यामि शास्त्रे या यदनर्थकं स्यात्" और "अपाणिनीय तु भवति, यथान्यासमेवास्तु" कहकर नई कल्पनाओं का मुख बंद करते हैं, वैसे "अवनिगहामीय" या "अबूलरीय" होने के भय से यक्षमूर्ति, मौर्य पालिश के ईरानी जन्म, और पिछले अक्षरों का सिद्धांत सहसा छोड़ा नहीं जाता। पुरातत्त्व की खोज में भी धर्म की तरह कुछ सिद्धांत जम से जाते हैं, उन्हें उखाड़ने में देर लगती है। पहले मानते थे कि संस्कृत कोई भाषा ही न थी, ब्राह्मणों की कल्पना है। यह माना जाता था कि क्या नाटक और क्या शिल्प हिंदुस्तान में यूनानियों के आने के पीछे चले, नाट्यशास्त्र और गांधार-शिल्प में ग्रीस की सभ्यता का अनुकरण ही है। भागवतसंप्रदाय और भक्तिमार्ग में भी कृस्तान धर्म के आदिकाल की छाया दिखाई पड़ती थी। ये सिद्धांत अब हट गए हैं। रतन ताता के दान से पटने की खुदाई होने पर ईरानी शिल्प और मय असुर के शिल्प की कल्पना हुई है। पटने का राजप्रासाद ईरानी राजा दारा के महल और स्तंभों का अनुकरण माना गया। अशोककालीन स्तंभों तथा मूर्तियों पर की पालिश ईरानी पालिश ठहराई गई। पिपरावा स्तूप के पात्र पर वैसी पालिश उपलब्ध होने पर भी यह कहा गया कि स्तूप पुराना है, पात्र पीछे से उसमें रखा गया है। सुधारकों के कहने से सनातन धर्म छोड़ने पर लोग सहसा तैयार नहीं हो जाते। पहले हिंदुस्तान भर में एक साम्राज्य रहा हो यह कोई न मानता था। शहबाजगढ़ी से मैसूर तक अशोक के लेख मिलने से अब वह संस्कार टूटा है। हिंदुस्तान में कभी प्रजातन्त्र या गणराज्य की कल्पना हुई हो यह कौन मानता था? गणों के सिक्कों, प्रजा की समितियों, राजा की स्वेच्छा पर प्रजा के दबाव आदि बातों का अब पता चल रहा है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के मिलने के पहले हिंदू दंडनीति के विकास की कथा भी नहीं थी। पीटर्सन को तो वात्स्यायन कामसूत्र में भी ग्रीस के प्रभाव का गंध आया था। पहले मौर्यकाल से पहले राजवंशों की बात कोई न मानता था। पुराणों को इतिहास के बारे में देखने योग्य नहीं माना जाता था किंतु पार्टिजर ने पुराणों की वंशावलियों का समीकरण तथा विश्लेषण करके पूरा इतिहास बना दिया है और अब वही वेदों के ऋषियों तथा क्षत्रियवंशों का इतिहास बना रहा है। जहाँ श्रद्धा समूल या निर्मूल जम जाती है वहाँ से उसे उखाड़ने में क्लेश ही होता है। इस विवाद ने कुछ राजनैतिक रूप भी धारण किया है। बिहार के नए प्रांत का इन मूर्तियों पर दावा होकर कलकत्ते के इंडियन म्यूजियम से कहीं ये हटाई न जायें इसकी चिंता "पुराने" खोजियों को हुई है। अस्तु।

बिहार उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी के जर्नल के जून, सन् १९१९ के अंक में बाबू राखालदास बनर्जी ने इन मूर्तियों पर एक लेख लिखा है। उन्होंने अजो और वटनंदि पाठ को ठीक माना है। वे कहते हैं कि ये मूर्तियाँ अज तथा वर्तनंदि नामक शैशुनाक राजाओं की ही हैं। अब तक भारतीय शिल्प के जितने नमून

मिले हैं उन सब मे ये प्रतिमाएँ प्राचीनतम युग की हैं। अभी तक लोग कुशन सम्राट् कनिष्क प्रथम की प्रतिमा को ही सब से प्राचीन मानते थे। डाक्टर ब्लाख ने भी इनके ऊपर के लेखो को पढने का यत्न किया तथा नदि पद पढ भी लिया था, किंतु उनकी खोज अधूरी ही रही। सन् १९१३ मे डाक्टर स्पूनर ने यह माना था कि पालिश तो कहती है कि ये मूर्तियाँ मौर्य शिल्प की हैं किंतु लेख उनसे पीछे के है। बनर्जी महाशय भी यही मानते हैं कि लेख पीछे के हैं, ईसवी पूर्व या ईसवी पहली शताब्दी के हैं। बनर्जी महाशय के मत मे 'सपखते' मे दूसरा अक्षर प नही ब है। इससे अर्थ मे कोई अतर नही पडता। अज की मूर्ति पर के लेख मे वे भ, धी और शे के पाठ को ठीक नही मानते। भ तो किसी प्रकार भ हो भी सकता है किंतु 'धीशे' 'वोके' है। इस लेख मे प्रत्येक अक्षर की बनावट का विचार करके सिद्ध किया है कि अक्षर ईसवी पूर्व की पहली शताब्दी से पहले के नही हो सकते। उन्होने उस समय के भिन्न-भिन्न शिलालेखो के वर्णो से इनकी समानता दिखाई है। अत मे यह माना है कि शैशुनाको के देवकुल मे इन्ही राजाओ की ये प्रतिमाएँ अवश्य रही होगी। पहले उन पर लेख नही थे, जब लोग यह भूलने लगे कि ये प्रतिमाएँ किसकी हैं तब किसी ने पहिचान के लिये ये नाम ऐसी जगह पर खोद लिए जहाँ सबको दिखाई न दें।

जायसवाल महाशय ने इसके उत्तर मे प को तो ब मान लिया है किंतु यह बताया है कि धीशे को वोके पढने से छोनीवोके का अर्थ कुछ भी नही होता। अक्षरो की बनावट मे तीन रेखाओ के वर्ण पहले होते हैं, उनके विकास से दो रेखाओ के अक्षर बनते हैं। इस पर बनर्जी महाशय ने विचार नही किया। उन्हाने कुशन और पश्चिमी लेखो के अक्षरो से इनकी तुलना करके इन्हे अर्वाचीन सिद्ध किया है किंतु उनमे अशोकलिपि की अपेक्षा अधिक पुराने और भिन्न शैली के वर्णसप्रदाय के चले आने की सभावना है। लिपि को पिछली मानकर ही बनर्जी महाशय ने उसकी पुष्टि के प्रमाण बनाने के लिये यह लेख लिखा है, तो भी मूर्तियो की प्राचीनता तथा राजाओ के नामो की ऐतिहासिकता को उन्होंने मान लिया है।

परखम की मूर्ति भी शैशुनाक प्रतिमा है

सितबर सन् १९१९ के बिहार उडीसा रिसर्च सोसाइटी के जर्नल मे बाबू वृदावनचद्र भट्टाचार्य ने यह दिखाया कि बनर्जी महाशय का यह कहना ठीक नही है कि कुशन सम्राट् कनिष्क प्रथम की प्रतिमा ही अब तक प्राचीनतम प्रतिमा मानी जाती थी तथा पुरामौर्यकाल की और कोई प्रतिमा अब तक न मिलने से इन दोनो मूर्तियो को उससे ट[illegible] करके पुरामौर्य शिल्प के विषय म कुछ कहा नही जा सकता। परखम गाँव की मूर्ति इन दोनो मूर्तियो से बहुत समानता दिखाती है। उसका वर्णन जेनरल कनिंघम की 'आर्कियालजिकल सर्वे आफ इडिया' की

रिपोर्ट की २०वी जिल्द मे है। वह सात फुट ऊँची है। शैशुनाक मूर्तियाँ ६ फुट से ऊपर हैं। वह चौडाई मे दो फुट है। एक ही पत्थर को चारो ओर कोरकर बनाई हुई है। बायाँ घुटना कुछ मुडा हुआ है। दोनों बाँहे कधो पर से टूट गई हैं इससे यह पता नही चलता कि मूर्ति किस मुद्रा मे थी। चेहरा तेल तथा सिंदूर मलते-मलते अस्पष्ट हो गया है, छाती पर मैल जम गया है। इसके भी दाहिने कधे पर चँवरी मानी गई है। कानों मे कुडल है। गले मे एक छोटा हार या बूटेकारी का पट्टा है जिसके चार फुँदे पीठ पर लटकते हैं। इसके भी घटोदर तथा भद्दे पैर है। वस्त्र पर दो चौडे पट्टे हैं, एक कमर पर बँधा है, एक उसके नीचे जघन पर है, मानो वे भारी पेट को सम्हालने को बँधे हैं। कमरबद की गाँठे भी आगे बँधी हुई है, पैरो तक एक ही लबा ढीला वस्त्र है, उस पर सलवटें और लहरे वैसी ही हैं। यह भी मिर्ज़ापुरी भूरे दरदरे पत्थर की है और उत्कृष्ट पालिश के चिह्न अभी तक बाकी हैं। परखम मे यह देवता कहलाती और वर्षो से पुजती थी। वहाँ पर जो और ध्वसावशेष हैं वे लाल पत्थर के तथा अर्वाचीन हैं।

इस समानता से परखम-मूर्ति की भी उतनी ही प्राचीनता देखकर जायसवाल महाशय का ध्यान उस ओर आकृष्ट हुआ। जेनरल कनिंघहाम ने उसे भी यक्ष कहा था। आजकल यह मथुरा म्यूजियम मे है। जायसवाल महाशय ने उसे स्वय देखा और सरकार की कृपा से छापें प्राप्त करके उसकी चरणचौकी पर के लेख को यो पढा—

(दाहिनी ओर) निभद्र प्रशेनि अज (ा)···सत्रु राजो सि (ि) र
(सामने) क (=४) च (=२०) ड (=१०) ह्र (=८)
(बाँई ओर) कुणिक शेवासिनागो मागधानं राजा

इसका अर्थ है—परलोकवासी, श्रेणिवशी अजातशत्रु श्री कुणिक शेवासिनाग, मागधो का राजा, (राज्यकाल ?) (२०+१०+४=) ३४ (वर्ष) ८ (मास)।

मगध के राजा अजातशत्रु की मृत्यु ईसवी पूर्व सन् ५१८ मे हुई। जैन लेखानुसार उसका नाम कुणिक भी था। यह बुद्ध का समकालिक मगध का शैशुनाकवशी राजा था। शैशुनाक का प्राकृत रूप शेवासिनाग है। उसके पिता बिंबसार का नाम श्रेणि भी था। अतएव यह सिद्ध हुआ कि यह भी शैशुनाक प्रतिमा है, यक्ष की मूर्ति नहीं। कुणिक को कनिक पढकर इसे कनिष्क की मूर्ति मानते थे। कनिष्क को कनिक भी कहते थे, जैसे कवि मातृचेट ने कनिष्क के नाम जो पत्र लिखा है उसका नाम कनिकलेख दिया है। सभव है कि यह देवकुल-प्रतिमा न हो, मथुरा प्रात के विजय या किसी बडे धर्मकार्य की स्मृति मे स्थापन की गई हो, क्योकि देवकुल-प्रतिमा होती तो अजातशत्रु की राजधानी राजगृह के पास पाई जाती। इसके अक्षर स्पष्ट हैं, यहाँ सदेह का स्थान नहीं, क्योकि यह प्रामाणिक लेख मूर्ति के सामने है, पीठ पर नही।

यक्ष-पूजा

इडियन एटिक्वेरी की मार्च, सन् १६१६ की सख्या मे, जो सितबर मे प्रकट हुई है, इन मूर्तियो के विषय म दो लेख छपे हैं। एक बाबू रामप्रसाद चदा का लिखा हुआ है। चदा महाशय ने यह सिद्ध करने का उद्योग किया है कि लेख मूर्तियों के समकालिक नही हैं, सलवटो वे बनाए जाने के पीछे किसी अन्य मनुष्य ने कालातर मे खोदे हैं। वे यह नही मानते कि इन लेखों के अक्षर किसी काल की लिपि से नही मिलते। 'वे कुशान समय की ब्राह्मी लिपि से मिलते है। जब तक किसी अज्ञात वस्तु की किसी ज्ञात प्राचीन वस्तु से सदृशता सिद्ध न हो जाय तब तक वह प्राचीन नहीं मानी जा सकती। दो पदार्थों मे समानता होने पर उन दो मे से जिसकी गठन कम विकसित है वह अधिक विकसित गठन वाले पदार्थ से प्राचीन माना जा सकता है, या दोनो ही किसी एक कल्पित प्राचीन पदार्थ से उद्भूत माने जा सकते हैं, *बिना साधारण पूर्वरूप के ज्ञात हुए केवल कल्पना से प्राचीन रूप* नही माने जा सकते। ब्राह्मी लिपि के उद्भव के विषय मे सर्वमान्य मत बूलर का है कि उत्तरी शैमेटिक वर्णमाला के सब से प्राचीन रूप व्यापारियो द्वारा हिंदुस्तान मे लगभग ई० पू० ८०० मे आए, उनसे ब्राह्मी अक्षर बने। दूसरे मत ये भी हैं कि ब्राह्मी लिपि और प्राचीन शैमेटिक अक्षर एक ही मूल से निकले या हिंदुओ ने अपनी लिपि स्वतन्त्र ही निकाली। मौर्यकाल की ब्राह्मी लिपि के विवेचन म शैमेटिक मूल से समानता का विचार न भी करें तो भी बिना किसी स्वतत्र प्रमाण के इन लेखो के अक्षरो को ईसवी पूर्व तीसरी शताब्दी के दो सौ वर्ष पहले के पूर्वज नही मान सकते।' पहली मूर्ति पर के लेख के पहले दो अक्षरो का जेनरल कनिंगहाम की तरह यखे न पढकर जायसवाल महाशय के अनुसार इन्होने भग या भगे मान लिया है। ये दोनो अक्षर उन्हे सलवटा की रेखाओ को छीलकर बनाए जान पडे हैं। आगे के लेख को चदा महाशय ने अच (चु) छनीविक पढ-कर पूर लेख भगे अचुछनीविक का अर्थ किया है भगवान् अचच्छ (=अक्षय !) *नीवि (कोश, मूलधन) वाले यक्ष अर्थात् वैश्रवण कुबेर।* *दूसरी मूर्ति पर के लेख* को यख सर्वतनदि पढकर निश्चय किया है कि लेख खोदे जान के समय, ईसवी सन् की दूसरी सदी मे, इन्हे यक्षो की प्रतिमा ही माना जाता था एक मूर्ति यक्षो के राजराज वैश्रवण (अक्षयनीविक) की है, दूसरी चँवरीवाली उसके पार्षद सर्वतनदि की। शिल्प की सजीवता तथा प्राचीनता की बात को वे हँसी म उडाते हैं। वे कहते हैं कि अशोक-स्तम्भो तथा उनकी खुदाई की सुन्दरता के सामने ये मूर्तियाँ भद्दी हैं। सारनाथ-स्तम्भ के सिंहों का चित्रकौशल इनसे कहीं उत्कृष्ट है। यदि सजी-वता तथा शिल्पसौष्ठव प्राचीनता का चिह्न हो तो ये मूर्तियाँ मौर्यकाल के पीछे की हैं और भरहुत के कठहरे के यक्षो की मूर्तियो के से पास उन्ही के भाई-बधु

इन दोनो यक्षो को हटाना अनुचित है।

कनिंगहाम साहब के सिर मे यक्षवाद समाया हुआ था। उस समय तक यह नही जाना गया था कि देवकुलो मे राजाओ की मूर्तियाँ रखी जाती थी। ये मूर्तियाँ एक ही मंदिर मे तीन या चार थी। यदि यक्षो की हो तो यक्षो की पचायत का देवालय होने का प्रमाण क्या है? परखम की मूर्ति इनकी समानता से यक्ष की मानी गई और उसके कधे पर चँवर न होने पर भी नदि की मूर्ति के सादृश्य से वहाँ चँवर की कल्पना की गई। अब उस मूर्ति का राजमूर्ति होना लेख से सिद्ध हो गया। तब उसके प्रमाण पर ये यक्षमूर्तियाँ कैसे कही जायँ? मालवा की मणिभद्र प्रतिमा को भी यक्ष कहा जाता है किंतु उसके नाम के पहले भगवान् पद होने से वह बोधिसत्त्व मणिभद्र की मूर्ति है। उस पर के लेख मे जितना बहुमान दिखाया गया है वह केवल यक्ष का नही हो सकता। और वह मूर्ति बहुत पीछे की भी है। कनिंगहाम साहब ने चाहे वैसे पढा हो किंतु इन मूर्तियो पर 'यखे' पद नही है। चदा महाशय उसे 'भगव' मानते है पर फिर कहते है कि यक्षमूर्ति है! मजूमदार महाशय कहते हैं कि 'यखे' था, किसी ने नीचे का भाग छीलकर 'भगे' कर दिया है! भरहुत-गैलरी मे यक्षो की कई मूर्तियाँ हैं उन पर 'कुपिरो यखो', 'सुप्रभो यखो' आदि नाम लिखे हैं। उनके सिर पर दो शृगोवाली पगडी है और धोती की मोरी पीछे की ओर खोसी हुई है। उनकी तरह ये मूर्तियाँ कैसे मानी जायँ? शिल्प के विद्वान् बाबू अर्धेन्दुकुमार गागुली इस यक्षोपासना के दुराग्रह मे ऐसे आ गए कि वे मूर्तियो को पुरामौर्यकाल की मानने को तैयार है, किंतु कहते हैं कि मूर्तियाँ यक्षो की है, राजाओ की नही, यहाँ तक कि जायसवाल महाशय का लेखो का पाठ ठीक हो तो भी वे यही मानते हैं कि जब यक्षपूजा उठ गई तब लोगो ने वास्तव बात को भूलकर उन पर राजाओ के नाम खोद दिए! (माडर्न रिव्यू, अक्टोबर १९१९) इस यक्षमत के समर्थन के लिये आर० सी० मजूमदार महाशय ने इडियन इटिक्वेरी की उसी संख्या मे एक बडा अद्भुत लेख लिखा है।

मूर्तियो पर सवत् ?

वे लेखो के अक्षरो को कुशन-काल के पूर्व का नही मानते। कहते हैं कि जायसवाल महाशय के सिद्धान्त का मूलस्तम्भ यही है कि ये अक्षर किसी भी समय के वर्णों से नही मिलते। कुशन-अक्षरो से उनकी स्पष्ट समानता से उन्हे न पढकर जायसवाल महाशय ने पुराने रूप, तीन रेखाओ के अक्षर आदि की नई कल्पना पहले गढ कर उन्हे अशोक-वर्णों का पूर्वज माना है। इन पूर्वज वर्णों का कोई पता नही, कल्पना से उन्हे खडा कर किसी भी आकृति का जो चाहे सो पूर्वज मान सकते हैं। कुशन-काल की वर्णमाला उत्तरी भारत की पश्चिमी लिपि है,

किंतु पूर्वी लिपि उनसे कुछ भिन्न थी, यह समुद्रगुप्त के प्रयाग-लेख से अनुमान कर सकते हैं। यदि पूर्वी भाग में मिली हुई इन मूर्तियों के लेखों के अक्षर कुशन लिपि से पूरी तरह नहीं मिलते तो उसकी पूर्वी अवांतर लिपि के कुछ लक्षण उनमें मिलते हैं। प्रथम मूर्ति के पहले दो अक्षर औरों से छोटे हैं, कनिंगहाम की प्रतिलिपि में वे यखे हैं तो उस समय अवश्य यखे होगा, पीछे कुछ भाग छील दिया गया है, बाकी अंश यह है जिसे जायसवाल महाशय ने भगे पढ़ा है। अक्षरों को कुशान-समय के लेखों से मिलाकर मजूमदार महाशय ने कहा है कि अंत के दो अक्षर अक्षर नहीं है, संख्यावाचक चिह्न हैं। पहले संख्या अक्षरों से बताई जाती थी (देखो, ऊपर परखम-मूर्ति का लेख) और ये अक्षर संयुक्त वर्णों से मिलते-जुलते होते थे। प्रथम मूर्ति का लेख मजूमदार महाशय के मत में यह है—गते (यखे ?) लेच्छाई (च्छवि) प्त (=४०) के (=४) अर्थात् लिच्छिवि संवत् ४४ (में यह मूर्ति बनाई गई)। लिच्छिवि संवत् प्रसिद्ध है, जैन-कल्पसूत्र में लिच्छिवि का पाठांतर लेच्छाई मिलता है, वही लेच्छवि हुआ। लिच्छवि संवत् का आरंभ ईसवी सन् ११०-१११ में हुआ, अतएव इस मूर्ति का समय ईसवी सन् १५४-१५५ हुआ। दूसरी मूर्ति के लेख के पहले दो अक्षर तो यखे ही हैं। अंत का अक्षर व नहीं है, वह क्षत्रप सिक्कोंवाला ७० का चिह्न है। यदि वह उससे नहीं मिलता है तो उसी चिह्न का पूर्वी रूपांतर है, चाहे नीचे की नोक अधिक झुकी हुई हो। उसका अधिक झुकाव खोदनेवाले की बुद्धिमानी है जिसने इस अक्षर को औरों से विशेष महत्त्व देने के लिये गहरा खोदा। अंकों के स्थान में जो वर्ण-संकेत आते हैं उनमें साधारण समानता ही होती है अतएव अधिक मिलाने-जुलाने की आवश्यकता नहीं। यों लेख हो गया—यखे स वजिना ७० अर्थात् (यह) यक्ष वजियों के संवत् ७० में (बनाया गया)। वजि वृज्जि का प्राकृत रूप है। वृज्जि गण था, लिच्छिवि भी इसी जाति-गण के अन्तर्गत थे। एक ही संवत् समष्टिरूप जातिगण का भी कहलाता होगा जो पीछे जाकर एक ही प्रधान जाति (लिच्छिवि) के नाम से कहलाया गया। इस गण की और जातियाँ तो अप्रसिद्ध रह गईं किन्तु लिच्छिवियों ने नेपाल में राज्य स्थापित किया और वे ऐसे बढ़े कि प्रसिद्ध गुप्त सम्राट् भी लिच्छिवि-दौहित्र कहलाने का गर्व करने लगे। वजि संवत् ७० ईसवी सन् १८०-१८१ हुआ। ये मूर्तियाँ यक्षों की हैं। समय निर्णीत है जिससे शिल्प-कल्पना की जगह ही नहीं रह जाती। लिच्छिवियों का पाटलिपुत्र पर अधिकार था। नेपाल के बाहर लिच्छिवि संवत् के पुराने वर्षों के ये ही लेख मिले हैं।

यह लीजिए। कनिंगहाम महाशय का यक्ष पहली मूर्ति पर से हटता न हटता दूसरी पर तो निकल पड़ा! मूर्तियों के शिल्पकाल निर्णय, अक्षरों के मूल या अर्वाचीन होने आदि के विचार की जड़ ही कट गई! मूर्तियाँ स्वयं पुकार कर

अपना समय कह रही हैं। यक्ष अपनी मूर्ति खडी किए जाने का समय साथ ही लिखवाए फिरते हैं !! अत के अक्षरो को सवत् के वर्षो का चिह्न मानना बहुत ही हास्यास्पद हुआ है। रायबहादुर पडित गौरीशकर हीराचद ओझा, जिनके समान प्राचीन लिपियो के पढने मे कोई कुशल नही है और जिन्हे यह लेख दिखा लिया गया है, इस चेष्टा को दु साहस कहते हैं। ये अक्षर किसी दशा मे अक-चिह्न नही हो सकते।

आगे चलकर मजूमदार महाशय कहते है कि यदि इन लेखो मे अजो और वटनदि निर्विवाद पढे भी जायँ तो दूसरे अनिश्चित अक्षरो के साथ मे उन्हे पृथक् पद या नाम नही मान सकते। पुराणो मे शिशुनाक वशी राजाओ मे अज का नाम ही नही है, उदयिन् को अजय कहा है अज नही, नदिवर्धन को आजेय (अजय का पुत्र) कहा है, अज का पुत्र नही। पुराणो म कही पर वटनदि नामक कोई शैशुनाक राजा ही नही मिलता। वायुपुराण मे वर्तिवर्धन, वर्धिवर्धन, कीर्तिवर्धन नाम मिलते हैं, यदि ये नदिवर्धन के ही नामातर हो तो दोनो मिलाकर वर्तनदि कैसे बन गया? चद्रगुप्त द्वितीय का नाम देवगुप्त भी था, विग्रहपाल का नामातर शूरपाल था, किंतु इसमे चद्रदेव या देवचद्र, शूरविग्रह या विग्रहशूर तो नही बन जाता। बनर्जी महाशय ने लेखो को कुशन-काल का माना है, मूर्तियो को पुराना। यदि कोई देवकुलिक मूर्तियो पर बनर्जी महाशय के कथनानुसार पीछे से नाम लिखता तो पीछे छिपा कर क्यो लिखता, सामने क्यो नही?

योरोपियन पुरातत्ववेत्ताओं का मत

विंसेंट स्मिथ डाक्टर विंसेंट स्मिथ ने, जिनके अभी-अभी परलोकवास से पुरातत्त्व और इतिहास की बडी भारी क्षति हुई है, एशियाटिक सोसाइटियो की सम्मिलित सभा मे, ता० ५ सितबर, १९१९ को, जायसवाल और बनर्जी महोदयो के मत से अपने को सहमत बतलाया था। उन्होने यह मत प्रकाश किया कि ये मूर्तियाँ मौर्यकाल के पहले की हैं, ईसवी पूर्व ४०० से पीछे की नही बनी, लेख मूर्तियो के समकालिक हैं, तथा लिपि की आधुनिकता की बात पक्की नहीं। अब तक पत्थर का शिल्प अशोक के समय से ही आरभ हुआ ऐसा मानते रहे हैं, अब, इन मूर्तियो से यह जान कर कि अशोक से दो शताब्दी पहले भी मूर्ति-कला इतनी उन्नत थी, भारतीय शिल्प का इतिहास बिल्कुल बदल जाता है। मूर्तियो की रचना कहती है कि बहुत पहले से इस शिल्प की उन्नति हो रही थी।

डाक्टर बार्नेट ने, और लेखको की तरह अविश्वास तथा खडन की धुन से नही, किंतु शालीनता के साथ, 'क्षमतु साधव' कह कर जायसवाल महाशय के मत का विरोध किया है। (१) अक्षरो और सलवटो की बनावट से लेख मूर्तियो के पीछे का है, समकालीन नहीं। (२) जायसवाल महाशय का पाठ स्वीकार

करने मे भाषा-संबंधी कई कठिनताएँ है। भगे तथा छोनीधीशें मे कर्त्ता का रूप ए-कारात है, और अचो मे ओ-कारात। प्राकृत मे दोनो होते हैं, किंतु एक ही लेख मे दो वैसे और एक ऐसा क्यो? अज मे तो 'ज' का 'च' हो गया, भगे और धीशें मे व्यजन का परिवर्तन क्यो न हुआ? जायसवाल महाशय ने एक उदाहरण पाली म तथा एक अशोक-लेख से अपनी पुष्टि मे दिया है किंतु वे इसलिये सतोषदायक नही कि यह क्योकर हो सकता है कि राजा के नाम मे परिवर्तन हो जाय तथा विशेषण शब्दो मे न हो। यह परिवर्तन पैशाची और चूलिका-पैशाची मे होता है जो कभी पटने के आसपास की भाषा न थी। यदि यह मानें कि राजा का नाम अच था, उसका पुराणो मे सस्कृत अज बना लिया तो शैशुनाग अज का अस्तित्व कहाँ रहा? सपखते मे सर्व का प्राकृत सप होना भी सदिग्ध है। (३) प्रथम लेख भगे अचे छनीवीके है, इसका अर्थ न जाने क्या है, अक्षर सब पिछले हैं, कुशन-समय के लेखो तथा स्टेन के उपलब्ध तुरफन के लेख-खडो से मिलते है। सपखते मे स है ही नही, ख है और वह कुशन-काल का ख है। सार यह है कि प्रथम लेख मे अज का नाम ही नही। दूसरे लेख मे वटनदि हो सकता है किंतु पुराणो मे कोई वर्तनदि नही है, जायसवाल महाशय का वर्तनदि तथा नदिवर्धन को एक करने का यत्न निष्फल हुआ है। लेखशैली मौर्यकाल से बहुत पीछे की है।

प्रोफेसर कूर्ग ने शिल्पविचार से मूर्तियो को ईसवी पूर्व दूसरी शताब्दी की यक्षमूर्तियाँ ही माना है।

बि० ओ० रि० सॉ० के जर्नल की दिसबर १९१९ की सख्या मे जायसवाल महाशय ने सब आक्षेपो के उत्तर दिए है—

(१) अक्षर मूर्तियो के समय के है या पीछे के खुदे हुए, इस पर कलकत्ते के विक्टोरिया मेमोरियल के प्रधान शिल्पी मार्टिन कपनी के मिस्टर ग्रीन का मत लिया गया। मिस्टर ग्रीन का मत है कि अज की मूर्ति पर तो अक्षर पहले खोदे गए हैं, सलवटें पीछे बनाई गईं। नदि की मूर्ति मे अक्षर तथा सलवटें एक काल की है, पूर्वापर नही। अक्षरो के लिये सलवट की रेखाएँ बचा कर ली गई हैं, अक्षर सलवटो के ऊपर नही रखे गए है। इस विशेषज्ञ की सम्मति बड़े महत्त्व की है। शिल्प-विचार से किसी विद्वान् ने मूर्तियो को मौर्यकाल के पीछे की नही कहा। अशोक और शुग-काल की प्रतिमाओ से ये भिन्न है, इनकी समानकक्ष परखम-मूर्ति पुरामौर्य-काल की है, इन पर मौर्य पालिश और मौर्य शिल्प है, और अक्षर मूर्तियो के समकालीन है। फिर अक्षर पुराने क्यो नही? मि० ग्रीन ने अग्निदाह से मूर्तियो का पीला पडना तथा पत्थर का असली रग मिर्जापुरी पत्थर का माना है।

उसी अक मे मि० अरुण सेन का लेख है जिसमे इन मूर्तियो के पुरामौर्य शिल्प का विवेचन है। इसमे अग-प्रत्यग की बनावट और मौर्यकाल के सिंह तथा

सारनाथ के कटघरे की प्रतिमा, बेसनगर की मूर्ति, परखम की मूर्ति, ग्वालियर की मणिभद्र मूर्ति, सारनाथ के वृष तथा सांची और भरहुत के नमूनों की तुलनात्मक विवेचना में सिद्ध किया है कि पिछले शिल्प में रूढ़ि है, चित्रण का ढर्रा है, इन मूर्तियों में केवल भाव (कहीं-कहीं भोंडेपन से) है, जैसे स्थूलता या बिना केश का सिर दिखाया है, नसों के मोड़ और लटों के पेंच नहीं। अतएव यह पुराना सजीव शिल्प है, पिछला रूढ़ि का जमा हुआ नहीं।

(२) यह ठीक है कि कर्त्ता के रूप या तो अर्धमागधी के अनुसार सभी ए-कारांत हों या सभी मागधी के अनुसार ओ-कारांत हों, किंतु अशोक के लेखों में भी ऐसा मिश्रण पाया जाता है, जैसे सातियपुतो केतलपुतो तम्बपनी अंतियोगे (कालसी का लेख), राजुको, प्रदेसिके (शहबाजगढ़ी), ध्रमसंस्तवे ध्रमसंविभागो (वही), वहीं पर कहीं देवान प्रिये, कहीं देवान प्रियो, गिरनार के लेख में देवाना प्रिये, और आगे चलकर देवाना पियो, और शहबाजगढ़ी के लेख में अंतियोको तुरमये नाम अलिकसुदरो दिया है। इस प्रत्यक्ष व्यवहार के प्रमाण के आगे व्याकरण-सम्मत शुद्ध पाली प्रयोगों का न मिलना असम्भव नहीं है।

ज का च हो जाना पैशाची का लक्षण है जो सीमाप्रांत में व्यवहृत होती थी, किंतु यह कोई बात नहीं कि वह और कहीं न मिलता हो। जब प्राकृत भाषाएँ जीवित थीं तब बोलनेवाले या लिखने खोदनेवाले की मौज से उच्छृंखलता होती थी, व्याकरणों को लेकर कोई न बैठता था। प्राकृत के प्रयोगों के रूपों में विकल्प बहुत है, देश विशेष का नियम भी इतना जकड़ा हुआ न था। एक ही बृहस्पति-मित्र का नाम सिक्कों पर बहसति मित्र और लेख में बृहास्वातिमित्र मिला है। प्रसिद्ध ग्रीक राजा गोंडोफोरस के सिक्कों पर गुदफर, गदफर, का गुदफर्न तीन रूप मिलते हैं। ब्रज के स्थान में ब्रच और प्राजन के लिए प्राचन के जो दो उदाहरण दिए गए थे वे पर्याप्त न माने जायँ तो प्राकृत-मंजरी नामक प्राकृत व्याकरण का सूत्र है 'चो व्रजनृत्यो'। ये परिवर्तन भी सब जगह नहीं होते, एक पद में भी किसी वर्ण को होते हैं, किसी को नहीं। भरहुत कटहरे में कुबेर का कुपिर, विधुर का वितुर, मुगपक्खिय का मुगपकिय, ऐरावत का एरापतो अमरावती के लेख में भगवत का भगपत, जातक में सयादेव का सजादेव, मिलता है। बूलर के पाली व्याकरण में लाव=लाप, पजापती=प्रजावती, पलाप=पलाव, छाप=साव, सपदान=सवदान, सुपाण=सुवान (श्वान), धोपन=धोवन, इतने उदाहरण दिए हैं। ये अज के अचो और सर्व के सप हो जाने के प्रमाण हो चुके।

(३) अच यदि राजा का नाम है, चाहे उसे अचो, अचे या पच पढ़ें, वह पुराणों का अज ही है। नाम अच था, उसका संस्कृत रूप अज हुआ तो इसमें क्या हानि है। पुराणों के और और नाम सिक्कों तथा शिलालेखों से सत्य प्रमाणित हो गए हैं, तब एक अज नाम को ही केवल कथामात्र क्यों मानें?

पुराणो मे वर्तनदि नाम का कोई राजा नही, इस प्रश्न को फिर से विचार लेना चाहिए। नदिवर्धन नाम तो पुराणो मे है ही। बुद्ध और महावीर के समकालिक दो राजवश—उज्जयिनी (अवती) और मगध के—थे। बौद्ध और जैन अपनी धार्मिक इतिहास की बातो का समय इन्ही दो वशो के राजाओ के राज्य-वर्षों म देते हैं। अवती की राजसूची मे प्रद्योत बुद्ध और बिबिसार का समकालीन था। उससे लेकर अज या अजक और नदिवर्धन तक १३८ या १२८ वर्ष होत हैं। इधर मगध मे बिबसार से लेकर उदयिन् तक १११ वर्ष और उसके उत्तराधिकारी नदिवर्धन आजेय तक १५१ वर्ष होते हैं। ये दोनो नदिवर्धन एक काल के हुए, अर्थात् मगध के शिशुनाक नदिवर्धन आजेय और अवती के अज के पुत्र नदिवर्धन के काल मे अवती के वश का अत हुआ। अवती के नदिवर्धन को मत्स्यपुराण की एक पुरानी पोथी मे शिशुनाक कहा है[1]। अतएव अवती का अजक शिशुनाक का पुत्र शिशुनाक नदिवर्धन और मगध का प्रसिद्ध शिशुनाक आजेय नदिवर्धन समकालिक ही नही, एक ही व्यक्ति हुए।

जैना के आख्यानों से भी यही बात सिद्ध होती है, यथा—

पुराणो के अनुसार		जैन आख्याना के मत से
प्रद्योत		
पालक २४ वर्ष	७४ वर्ष	पालक ६० वर्ष
विशाखयूप ५० वर्ष		
अज		मगध के नद
नदिवर्धन		

जैन आख्यानो के अनुसार पालक के पीछे ६० वर्ष बीतने पर मगध के नदो का अवती मे राज्य हुआ। पुराणो मे पालक को प्रद्योत का पुत्र कहा है और वहाँ पालक और आज के बीच मे विशाखयूप नामक राजा देकर पालक और विशाखयूप के ७४ वर्ष गिने हैं। पुराणो मे मगध वशावली मे प्रद्योतवश को मिला सा दिया है, अर्थात् शिशुनाको और प्रद्योतो को साथ ही साथ लिया है। वायुपुराण की एक पुरानी अतिप्रामाणिक पोथी मे अवती की वशावली अजक पर समाप्त कर दी है और आगे कहा है—

हत्वा तेषा यश कृत्स्न शिशुनाको भविष्यति

अवती की वशावली का अत कई पोथियो मे अजक शिशुनाक पर और कई पोथियो मे उसके पुत्र नदिवर्धन शिशुनाक पर किया है। कई पाठातरों मे अवती

1 एकविंशत् समा राज्यमजकस्य (या सूर्यकस्तु) भविष्यति।
शिशुनाक नृपस्त्रिंशत् तत्सुतो नदिवर्धन ॥

के राजा अजक के पुत्र को वर्तिवर्धन कहा है, वर्धि या कीर्ति पाठदोष है। अतएव मगध तथा अवती की सूचियो मे वर्तिवर्धन और नंदिवर्धन शिशुनाक एक ही नाम हैं। इसे नदिवर्धन, नदवर्धन, और कोरा नंद भी कहा है। वर्धन तो केवल उपाधि है। नाम नदि या वर्ति हुआ। यदि ये दोनो नाम साथ ही मिल जायँ तो असभव क्यो है? पुराणो मे सिमुक नाम मिलता है, साथ मे सातवाहन पद नहीं। उस राजा की मूर्ति पर 'सिमुक सातवाहनो' मिलता है, तो क्या यह मानें कि यह राजा पौराणिक आध्र राजाओ की वशावली का प्रथम राजा नही है? पुराणो मे अशोक या अशोकवर्धन मिलता है। सिहल के इतिहासो मे प्रियदर्शन नाम दिया है। लेखो म कही अशोक है, कही प्रियदर्शी। अब यदि कही 'अशोक प्रियदर्शी' मिल जाय तो क्या यह कहे कि यह कोई भिन्न राजा है?

अवती की सूची मे अज या अजक का नाम उपलब्ध होना और उनमे से एक का शिशुनाक लिखा मिलना हमारे साध्य को सिद्ध करने के लिये बहुत है। इधर सब पुराणो मे मगध की सूची में, अर्थात् शिशुनाको की सूची मे, नदिवर्धन उदयिन् के पीछे है। केवल भागवत मे उदयिन् को अजय और नदिवर्धन को आजेय कहा है। आजेय अपत्यवाचक तद्धित रूप है, वह अज से बनता है, अतएव भागवत म अजय अशुद्ध पाठ है, अज या अजक चाहिए। इंडियन एंटिक्वेरी में जिस लेखक ने अजय और अजेय का अर्थ 'न जीतने योग्य' समझ कर उससे तद्धित आजेय बनाया है, क्या वह यह नही जानता कि तद्धित प्रत्यय नामो मे लगते हैं, विशेषणो मे नही? शिशुनाक सूची मे आजेय और अवती की वशावली मे अज या अजक मिलने से उदयिन् का दूसरा नाम अज या अजक सिद्ध होता है, अजय नहीं।

'छनीवीके' पाठ का कोई अर्थ नही। 'अचछ' का अर्थ अक्षय करना हास्यास्पद है। छ के साथ ओ की मात्रा स्पष्ट है। 'खते' की जगह 'खतो' पढ़ें तो भी अर्थ मे भेद नहीं होता। 'सप' को य मानना या 'यखत' पढना भी अनर्थक है।

अक्षरो के नए पुराने होने के विषय मे बलूर का सिद्धात प्रामाणिक नहीं। बूलर ने लिखा है कि भट्टिप्रोलु का च और स ब्राह्मी के द्रविड उपविभाग का है, वह अशोक के लेख तथा एरण के सिक्के मे पुराना है। वही च और वही स हमारे इन लेखो मे है। बूलर कहता है कि ईसवी पूर्व पांचवी शताब्दी मे द्राविडी लिपि ब्राह्मी से पृथक् हो गई। ये मूर्तियाँ पटने मे मिली हैं, द्राविड देश में नही। उन पर उन अक्षरो का होना क्या यह सिद्ध नहीं करता कि ये लेख उस समय के हैं जिस समय ब्राह्मी और द्राविडी पृथक् न हुई थी? हैदराबाद मे कुछ समाधिया मे मट्टी के बरतन मिले हैं। उन पर कई अक्षर हैं जिनमे से कुछ पुराने ब्राह्मी अक्षर माने गए हैं। ये समाधियाँ बहुत पुरानी हैं, उनके शिला के छादन हाथ लगाते झरते हैं और बरतनो को अँगुली से छेद सकते हैं। उनके अक्षरो मे

हमारे च और भ की आकृतियाँ मिलती हैं। समाधियों की प्राचीनता में किसी को संदेह नहीं। चाहे हमारे भ को शेमेटिक ब से मिलाइए (जैसे कि बूलर ने ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति शेमेटिक से मानी है) चाहे समाधिवाले से, वह अशोक काल से बहुत पुराना है।

यह प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है कि अशोक के समय के पहले अशोकलिपि से भिन्न लिपियाँ प्रचलित थीं। ईरानी सिग्लोई नामक सिक्के एशिया के अखमानी वंश के हैं। ईरानी राज्य को सिकंदर ने ई० पू० ३३१ में नष्ट किया और हिंदुस्तान के सीमाप्रांत पर अखमानियों का राज्य दारा दूसरे के समय में, ई० पू० ४०० के लगभग, छूट गया। ये सिक्के उस समय के हैं। यदि बूलर के नए पुराने अक्षरों के सिद्धांत को मानें तो ये सिक्के अशोक से कई शताब्दी पीछे के होने चाहिएँ, और ये हैं अशोक से कम से कम सौ वर्ष पहले के। बूलर को बरबस मानना पड़ा है कि अखमानी समय में मौर्य-लिपि के अधिक प्रौढ़ रूप प्रचलित थे। अशोक के लेखों में भी कई अक्षर ऐसे मिल जाते हैं जो बूलर के मत से (कि ब्राह्मी लिपि ईसवी पूर्व ८०० से ५०० के बीच की किसी प्रचलित और विज्ञात शेमेटिक लिपि से निकली) कुशन, मथुरा, आंध्र या आभीर-काल के, अर्थात् कई शताब्दी पीछे के होने चाहिएँ। इतनी विभिन्न आकृतियों के मिलने से बूलर ने माना है कि अशोक के समय में कई वर्णमालाएँ काम में आती थीं कुछ अधिक प्राचीन अर्थात् भद्दी और कुछ अधिक प्रौढ़। धौली के षष्ठ अभिलेख में 'सेतो' ये दो अक्षर जो श्वेत हस्ति की मूर्ति के नीचे खुदे हुए हैं गुप्त या कुशानकाल के हैं। वे किसी ने पीछे से न खोदे हों तो यही निश्चय है कि खोदने और लिखनेवाले जमे हुए तथा घसीट दोनों प्रकार के अक्षरों को मिला देते थे। पहले ६०० वर्षों के ब्राह्मी और द्राविडी अक्षर पत्थर, ताम्रपत्र, सिक्कों और मुहरों से ही विदित हुए हैं। ईसवी पूर्व दूसरी या तीसरी शताब्दी का स्याही का एक ही लेख मिला है। यह सर्वविदित है कि व्यवहार में नए चलन के अक्षर आते हैं, चिरकाल के लिये स्थापित अभिलेखों में पुराने रूप जमा जमाकर लिखे जाते हैं। इसलिये अशोक-लेखों के अक्षरों से यह नहीं जाना जा सकता कि उस समय व्यवहार में अधिक परिमार्जित रूप न थे क्योंकि उससे पहले के ईरानी सिक्कों में वैसे रूप हैं जिन्हें बूलर के भरोसे कुशन-काल का कहना चाहिए। अतएव राजाओं की मृत्यु के पीछे देवकुल में स्थापित मूर्तियों पर, जो शिल्प तथा पालिश से पुरानी सिद्ध हो चुकी हैं, कुछ नए अक्षर मिल जायँ तो उनकी प्राचीनता का व्याघात नहीं होता, जब कि दूसरे अक्षरों की प्राचीनता निर्विवाद है। 'शेमेटिक लिपि से यथारुचि बिना किसी सिद्धांत के मोड़-तोड़कर या उलटकर ब्राह्मी लिपि बनाई गई है', बूलर के इस सिद्धांत को कई लोगों ने नहीं माना है। उसे कौशल-पूर्ण किंतु विश्वास न उपजानेवाला कहा है। पिपरावा पात्र आदि के प्रमाण,

बूलर के 'नए' अक्षरो का भी अशोक के पहले प्रयोग मे आते रहना सिद्ध करते हैं और उसके सिद्धात को हिला देते हैं[१]।

द्राविडी ब्राह्मी तथा पूर्वी पश्चिमी ब्राह्मी दोनो के लक्षण इन लेखो के अक्षरो मे मिलते हैं। कोई भी ऐसा अक्षर नही जो नया कहा जा सके, क्योकि नए अक्षरो का सिद्धात ही अप्रमाण है। इसलिये इन अक्षरो का अशोक से दो शताब्दी पूर्व का होना कुछ भी असभव नही।

उसी संख्या मे इन्ही मूर्तियो के विषय मे महामहोपाध्याय पडित हरप्रसाद शास्त्री का लेख भी प्रकाशित हुआ है। इस लेख की कई बातें ऊपर यथास्थान आ गई हैं। यहाँ तीन प्रधान बातो का उल्लेख किया जाता है। वे प्राय सभी बातो मे जायसवाल महाशय से सहमत हैं।

(१) यदि ये मूर्तियाँ कुशन समय की हों तो उस समय मगध पर आध्रो का अधिकार था। आध्र ठिंगने, मोटे पेट और चौकोर मुँह के थे। ये मूर्तियाँ लँबे, बलिष्ठ और गोल मुख के उत्तरीय मनुष्यो की है।

(२) इन लेखो की भाषा, व्याकरण, वर्णशैली आदि के विचार की कोई आवश्यकता नही। ये राजकीय लेख तो है नही कि राजाज्ञा से शुद्ध प्राकृत मे लिखे गए हो। ऐसा होता तो लेख सामने होते। ये लेख मूर्ति खोदनेवाले ने अपनी समझौती के लिये मूर्तियों की पीठ पर लिख लिए हैं। पत्थर को आधा गढ कर उसने अपनी ओर से नाम खोद लिए जिससे कारखाने मे गडबड न हो जाय। पीछे वस्त्र की सलवट बनाते समय अक्षरो को बचा कर बारीक काम कर दिया। भगवान्, क्षोणि+अधीश, सर्वक्षेत्रपति, पद भी उसने इसीलिये लिख लिए है कि मूर्ति मे आकार, वस्त्र, प्रभाव आदि के क्या क्या भाव लेने चाहिएँ। साधारण शिक्षित शिल्पी के साकेतिक चिह्नो के विषय मे मागधी, अर्धमागधी, व्याकरण आदि का विचार क्या?

(३) आर्यो का पुराना वेश क्या था तथा इन मूर्तियो का वेश क्या है इसका विचार करना चाहिए। आश्वलायन गृह्यसूत्र मे ब्रह्मचर्य म विद्याभ्यास समाप्त करके गृहस्थाश्रम मे प्रविष्ट होनेवाले स्नातक का यह वेश लिखा है—उत्तरीय (चादर या दुपट्टा), अतरीय (धोती)—ये दोनो वापसी या दो वस्त्र कहे जाते हैं—उपानह (जूता), छाता, उष्णीष (पगडी), कर्णकुडल, निष्क (गले मे सोने का चाँद)। दूसरे गृह्यसूत्रो मे भी जहाँ समावर्तन का प्रकरण है वहाँ स्नातक के लिये ऐसे या इनसे मिलते हुए वस्त्रो का विधान लिखा है। कात्यायन श्रौतसूत्र मे व्रात्यस्तोम के प्रकरण (२२वें अध्याय) मे व्रात्यो के वेश का वर्णन है। महा-

[१] ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति के विषय में बूलर के सिद्धात का खडन रायबहादुर पडित गौरीशकर हीराचन्द ओझा ने अपनी 'भारतीय प्राचीन लिपिमाला' के उपक्रम में बडे विस्तार से किया है।

महोपाध्याय पंडित हरप्रसाद शास्त्री ने उसमें से कुछ बातें गिना कर बतलाया है कि यह वेश इन मूर्तियों के वेश से कई बातों में मिलता है और यह सिद्ध किया है कि वर्तनंदि या वटनंदि वास्तव में व्रात्यनंदि है।

व्रात्य[1] सावित्री (गायत्री) से पतित ब्राह्मण और क्षत्रियों को कहते हैं। जो नाम भर के ब्राह्मण या क्षत्रिय, ब्रह्मबंधु और क्षत्रबंधु या राजन्यबंधु, पीढ़ियों से

१ कात्यायन श्रौतसूत्र के प्रस्तुत प्रकरण में 'व्रात्यधन' अर्थात् व्रात्य की वेश-सामग्री में कुछ वस्तुओं को गिना गया है। व्रात्य इन्हें काम में लाते थे। व्रात्यधनों को गिना कर लिखा गया है कि *(व्रात्यस्तोम यज्ञ के अन्त में) दक्षिणा-दान-काल में ये व्रात्यधन मागध-देशीय* ब्रह्मबंधु को दे दिए जायँ (२२) अथवा उन लोगों को दे दिए जायँ जो व्रात्य आचरण से अभी विरत न हुए हों (२३), अर्थात् व्रात्य इस व्रात्यस्तोम से शुद्ध होकर व्रात्यभाव से रहित हो जाते (२७) और व्यवहार-योग्य, विवाह याजन और भोजन के योग्य हो जाते हैं (२८) इसलिये अपना पुराना पापमय जीवन का चिह्न उन्हीं को दे देते हैं जो उनकी पहली *दशा के अनुयायी हैं। क्षत्रिय तो दक्षिणा लेने का अधिकारी नहीं है, इसलिये व्रात्य क्षत्र*-बंधु भी अपना धन मागधदेशीय ब्रह्मबंधु को दे देता है (२२), क्योंकि वह वर्ण में उसके समान न होकर भी आचरण में तो सदृश है, अथवा अपने सदृश ब्राह्मण व्रात्यों को दे देता है (२१) क्योंकि श्रुति का प्रमाण दिया है कि उन्हीं में (अर्थात् अपने सदृश लोगों में अपने पिछले पाप को) धो देते हुए (शुद्धता को) प्राप्त होते हैं (२४)। व्रात्यधन ये हैं—(१) *तिर्यङ् नद्धमुष्णीषम्—टेढ़ी बंधी हुई पगड़ी* (२) *प्रतोद*—तीखी नोक की आर, जैसी बैल हाँकने वाले रखते हैं (३) *ज्याहृोडोऽयोग्य धनु*—बिना पणच का बेकार धनुष जो *ज्याहृोड* नाम से ही *प्रसिद्ध* था (४) *वास कृष्णशकटु*—काले सूत से बुना हुआ कबरे रंग का या काली किनार का कपड़ा (धोती—एक ही वस्त्र, दुपट्टा या उत्तरीय नहीं) (५) रथ जो मार्ग-कुमार्ग में जा सके जिसमें लकड़ी के पट्टे बिछे हों तथा जिसमें कुछ आचार्यों के मत से कांपते हुए दो घोड़े या खच्चर जुते हों (६) निष्क राजत —चांदी का गले का चांद (७) भेड़ की दो छाल जिनके दोनों पार्श्वों में सिलाई हो और *जो काले और सफेद रंग की हों।* ये खालें उस व्रात्य की होती हैं जो सबसे नृशंस (निर्दय अथवा प्रसिद्ध) या सबसे धनवान् या सबसे विद्वान् हो। वह व्रात्यस्तोम में गृह-पति बनाया जाता है। दूसरे व्रात्यों के केवल एक ही छाल होती है और रस्सी के से मोटे किनारे वाली, काली या लाल पाड़ की, दो छोर की धोती होती है। (८) दामनी है—दो रस्से (कमर या पेट को बांधने के) (९) दो जूते जिनके चमड़े के कान (चोंच जैसी पंजाबी जूतों में होती है) हों॥ (का० श्रौ० सू० अ० २२ कंडिका ४ सूत्र २१। ऊपर भी सूत्रों के अंक हैं।) पंडित हरप्रसाद शास्त्री ने कर्णिन्यौ का अर्थ कर्णभूषण समझा है, *किंतु वह जूते का विशेषण है।* इस व्रात्यधन में से एक मूर्ति के सिर नहीं एक के लगा है इसलिये (१) का पता नहीं। पैर नंगे हैं इसमें (९) का पता नहीं। हाथ टूटे हैं, इसलिये (२) (३) का निश्चय नहीं। प्रतिमा में (५) कैसे दिखाया जा सकता है? किनारेवाला एक कपड़ा (४) दो कमरबंद (८), और गले में निष्क (६) मिलते। दुपट्टा शायद मेषछाला (७) की जगह हो। दुपट्टे और धोती की सलवटें संभव है कि दशाएँ *(किनारें)* हों। यह भी स्पष्ट है। दामन् दोनों कमर में बंधे ही हैं। पहले मेषछाला होती हो, राजा की रुचि से उसकी जगह रेशमी दुपट्टा हो गया हो।

वैदिक संस्कारों से रहित थे उनकी शुद्धि व्रात्यस्तोम से की जाती थी और फिर वे व्यवहार के योग्य हो जाते थे। कात्यायन के अनुसार मगधदेशीय ब्राह्मणबंधु को शुद्धि में व्रात्य को वेश-सामग्री दी जाती थी। पुराणों में मगध के शैशुनाक राजाओं को क्षत्रबंधु अर्थात् घटिया, नाम मात्र के, क्षत्रिय कहा है। व्रात्य संस्कार युक्त द्विजों से हीन तो थे, किंतु गर्हित न थे। वे शुद्ध करके वर्णधर्म में आ जाते थे। अथर्ववेद में व्रात्यों की प्रशंसा में एक कांड का कांड गद्य में है। संभव है कि शिशुनाक काल में अथर्व को वेदों में न गिना जाता हो, क्योंकि मौर्यकाल में भी कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में तीन ही वेद गिने हैं और आगे 'अथर्ववेदोऽपि वेद', 'इतिहासवेदोऽपि वेद' कह कर अथवा और इतिहास को समान कोटि का कहा है।

व्रात्य भी आर्य थ। उनकी भाषा प्राकृत थी, संस्कृत नहीं। उनमें वैदिक आचार व्यवहार न था। उनमें से कुछ वैदिक संप्रदाय में आ जाते थे। उनकी शुद्धि के लिये सूत्रों में *व्रात्यस्तोम आदि का विधान है। उनके दंडविधान में ब्राह्मण* अदंड्य न थे। वे अर्हंतों को ब्राह्मणों की तरह मानते थे। शैशुनाक भी अर्हंत के उपासक (बौद्ध या जैन) थे। मनुस्मृति में लिच्छिवियों को व्रात्य कहा है। बुद्ध न लिच्छिवियों के अर्हंतों के धातुस्तूपों का उल्लेख किया है। शैशुनाक अजातशत्रु ने अरहत (बुद्ध) के शरीर धातुओं पर अपना अधिकार बतलाया था। इन सब बातों से शैशुनाकों का व्रात्य होना, जैन और बौद्ध-धर्म की ओर उनका अधिक झुकाव होना तथा पुराणों में उन्हें क्षत्रबंधु कहना संगत हो जाता है। कात्यायन श्रौतसूत्र में उन्हीं के वेश का उल्लेख है। कात्यायन के समय का निश्चय नहीं। राजशेखर ने लिखा है कि वैयाकरण पाणिनि और कात्यायन का पाटलिपुत्र में परीक्षित होकर सम्मान हुआ था। यह कात्यायन उसी समय का होगा।

इन मूर्तियों का वेश व्रात्यों के वेश से बहुत कुछ मिलता हुआ होने से वटनंदि या वर्तनंदि या वर्तिनंदि नाम को व्रात्यनंदि क्यों न मानें? मूर्तिकार ने अपनी समझौती के लिये नंदि के पहले वट (=व्रात्य) पद लिख लिया हो जिसमें गढ़ते में क्या क्या वेश दिखाना है यह स्मरण रहे। तथा 'व्रात्यनंदि' नाम ही प्रसिद्ध होकर पुराणों में *वर्तिवर्धन बन गया हो।*

(४) पिपरावा पात्र के अक्षरों में भी मात्राएँ बहुत लंबी हैं, इन लेखों में भी हैं। फिनीशियन अक्षरों तथा मोआब के पत्थर के अक्षरों से भी इन मूर्तियों के अक्षरों की बड़ी समानता है। यदि ब्राह्मी अ फिनीशियन अलिफ से बना मानें, तो फिनिशियन अलिफ बकरे की मूर्ति के दो सींगों के आकार का है। इस अ के भी सींग देख लीजिए। ब बेथ से बना है, तो बेथ खुले मुँह का चौकोर संदूक-सा था। इस जगह भी सबखतों का ब देख लीजिए।

उपसहार

इस लेख का लेखक तथा रायबहादुर पडित गौरीशकर हीराचद ओझा इन मूर्तियो तथा इन पर के लेखो के विषय मे जायसवाल महाशय के मत से सहमत हैं। विरोधपक्ष की जो जो कोटियाँ हैं वे बहुधा आग्रह तथा प्राचीनवाद को लेकर उठाई गई हैं। इस लेख मे बहुत तथा बडे-बडे लेखो का सार दिया गया है तथा स्थान स्थान पर अपनी ओर से विस्तार भी कर दिया गया है क्योकि ऐसी बातो का विवेचन हिंदी पढनेवालो के लिये सक्षेप मे लिखना असभव था। कई जगह इस लेख मे तथा देवकुल के लख मे अपनी ओर से कुछ नई बातें भी जोड दी गई हैं। विद्वानो तथा लेखको के नामो का एकदेश और एकवचन से व्यवहार भी जो कही-कही हो गया है, क्षतव्य है।

चित्रपरिचय

हम इस लेख के साथ कई चित्र दे रहे है।[1] उनका वर्णन इस प्रकार है।

पहला चित्र—

दीदारगज की मूर्ति

दूसरा और तीसरा चित्र—

मूर्तियो पर के लेख। अक्षर उभरे हुए तथा उलटे आए हैं। सलवटो की रेखाएँ तथा उनसे अक्षरो का सबध स्पष्ट दिखाई देता है। चित्र मूर्तियो के प्रकृत अश की आधी नाप का है। ऊपर का लेख अज-उदयिन् की मूर्ति पर है, नीचे का वर्तनंदि की प्रतिमा पर।

चौथा और पाँचवाँ चित्र—

अज-उदयिन् और वर्तनंदि की प्रतिमाएँ—एक ओर से फोटो। नीचे के पीठ कलकत्ते के इडियन म्यूजियम के हैं।

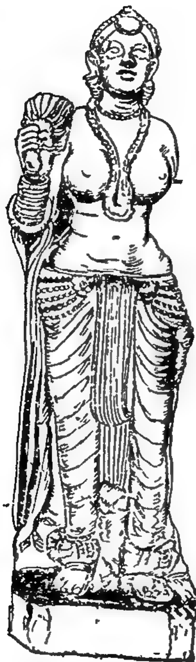
छठा चित्र—

अज उदयिन् की मूर्ति, सामने से। फूँदे और पैर पलस्तर स पोछे से बनाए गए है।

सातवाँ चित्र—

वर्तनंदि की मूर्ति, पीछे से। अधोवस्त्र की सलवटें, दुपट्टे की चुनावट और निष्क के

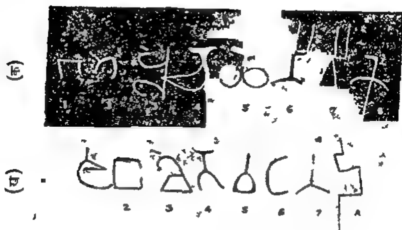
1 कुछ चित्र स्पष्ट न होने के कारण नहीं दिये जा सके।—सम्पा०



दीदारगंज की मूर्ति

फूंद दिखाई दे रहे हैं। कधे पर दुपट्टे के सिरे पर लेखके अग्गर दिखाई द रहे हैं।

आठवां चित्र—



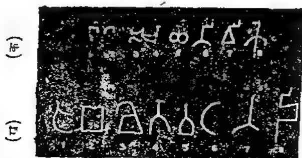
कागज क छापो म लखो की नक्ल

कागज के छापो से लेखो के असली आकार की नक्ल। बिहार उडीसा के पूर्वीहल्के के सुपरिंटडिंग एजिनियर मिस्टर विशुनस्वरूप की बनाई हुई। अक्षरो के नीचे अक दिए हैं।

पहला लेख—(१) (२) (३) (४) (५) (६) (७) (८)
भ गे अ चो छो नी धी शे

दूसरा लेख—(१) (२) (३) (४) (५) (६) (७) (८)
स ब ख त व ट न दि

नवां चित्र—



महामहोपाध्याय श्री हरप्रसाद शास्त्री की मूर्तियो को देखकर

महामहोपाध्याय पंडित हरप्रसाद शास्त्री कृत लेखों की नकल जो उन्होंने मूर्तियों को देख देखकर बनाई है। अक्षर उसी क्रम से दिए हैं। बिंदुवाली पत्थर की रेखा दर्ज है।

दसवाँ चित्र—

देख देखकर मिस्टर ग्रीन की बनाई हुई संदिग्ध अक्षरों की नकल। प्रथम लेख में से (४) चो (५) छा। द्वितीय लेख में स (१) स (या प) (२) य (प) (३) खे।



श्री ग्रीन की बनाई हुई संदिग्ध अक्षरों की नकल

(अ) (ब)

ग्यारहवाँ चित्र—

मिलान के लिये भिन्न-भिन्न अक्षर।

पहली पंक्ति—(१) मूर्ति के लेख का
'व' (२) बूलर के मत से सबसे पुराना
(३) मथुरा का
(४) हाथी गुफा का

दूसरी पंक्ति—(५) मूर्ति के लेख का घ (ई की मात्रा छोडकर)
घ 'धी' (६) भट्टिप्रोलु का
(७) कालसी का
(८) गिरनार का
(९) नानाघाट का
(१०) कोल्हापुर का
(११) नासिक का।
अगले दो रूप फिनीशियन के हैं।

तीसरी पंक्ति—(१२), (१३), मूर्ति के लेख का
स (ष) (१४) कालसी का ष
(१५) दशरथ का ष
(१६) घसूडी का ष
(१७) दिल्ली का स।

चौथी पंक्ति—(१८) मूर्ति का श (ए की मात्रा छोडकर)
श (१९) भट्टिप्रोलु का श या ष
(२०) कालसी का श
(२१) मामूली ब्राह्मी श
(२२) कालसी का श
(२३) (२४) हैदराबाद समाधियों का
(२५) (२६) उसी अक्षर का विकास

पाँचवी पंक्ति—(२७) मूर्ति का
भ (२८) हैदराबाद की समाधि का
(२९) सेवियन लिपि का
(३०) (३१) कालसी का
(३२) भट्टिप्रोलु का
(३३), (३४) उसी का विकास

छठी पंक्ति— (३५) गिरनार का

न (३६) गिरनार का

सातवीं पंक्ति— (१) मूर्ति का क्षच

क्षच (२) भट्टिप्रोलु का च

(३), (४) वहीं के च के दूसरे रूप

आठवीं पंक्ति—

भ (१) गिरनार का

(२) (३) दिल्ली के

(४) (५) सिद्धापुर के

(६) से (१३) डाक्टर वार्नेट के बताए हुए नमूने

[प्रथम प्रकाशन : नागरी प्रचारिणी पत्रिका : १६२० ई०]



इतिहास

न्यायघंटा

राजतरंगिणी मे राजा हर्ष (ई० स० १०८९-११०१) के वर्णन मे लिखा है कि उसने अपने महल के सिंहद्वार पर चारो ओर बड़े-बड़े चार घंटे बँधवा दिए जिससे उनके बजने से वह विज्ञप्ति (प्रार्थना) करना चाहने वालों का आना जान जाय। जानकर तथा उनकी दुखिया वाणी सुनकर वह उनकी तृष्णा ऐसे हटाता जैसे बरसाती मेघ चातकों की।[1]

प्रबंधचिंतामणि मे एक कथा है कि चौड (= ? चोड, चोल, या गौड) देश मे गोवर्धन नामक राजा के यहाँ सभा-मंडप के सामने लोहे के स्तंभ पर न्यायघंटा था जिसे न्याय चाहने वाला बजा दिया करता। एक समय उसके एकमात्र पुत्र ने रथ पर चढ़कर जाते समय जान-बूझ कर एक बछड़े को कुचल दिया। बछड़े की माता (गौ) ने सींग अड़ाकर घंटी बजा दी। राजा ने सब हाल पूछकर अपने न्याय को परम कोटि पर पहुँचाना चाहा। दूसरे दिन सवेरे स्वयं रथ पर बैठ राह मे अपने प्यारे इकलौते पुत्र को लिटाकर उस पर रथ चलाया और गौ को दिखा दिया। राजा के सत्त्व और कुमार के भाग्य से कुमार मरा नहीं।[2]

जिनमंडनगणि ने कुमारपाल प्रबंध मे लिखा है कि कुमारपाल ने राजसिंह द्वार पर न्यायघंटे बँधवाए थे।[3]

अमीर खुसरो अपने 'नुह सिपिहर' अर्थात् नवचक्र नामक फारसी ग्रन्थ मे जो कुतुबुद्दीन मुबारक शाह (तख्तनशीनी सन् हिजरी ७१६, १३१६ ई०) के समय में बना था, लिखता है कि मैंने यह कथा सुनी है कि दिल्ली मे पाँच या छँ सौ वर्ष पहले अनंगपाल नामी एक बड़ा राय था। उसके महल के द्वार पर पत्थर के दो सिंह थे। इन सिंहो के पास उसने एक घंटी लगवाई कि जो न्याय चाहे उसे

१ राजतरंगिणी ७।८७९-८०
२ प्रबंधचिंतामणि, पृ० २८५
३ आत्मानंद सभा का संस्करण, पृ० ६० (२)

वजा दें, जिस पर राय उन्हे वुलाता, पुकार सुनता और न्याय करता। एक दिन एक कौआ आकर घटी पर बैठा और घटी वजाने लगा। राय ने पूछा कि इसकी क्या पुकार है। यह वात अनजानी नही है कि कौए सिंह के दाँतो मे से मास निकाल लिया करते है। पत्थर के सिंह शिकार नही करते तो कौए को अपनी नित्य जीविका कहाँ से मिले? राय को निश्चय हुआ कि कौए की भूख की पुकार सच्ची है, क्योकि वह उसके पत्थर के सिंहो के पास आन बैठा था। राय ने आज्ञा दी कि कई भेड़-वकरे मारे जायें जिसमे कौए को कई दिन का भोजन मिल जाय।[1]

इब्नबतूता सुलतान अलतमश के वर्णन मे लिखता है कि उसने आज्ञा दी कि जिस किसी पर अन्याय हुआ हो वह रगीन कपडे पहना करे। इस देश मे लोग सफेद कपडे पहनते है। इससे जब सुलतान का दरवार होता या वह वाहर जाता और किसी को रगीन कपडे पहने देखता तो उसकी पूछ-ताछ करता और सताने वाले से उसे न्याय दिलवाता। किंतु सुलतान इस उपाय से प्रसन्न नही हुआ। सोचा कि कुछ लोगो पर रात को अन्याय होता है, मैं उनका भी निस्तार करना चाहता हूँ। इसलिए उसने दरवाजे पर दो सगमरमर के सिंह ऊँची चौकियो पर स्थापित किए। इनके गले मे एक जजीर थी जिसमे एक वडा घटा लटक रहा था। अन्याय के सताए रात को आकर घटा वजाते, सुलतान सुनकर झट पूछ-ताछ करता और पुकारू को सतुष्ट करता।[2]

सुलैमान सौदागर, जो भारत और चीन मे पहला मुसलमान यात्री था, और जिसकी यात्रा का विवरण हिजरी सन् २३८ (ई० स० ८५१) के समीप का है, चीन के वर्णन मे लिखता है— हर एक शहर मे एक छोटी घटी होती है जो राजा के या शासक के (बैठने के स्थान मे) सिर पर दीवाल से बँधी होती है। इसके वजाने के लिए लगभग तीन मील लवी डोर वाजार पर से जाती है कि लोग उसे पहुँच सकें। जब डोरी खिचती है तब शासक के सिर पर घटी वजती है और वह झटपट आज्ञा देता है कि जो मनुष्य यो न्याय के लिए पुकार रहा है वह मेरे पास लाया जावे। पुकारू स्वय अपनी दशा और अन्याय का विवरण कहता है। यही चाल सव सूवो मे है।[3]

१ इलियट, जिल्द ३, पृ० ५६५। महाभारत मे कुलिग-शकुनि, कलिंगशकुनि या भूलिग-शकुनि (भू पक्षी) का दृष्टान्त कई जगह दिया है कि वह कहा तो करता है, 'मा साहस, मा साहस'—साहस मत करो, किंतु स्वय इतना साहस करता है कि शेर की दाढ में से मांस के टकडे, निकाल कर खाता है। 'पर उपदेश कुशल' लोगो पर इस पक्षी का दृष्टात दिया है 'न गाथा गाथिन शास्ति बहु चेदपि गायनि। प्रकृति यान्ति भूतानि कलिंगशकुनिर्यथा।' हेमचद्र ने परिशिष्ट पर्व मे इसे 'मासाहसपक्षी' कहा है।

२ इलियट, जिल्द २, पृ० ५६१

३ रेनाडो का अनुवाद, सन् १७३३ का छपा, पृ० २५

बीकानेर[1] के राजा रायसिंह के भाई पृथ्वीराज का हाल सुनने से अकबर के समय में भी ऐसी जंजीर का होना पाया जाता है। पृथ्वीराज ने, जो बड़े कवि थे, यह छप्पय लिखकर गाय के गले में बाँध दिया था—

अधर धरत त्रिण मुख्य ताहि कोऊ नहिं मारत।
सो हम निस दिन चरत बन दुरबल उच्चारत॥
सदा खीर घृत श्ररत मोर सुत पृथ्वी बसावत।
कहा तुरकन को कटु कहा हिंदुन मधु पावत॥
हम नगार पनही हमहिं गलो कटावत हम दिए।
पुक्कार अकब्बर साह सौं कहा खून हमने किए॥

वह फिरती-फिरती बादशाह के महल के नीचे आकर स्वभाव से अदालत की जंजीर में सिर मारने लगी और घंटे बजने लगे। बादशाह फरियादी का आना जान निकल आए और कागज पढ़कर उन्हें ऐसी करुणा आई कि गौवध की मनाई कर दी गई।

पूरब के कवि इसी छप्पय के शब्दों में कुछ फेर-बदल कर इसे 'नरहरि' कवि की रचना कहते हैं जो उसने गाय के सींगों से बाँध दी थी।

सम्राट् जहाँगीर की जंजीर-अदालत का प्रमाण 'तुजुक जहाँगीरी' से मिलता है। वहाँ जहाँगीर लिखता है[2] कि तख्त पर बैठते ही पहला हुक्म जो मैंने दिया वह इन्साफ की जंजीर बाँधने का था, जो अदालत के मुत्सद्दी जुल्म से सताए हुए लोगों की फरियाद को पहुँचाने और जाँच करने में सुस्ती और ढील करें तो वे लोग इस जंजीर को हिला दें जिससे खबर हो जावे और वह इस तौर पर बनाई गई कि मैंने हुक्म दिया कि ४ (ईरान के ३२) मन खरे सोने की ३० गज लंबी जंजीर बनावें जिसमें ६० घंटे लगे हों। उसका एक सिरा तो किले की शाह बुर्ज से लगाया और दूसरा दरिया (यमुना) के किनारे तक ले जाकर एक पत्थर के लाट पर गाड़ा गया।

हिंदी तारीख चगत्ता में जो जयपुरी बोली में जयपुर के महाराज माधोसिंह जी (पहले) की आज्ञा से बनाई गई थी और जिसकी प्रति टोंक के पंडित रामकर्ण जी के पास थी, मुंशी देवीप्रसाद जी ने जहाँगीर के इन्साफ की यह कथा पढ़ी थी। एक गाय ने जंजीर हिलाई और बादशाह ने उसे देखकर साथ में एक सिपाही कर दिया। गाय सिपाही को एक पठान के घर ले गई जिसने कि उसका बछड़ा मार डाला था। सिपाही पठान को बादशाह के पास ले आया। बादशाह ने उसके

१ यहाँ से लेख के अंत तक का विषय मुंशी देवीप्रसाद जी की कृपा से प्राप्त हुआ है।
२ जिल्द १, पृ० ५

हाथ-पाँव बँधवाकर उसे गाय के सामने डलवा दिया और गाय ने उसे सींगों से मार डाला।

शायद उसी किताब में यह कथा भी है कि एक बार एक ऊँट ने जंजीर हिलाकर घंटी बजा दी। बादशाह ने उसकी पीठ छिली हुई और लोहू-लुहान देखकर ऊँटवाले से कहा कि अगर अब छः मन से ज्यादा बोझ लादा तो सजा मिलेगी और उस दिन से ऊँट पर छः मन से ज्यादा बोझ न लादने का कानून बन गया।

[प्रथम प्रकाशन : नागरी प्रचारिणी पत्रिका : १९२२ ई०]

राजाओं की नीयत से बरकत

उनका कमाई के लिये मूर्तियाँ पधराना

प्रबंधचिंतामणि में एक कथा है कि एक समय राजा भोज केवल एक मित्र को साथ लिए हुए रात को नगर में घूम रहा था, प्यास से व्याकुल होकर किसी वेश्या के घर जा उसने मित्र द्वारा जल मँगाया। वह अबली अति प्रेम से किंतु कुछ देर से तथा खेद जतलाकर साँठे के रस से भरा करवा लाई। मित्र ने उसके खेद का कारण पूछा तो वह बोली, ' पहले एक गन्ने के रस से एक घड़ा और एक वाह-टिका (बाटी, वाटकी=कटोरा) भर जाता था, किंतु अब राजा का मन प्रजा की ओर विरुद्ध है इसलिये इतनी देर में (एक साँठे से) एक वाहटिका ही भरी, यही मेरे खेद का कारण है।" राजा ने यह सुनकर सोचा कि शिवमंदिर में कोई धनिया बड़ा भारी नाटक करा रहा था, मेरे चित्त में उसे लूटने की आई, इसलिये यह जो कहती है सत्य है। राजा लौटकर घर आया और सो गया। दूसरे दिन राजा प्रजा पर कृपा दिखाकर फिर उस पणरमणी के घर गया और साँठे में अधिक रस हो जाने के संकेत से यह जानकर कि आज राजा प्रजा की ओर वत्सलता दिखाता है उस वेश्या ने यही कहकर राजा को संतुष्ट किया[1]। इस कहानी पर मुंशी देवीप्रसाद जी ने कृपा करके यह विशेष लेख भेजा है जिसके लिये मैं उनका उपकृत हूँ।

"ऊपर लिखी कहानी से मिलती हुई कथा कई फारसी किताबों में देखी गई। एक किताब (शायद 'इखलाक महोसनी') में उस बादशाह का नाम भी बहराम-गोर पढ़ा था। यह कहानी बहुत मशहूर है, हिंदू मुसलमान बादशाहों की नीयत के बारे में मिसाल के तौर पर इसे कहा करते हैं। जहाँगीर बादशाह ने भी उसको अपनी 'तुजुक' की दूसरी जिल्द में एक प्रसंग से लिखा है जब कि वे उज्जैन में

१ प्रबंधचिंतामणि पृष्ठ ११४-११

थे और प्रसग शिकार का था। वे लिखते हैं कि 'जुमे के दिन (१३वें नौरोज के) आजर[1] महीने की पहिली तारीख को दिल मे बाज और जुर्रे के शिकार की रग़बत (रुचि) बढी तो सवारी जुवार के खेत मे होकर निकली। हर एक तने (सटी) मे एक ही बाली निकला करती है पर एक तना ऐसा देखने मे आया जिसमे १२ बालियां थी, (देखकर) हैरत हुई और उस वक्त बादशाह और बागवान की हिकायत (बात) याद आई।'

'एक बादशाह गर्म हवा मे एक बाग के दरवाजे पर पहुँचा। बूढ़ा बागवान दरवाजे पर खडा था। पूछा कि इस बाग मे अनार हैं? कहा 'हैं।' बादशाह ने फरमाया कि एक प्याला अनार के रस का ला। बागबान की लडकी अच्छी सूरत और स्वभाव की थी, उसको इशारा किया कि अनार का रस ले आ। लडकी गई और फौरन एक प्याला अनार के रस का बाहर ले आई। उस पर कुछ पत्ते भी रखे थे।

"बादशाह ने उसके हाथ से लेकर पी लिया और लडकी से पूछा कि इस पर इन पत्तो के रखने का क्या मतलब था। उसने बडी मीठी बोली से अर्ज किया कि ऐसी गर्म हवा मे पसीने से डूबे हुए और सवारी से पहुँचने मे एक दम पानी पीना हिकमत के खिलाफ है, इस विचार से मैंने पत्ते रस और प्याले के ऊपर रख दिए थे कि धीरे-धीरे पीएँ।

"उसकी यह सुहानी अदा सुलतान के मन मे भा गई और उसने चाहा कि मैं इस लडकी को महल की खिदमतगारनियो मे दाखिल करूँ।

'फिर उस बागबान से पूछा कि तुझको इस बाग से क्या हासिल होता है। कहा, ३०० दीनार। कहा, दीवान (कचहरी) मे क्या देता है। कहा, कुछ नही। सुलतान किसी पेड का कुछ नही लेता है बल्कि खेती का भी दसवाँ हिस्सा ही लेता है।

"बादशाह के मन म आया कि मेरी सलतनत मे बाग बहुत और दरख्त बेशुमार हैं, अगर बाग के हासिल भी दसवाँ भाग दें तो काफी रुपया होता है, और रैयत को कुछ नुकसान भी नही पहुँचता। अब फरमा दूँगा कि बाग़ो का भी महसूल लिया करें।

"फिर कहा कि अनार का कुछ रस और भी ला। लडकी गई और देर मे अनार के रस का एक प्याला लाई। सुलतान ने कहा कि जब तू पहले गई थी तो जल्दी आ गई थी और बहुत ज्यादा ले आई थी। अब तू ने बहुत रास्ता दिखाया और थोडा भी लाई। लडकी ने कहा कि तब तो मैंने प्याला एक ही अनार के

1 पूस वदी ६ शुक्रवार स० १६७१ ता० २७ नवबर, १६१८

रस से भर लिया था, अब ५-६ अनारो को निचोड़ा और उतना रस नही निकला। सुलतान की हैरत और भी बढ गई।

"बागवान ने अर्ज की कि महसूल में बरकत बादशाह की नेक नीयती से होती है। मेरे मन मे ऐसा आता है कि तुम बादशाह होगे। जब तुमने बाग का हासिल मुझसे पूछा तो तुम्हारी नीयत डावाँडोल हो गई जिससे फल की बरकत जाती रही। सुलतान पर इस बात का बडा असर (प्रभाव) पड़ा और उसने उस खयाल को दिल से दूर करके कहा कि एक बेर फिर अनार के रस का प्याला ला। लड़की फिर गई और जल्दी से भरा हुआ प्याला बाहर ले आई और उसने उसे हँसते-खेलते सुलतान के हाथ मे दिया।

"सुलतान ने बागवान की बुद्धिमानी पर शाबाशी देकर सारा हाल जाहिर कर दिया और लड़की बागवान से माँग ली। उस खबरदार बादशाह की यह हिकायत दुनिया के दफ्तर म यादगार रह गई।

"जहाँगीर अपनी ओर से इस कहानी पर लिखते हैं कि इन बातो का जाहिर होना नेकनीयती और इसाफ के नतीजो से है। जब कि इसाफी बादशाहो की नीयत और हिम्मत दुनिया म आराम और रैयत की भलाई में लगी रहे तो नकियो का जाहिर होना, खेतियो तथा बागो की पैदावारो का बढ जाना मुश्किल नही है। खुदा का शुक्र है कि इस सलतनत (हिंदुस्तान) मे पेंडो के हासिल लेने की लाग कभी नही थी और न अब है। अमलदारी के सारे मुल्को मे एक दाम और एक कौडी भी इस सीगे (खाते) की दीवान-आला और खजाने आमरे में दाखिल नही होती है बल्कि हुक्म है कि जो कोई खेती की जमीन म बाग लगावे तो उसका हासिल माफ रहै। उम्मेद है कि सच्चा खुदा इस न्याजमद (दीनहीन) को हमेशा नेकनीयती की श्रद्धा दे।

"जब मेरी नीयत भलाई की है तो तू मुझे भलाई दे।"[1]

"फारसी भाषा के एक कवि ने बादशाहो की नेक नीयत का बखान करते हुए कहा है—

चु नीयत नेक बाशद बादशा रा।
बजाए गुल गुहर खेजद गियारा॥

'अर्थात् जो बादशाह की नीयत नेक हो तो फूल की जगह घास मे मोती लगे।"

ऊपर जो कहा है कि भोज के मन मे शिवमदिर के नाटक को लूटने की आई वह चाहे अनुचित हो, किंतु लोगो के धर्मविश्वास और विनोद से कमाई करना राजाओ का धन-सग्रह करने का पुराना उपाय है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे एक

१ तुजुक जहाँगीर जिल्द २, पृ० २५३ ५४

कोशाभिसंहरण का प्रकरण (९२) है। उसमें प्रजा से नजराने लेने, सम्मान के बदले धन लेने आदि का वर्णन करके लिखा है कि कुशीलव (नाटककार) और रूपाजीवा (वेश्या) से राजा उनकी आधी कमाई ले ले। आगे धर्म के धन की कथा चलती है—"किसी भी पाखंड (धर्म-पंथ) के संघ का धन, या ऐसा देवधन जिसे वेद पढ़े हुए (श्रोत्रिय) न भोगते हों, कृत्यकार (हथकंडों में उस्ताद) लोग यों कहकर खजाने में पहुँचा दें कि हमने वह धन किसी ऐसे के यहाँ रखा था जो मर गया, या ऐसे घर में रखा था जो जल गया। देवताध्यक्ष (अधिकारी) दुर्ग और राष्ट्र के देवताओं का जितना धन हो उसे एकत्र करके कोश बना ले और वैसे ही ले आवे। रात-ही-रात में वहीं पर देवमंदिर या चितास्तूप या कोई सिद्धस्थान या अद्भुत घटना खड़ी करके वहाँ यात्रा और समाज लगवा देवे और उनसे (यात्रा तथा समाजों में आनेवालों के चढ़ावे से) कमावे। यदि चैत्य या बाग के वृक्ष में बिना समय फूल-फल आ जाय तो देवता का आ जाना (कोप) प्रसिद्ध करे (और शांति के चढ़ावे उगाहे)। वृक्ष में किसी मनुष्य को छिपा, उसके द्वारा राक्षस का भय दिखलाकर सिद्ध का स्वांग बनाए हुए लोग पुर और देशवासियों के सुवर्ण से उसका प्रतीकार (शांति) करावें। सोना भेंट चढ़ाने पर सुरंगवाले कुएँ में नाग दिखलावे जिसका सिर बँधा रहे (कि वह दर्शकों को न काटे) श्रद्धालुओं को (भेंट लेकर) नाग की प्रतिमा[1] में जिसमें भीतर छेद हो, या मंदिर या समाधि के छेद में या वाल्मीक के छेद में प्रत्यक्ष नाग का दर्शन करावे, पहले उसे खिलाकर सुस्त बना दे। जो श्रद्धान न हों उनके आचमन और छींटने के पानी में कोई (नशे का) रस मिलाकर (उनके बेहोश होने पर) देवता का कोप बतावें या किसी लावारिस को साँप से कटवाकर अपशकुन मिटाने के लिये शांति करने के बहाने से कोश में धन इकट्ठा करे।"[2] इस प्रसंग में 'सर्पदर्शन' उसी ढंग से आया है जिस ढंग से अशोक के प्रज्ञापन में 'विमानदसनानि'।

जैसा कि कौटिल्य ने लिखा है, राजा लोग धन उगाहने के लिये रात को (नया) दैवत चैत्य खड़ा कर वहाँ पर यात्रा और समाज लगवाकर कमाते थे। इसका प्रमाण पतंजलि के महाभाष्य के उस अंश से मिलता है जिसमें कहा गया है—"हिरण्यार्थी मौर्यों से अर्चाएँ प्रकल्पित की गईं।' इस पर बहुत टीका-टिप्पणी

१ कहते हैं कि जयपुर में महाराज रामसिंहजी के समय में एक गुसाईं जी आए थे जिनके ठाकुरजी कथन भारती के पीछे नृत्य करते थे। श्रद्धालुओं की भीड़ होने लगी। एक दिन महाराज पहुँच गए और जब नूपुरों की ध्वनि हो रही थी, उन्होंने पर्दा हटा दिया। क्या देखते हैं कि चूहों के पैरों में मँजीरे बँधे हैं और वे प्रसाद के लोभ से इधर उधर फिरकर रासलीला कर रहे हैं। सुनते हैं कि संप्रदायों से महाराज की अरुचि का प्रारम्भ उस दिन से हुआ।

२ पृष्ठ - २४२ अनुवाद मेरा है और पहले अनुवाद से कुछ भिन्न है।—गुलेरी

वाद-विवाद और सदेह-सदोह हुए हैं।[1] कभी अर्थ किया गया कि मौर्यों ने सोने की जरूरत पड़ने पर प्रतिमाएँ बेची, कभी कहा गया कि प्रतिमाएँ गला कर सिक्के बनाए। उस प्रसंग का पूरा अर्थ यहाँ दे दिया जाता है।

पाणिनि कहते हैं कि किसी वस्तु के सदृश उसकी प्रतिकृति या मूर्ति बनाई जाए तो उसके आगे क प्रत्यय होगा, जैसे अश्व की सी अश्व की मूर्ति अश्वक[2]। जो प्रतिकृति जीविका के लिये बनाई हो, परन्तु बिक्री के लिये न हो वहाँ क नही लगता।[3] जैसे सिलावट मे शिव, स्कद या विशाख की मूर्तियाँ गढ कर बजार में बेचने को रखी हो तो व शिवक, स्कदक, विशाखक, कहलाएँगी किंतु यदि वे बिक्री के लिये न होकर जीविका के लिये हों तो शिव, स्कद या विशाख ही कहलाएँगी। वे मूर्तियाँ कौन हो सकती हैं जो अपण्य होकर भी जीविकार्थ हो? स्मरण रहे कि क न लगने के लिये दो शर्तें पूरी होनी चाहिएँ—मूर्ति बिक्री के लिये न हो और उससे जीविका भी चल जाय। काशिका और कौमुदी का मत है कि ये देवलक (पुजारी) आदि की जीविका देनेवाली देवप्रतिकृतिया के लिये हैं। कैयट कहता है कि जिन मूर्तियों को लेकर घर-घर (पुजारी) फिरते हैं उनसे मतलब है। इसी को देखकर कौमुदी के टीकाकार ने घुमाई जानेवाली मूर्तिया को इस सूत्र मे माना है, और स्थिर प्रतिमाओं को क से बचाने के लिये पाणिनि के अगले सूत्र मे देवपथ आदि की शरण ली है।[4] घरो में पूजी जानेवाली मूर्तियाँ जो केवल पूजनार्थ होती हैं, जिनसे जीविका नही होती, वे देवपथादि मे हैं। वस्तुत घर-घर घूमनेवाली और मदिरो मे स्थिर रहने वाली मूर्तियो मे कोई भेद नही है, दोनों ही अपण्य हैं, दोनो ही जीविकार्थ है। क कहाँ-कहाँ नहीं जुड़ता, इसका वैयाकरणो का एक सग्रह श्लोक है—केवल पूजन के काम की अर्चाओ मे, चित्रकर्म (=तसवीरो) मे (उदा०—अर्जुन की तस्वीर=अर्जुन, अर्जुनक नहीं), ध्वज (=झडे पर बनी मूर्ति) मे (उदा०—अर्जुन के रथ के झडे पर कपि की मूर्ति=कपि, कपिक नही) और देवपथ आदि गिने हुए शब्दो मे (उदा०—उष्ट्रग्रीवा पतली गरदन की सुराही, उष्ट्रग्रीविका नही, काव्यों में शराब पीने की चुसकी के

१ गोल्डस्टुकर (पाणिनि पृ० १७५, ६) वेबर और भडारकर (इ० ए० जिल्द १), भडारकर और पीटर्सन का विवाद (ज० ब्रां० बं० रा० ए० सो०) और जायसवाल (इ० ए० जिल्द ४७)

२ इवे प्रतिकृतौ ५।३।९६

३ जीविकार्थे चापण्ये ५।३।९९

४ देवपथादिभ्यश्च ५।३।१००

लिये 'उप्द्रिका' आता है) प्रतिकृति और सादृश्य अर्थ मे क नही लगता।[1] अब व्याकरण की बात हो चुकी, पतजलि की ऐतिहासिक टिप्पणी पर आइए।

पाणिनि—जीविकार्थं अपण्य (सदृश प्रतिकृति) मे भी ('क' नही लगता)।

पतजलि[2]—(सूत्र मे जो) यह कहा गया है कि 'अपण्य में' तो यह सिद्ध नहीं होता—शिव, स्कद, विशाख, क्या कारण है ? सोना चाहनेवाले मौर्यों ने अर्चा कल्पित की थीं। (मौर्यों ने यात्रा और समाजो से रुपया कमाने के लिये शिव, स्कद और विशाख की मूर्तियां चलाई थी। यह तो दूकानदारी थी, कमाई थी, सरासर बिक्री थी। यह तो कोई बात नही कि गरीब सिलावट मूर्ति बनाकर धन कमावे तो वह मूर्ति 'शिवक' कहलावे और बडे राजा दूकानदारी करें तो वह शिव ही कहलावे। क्या व्याकरण के प्रत्यय भी राजाओ के हुक्मी बदे हैं ? इसका उत्तर देते हैं)—खैर उनमे न सही (उनमे 'क' मत उडाओ, उन्हे शिवक आदि ही कहो) किंतु जो ये आजकल पूजा के लिये हैं (चाहे वे मौर्यों की कल्पित हों चाहे किसी और की) उनमे तो हो जायेगा (मौर्यों की बनाई मूर्तियां उनके समय मे पण्य थी उन्हें 'शिवक' कहो, अब तो मौर्य नही रहे, उनकी दूकान उठ गई, यदि उनकी बनाई मूर्तियां अब तक पुजती हैं, या किसी और की स्थापित मूर्तियां हैं, वे पण्य नही हैं, केवल पुजारियो की जीविकार्थ हैं, उन्हे तो शिव, स्कद आदि कहो)।

कैयट—(पतजलि के 'जो तो ये' आदि लेख पर) इसका अर्थ यह है कि जिन्हे लेकर घर-घर फिरते हैं उनमे (क का लोप हो जायगा), जो बेची जाती हैं उनमे (लोप) न होगा (क रह जायगा), जैसे शिवको को बेचता है।

नागोजीभट्ट—(पतजलि के 'मौर्यों ने' आदि लेख पर) मौर्य 'बेचने के लिये' प्रतिमा के शिल्पवाले (बिक्री के लिये मूर्तियां बनाने का व्यवसाय करने वाली, शिल्प जाननेवाली जाति) हैं उन्होंने मूर्तियां बनाई हैं। 'बेचने के लिये' इतना और (पतजलि के वाक्य मे) जोडो। इसलिये, उनके पण्य होने से वहां (क) प्रत्यय सुनाई देने का मौका है यह मतलब है। वहां (क) प्रत्यय का सुनाई पडना

१ अर्चासु पूजनार्थासु चित्रकर्मध्वजेषु च। इवे प्रतिकृतौ लोप कनो देवपथादिषु ॥ 'गण-रत्नमहोदधि' में किसी वैयाकरण के 'प्रतिच्छन्देऽनचरि' सूत्र पर इस देवपथादिगण को 'अर्चादि' कहा है। उसके श्लोक ये हैं—अर्चासु पूजनार्थासु चित्रकर्मनटध्वजे। पञ्चाक्षर-कुटीदासीवस्त्रिका भरि काश्यप ॥ देवराजाजशब्दकुम्भ करिसिंधूकतात् पथ। सिद्धोप्त्राभ्यां गनिपीविवामाऽग्न स्वसात् पथ ॥ क्षरकुटी=नाई की दुकान।

२ अपण्य इत्युच्यते तत्रेदं न सिध्यति—शिव स्कन्दो विशाख इति। किं कारणम्? मौर्यैर्हिरण्यार्थिभिरर्चाः प्रकल्पिताः। भवेत्, तासु न स्यात्। यास्त्वेताः संप्रति पूजार्था-स्तासु भविष्यति।

ठीक ही है यह कहते हुए (पतजलि) सूत्र का क न रहने का उदाहरण दिखाते हैं 'उनमे हो, जो तो ये' इत्यादि से । 'आजकल पूजा के लिये' (अर्थात्) सप्रति—अपने बनाने के समान काल मे ही फल उपजानेवाली जो (प्रतिमाएँ) पूजा और जीविका देनेवाली होने से उस (जीविका देने के) अर्थवाली हैं, यह अर्थ है । वही (कैयट) कहता है— जिन्हें लेकर' इत्यादि । जो मूर्तियाँ घर मे शिष्टो से पूजी जाती हैं उनमे तो शिव की अभेद बुद्धि होने से और सादृश्य की बुद्धि न होने से (क) प्रत्यय होता ही नही । (सग्रहकारिका को याद करके) या ही विप्रा के लिये देखना ।

कैयट न ऐतिहासिक बात का कुछ व्याख्यान नही किया । 'यास्त्वेता सप्रति पूजार्था' मे भी घर-घर घुमाई जानेवाली मूर्तियो की बात की । नागोजी ने मौर्य का अर्थ मूर्ति बनाने वाली जाति किया, यह न सोचा कि मूर्ति बनानेवालो का पेशा यही है, उनकी बनाई मूर्ति सदा पण्य होगी, उसम 'क' न लगने का मौका ही कहाँ आवेगा ? पतजलि ने उदाहरण के लिये कोई ऐसी मूर्तियाँ चाहिएँ जो प्रत्यक्ष मे अपण्य हों किंतु असल मे पण्य हों, जिनकी दूकानदारी छिपी हो। ऐसी मूर्तियाँ वे ही हो सकती हैं जो, अर्थशास्त्र के अनुसार राजाओ ने 'यात्रासामाजाभ्यामुपजीवेत्' के लिये खडी की हो । फिर सप्रति का अर्थ आजकल, भाष्यकार के समय मे, न समझ कर वह कहता है कि अभी, बनाते ही, जिनसे पूजा और जीविका का लाभ हो ! आगे उसे यह बरदाश्त न हुई कि घर के शिवलिंग को कोई शिव की प्रतिकृति' कह दे । उसमे तो सादृश्य की बुद्धि ही नही, अभेद की बुद्धि ठहरी, वहाँ 'इवे प्रतिकृतौ' की गुजाइश ही नही !!

मेरे पास स० १८७२-४ का पजाब के प्रसिद्ध विद्वान सारस्वत प० जैसराम जी का स्वहस्तलिखित एक सपूर्ण सकैयट महाभाष्य है जिस पर मैंन अध्ययन किया था[1] । उसम इस स्थल पर प० जैसरामजी के हाथ की टिप्पणी है । पहले

१ भिन्न भिन्न अध्यायो के लिखे जाने का काल रोचक होने से यहाँ दिया जाता है—
प्रथम अध्याय—(दो आह्निकों म विवरण भी साथ हैं)—सवत १८७२ ज्येष्ठ शुक्ल ११
द्वितीय अध्याय—सवत् १८७४ भाद्रा (!) व कृष्ण १४ भृगुदिने ।
तृतीय अध्याय—सवत १८७४ दीपमालिकायाम् (=कार्तिक कृष्ण ३०)
चतुर्थ अध्याय—सवत् १८७४ पौषसिताष्टम्याम् (=पौष शुक्ल ८)
पचम अध्याय—सवत १८७४ आश्विन सिते ११
षष्ठ अध्याय—तिथि नही है ।
सप्तम अध्याय—सवत् १८७२ शिवरात्र्याम् (=फाल्गुन कृष्ण १४)
अष्टम अध्याय—सवत् १८७३ कार्तिक शुक्ल १५ ॥ सकैयट महाभाष्य जैसरामण धीमता । भवानीदासपुत्रेण लिखित शोधित तथा ॥ तदस्तु प्रीतय भूयो भवानीविश्वनाथयो ॥ श्रीगुरुभ्यो नमो नित्य पितृभ्यश्च नमो नम ॥ २ ॥ श्रीमद्विश्वेश्वर प्रीयताम् ॥ शुभ भवतु ॥

तो नागोजी का मत लिखा है कि "विक्रेतु प्रतिमाशिल्पवतो मौर्या इति विवरण-कारा" आगे लिखा है "क्षत्रियविशेषेषु तु प्रसिद्धा"। इस 'तु' से जान पडता है कि पुराने पडितो मे मौर्यराजाओ के अर्चाएँ बनाने की कुछ परंपरागत प्रसिद्धि थी और वे नागोजी के अर्थ से सतुष्ट न थे।

[प्रथम प्रकाशन नागरी प्रचारिणी पत्रिका : १६२२ ई०]

हूण

पराक्रमी हूणों का स्मरण अभी तक कई प्रकार से चला आता है। हरियाना प्रांत में जब कोई मनुष्य किसी दूसरे से भिड़ते हुए झिझकता है तो उसे हिम्मत बढ़ाने के लिये कहा जाता है—'अरे, यह क्या कोई हून है ?' कोई बहुत गाल बजाता है तो भी कहते हैं, "बड़ा कहीं का हून आया !" राजपूताने की ऐतिहासिक दंतकथाओं में कई उच्छृंखल 'हून' वीरों की कथाएँ हैं जो दुर्गम घाटी में रहते और व्यापारी, यात्रियों आदि से लूट उगाहते थे। दक्षिण में एक सिक्का 'हून' नामक था जो अभी-अभी तक चलता रहा। राजपूतों के छत्तीस कुलों में एक 'हूण' भी है। इतिहास में कई प्रतिष्ठित और परिज्ञात राजाओं का हूण-कन्याओं से विवाह हुआ लिखा मिलता है। मेवाड़ के राना अल्लट (वि० सं० १०१०) की रानी हरियादेवी हूण-कुल की थी। त्रिपुरी (तेवर, चेदिमंडल) के कलचुरि (हैहय) वंशी राजा कर्णदेव की स्त्री आवल्लदेवी हूण-कुल की थी जिसका पुत्र यशःकर्णदेव था (अजनि कलचुरीणां स्वामिना तेन हूणान्वयजलनिधिलक्ष्म्यां श्रीमहावल्लदेव्याम्। ..श्रीयशःकर्णदेव, एपि० इंडि० जि० २, ३—५ यशःकर्ण के पुत्र गयकर्ण की प्रशस्ति)।

[प्रथम प्रकाशन नागरी प्रचारिणी पत्रिका १९२२ ई०]

कालिदास के समय में हूण

आजकल कालिदास के काव्यों पर मल्लिनाथ ही की टीकाएँ अधिक पढ़ाई जाती हैं। यह प्रसिद्ध टीकाकार दक्षिणी था और ईसवी चौदहवीं शताब्दी के मध्य मे हुआ था। इसके वश के लोग अब भी मद्रास प्रान्त मे पाए जाते हैं। मल्लिनाथ ने दावे के साथ लिखा है कि खोटी व्याख्याओं के विष से कालिदास की कविता मूर्च्छित हो गई है। उसे यह मेरी सञ्जीवनी टीका फिर जिला देगी।[1] इसलिए उसने टीकाओं का नाम 'सञ्जीवनी' रक्खा है।

इससे पहले कालिदास के काव्यो में और भी कई पुराने टीकाकार थे, जिनमे एक वल्लभदेव या वल्लभ भी थे। ये कश्मीर के रहने वाले थे। इनकी मेघदूत की टीका हुल्श साहब ने विलायत मे छापी है। गणरत्नमहोदधि नामक व्याकरण-ग्रथ के कर्ता वर्धमान ने—लावण्य उत्पाद्य इवास यत्न (कुमारसम्भव १।३५) की वल्लभदेव की टीका का हवाला दिया है।[2] इससे वे वर्धमान के पहले के हुए। वल्लभदेव ने माघ के शिशुपालवध के कवि-वश वर्णन की टीका करते समय बिल्हण का उल्लेख किया है। इससे वल्लभ को बारहवी शताब्दी (ईसवी) के प्रारंभ मे मानना अयुक्तियुक्त नही। वल्लभ इस प्रकार मल्लिनाथ से प्रायः दो सौ वर्ष पुराने है। वे उत्तरीय भारत के थे। इसलिए उन्होंने जो कालिदास की रचना का पाठ माना है, वही अधिक प्रामाणिक है। 'रघुवश' के चौथे सर्ग मे राजा रघु के दिग्विजय का वर्णन है। उसमे उत्तर दिशा के राज्यो के विषय-वर्णन मे यह श्लोक है—

विनीताध्वश्रमास्तस्य सिन्धुतीर विचेष्टितै.।
दुधुवुर्वाजिनः स्कन्धाल्लग्नकुङ्कुमकेसरान्॥

१ भारती कालिदासस्य दुर्व्याख्याविषमूर्च्छिता।
एषा सञ्जीवनी टीका तामद्योज्जीवयिष्यति॥

२ वल्लभस्य तु तिङन्तप्रतिरूपको निपात इति न समाप्तम्। तादृशस्यैव तिङन्तस्याभावात्॥

'अमरकोश' मे केसर का पर्याय वाल्हीक भी लिखा है। वाल्हीक देश मे होने से केसर का यह नाम पड़ा है—जैसे काश्मीर मे होने से उसका दूसरा नाम 'काश्मीर' या 'काश्मीरज' है या सिन्धु देश मे होने से घोडे का नाम 'सैन्धव' है। 'अमरकोश' के एक टीकाकार क्षीरस्वामी, ग्यारहवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे हुए हैं। 'वाहीक' शब्द पर टीका करते हुए उन्होंने रघुवंश के इसी श्लोक का उत्तरार्द्ध उद्धृत[1] किया है, जिससे तात्पर्य यह निकलता है कि क्षीर स्वामी के मत मे, रघु के घोडो ने अपने केसर लगे हुए कन्धे वल्हीक-देश मे हिलाये थे। पर वल्हीक-देश मे सिन्धु नदी कहाँ ? मल्लीनाथ को ऐसी छोटी-छोटी बातो की क्या परवा ?

अब वल्लभ की टीका की तरफ चलिये। वहाँ 'वङ्क्षुतीरविचेष्टितैः' मान-कर उन्होंने टीका की है—'वङ्क्षु नाम्नी नदी तस्यास्तीरे'। किसी-किसी पुस्तक मे 'वङ्क्षू' भी पाठान्तर है। अतएव क्षीर स्वामी तथा वल्लभदेव के मत मे रघु ने, उत्तर-दिग्विजय मे, हूणो को वल्हीक-देश मे जाकर जीता था, जहाँ कि वङ्क्षु नदी बहती है।

वल्हीक देश या बैक्ट्रिया मे बहने वाली एक प्रसिद्ध नदी का ग्रीक नाम अक्सस (oxus) है। तारतम्यात्मक भाषा-विज्ञान के मत से इसका संस्कृत रूप 'वक्ष' और प्राकृत 'वक्कू' है जो अनुनासिक उच्चारण से 'वङ्क्ष' या 'वङ्क्षु' बोला जा सकता है। प्रसिद्ध यात्री हुएन्त्साङ ने इस नदी का नाम 'पोचू' या 'फोचू' लिखा है। संस्कृत 'व' को इस चीनी यात्री के देश भाई 'पो' या 'फो' उच्चारण करते थे—जैसे मालवा=मोलोपो, भवदेवकुल=मोफोटिपोकुलो। क्ष (संस्कृत) या क्क, क्ख (प्राकृत) के लिए हुएन्त्साङ 'च' लाता है, जैसे तक्षशिला या तक्खशिला=चच शिथिलो। इससे फोचु या पोचु नदी वक्षु या वक्कू हुई अर्थात् सुप्रसिद्ध ग्रीक (oxus) नाम से संस्कृत और प्राकृत रूप वक्षू वङ्क्षू अथवा वक्कू या वङ्कू है। क्षीर स्वामी और वल्लभदेव के अनुसार कालिदास ने इसी के तीर पर रघु को पहुँचाकर हूणो का पराजय कराया है। इससे सिद्ध होता है कि कालिदास के समय मे हूण (huns) वल्हीक देश मे 'वङ्क्षु' नदी के किनारे थे।

कनिंघम, स्मिथ प्रभृति ऐतिहासिको का मत है कि ईसा की पाँचवी सदी के आरम्भ मे हूण वहाँ बस गये थे और उनका भारतवर्ष पर पहला ही पहला आक्रमण ईसवी सन् ४५५ के पहले अर्थात् हूणो के हिन्दुस्तान पर आक्रमण करने के पहले, किंतु उनके आक्सस नदी की घाटी मे बस जाने के पीछे बनाये।

पूर्वोक्त श्लोक के आगे ही 'रघुवंश' म यह श्लोक है—

1 वल्हीकदेशज यद्घोरुत्तर दिग्विजये दधुयुर्वाजिन। इत्यादि।

तत्र हूणावरोधानां भर्तृषु व्यक्त विक्रमम् ।
कपोलपाटलादेशि बभूव रघुचेष्टितम् ॥

हिन्दू विधवायें, पति वियोग होने पर विलाप करते समय गालों को पीट-पीटकर लाल कर लेती हैं। मल्लिनाथ ने इसी रीति का उल्लेख इस श्लोक से समझकर उसी के अनुसार 'पाटलस्य पाटलिमस्ताडनादिकृतारुण्यस्य' अर्थ किया है। किन्तु वल्लभ ने पाठको 'पाटनादेशि' मानकर टीका की है—

'कपोलपाटनमादिशति पतिवधाद्भार्यां ।
हूणस्त्रियः कुच कपोलं नखैर्विदारयन्ति' ॥

चारित्रवर्धन और सुमन्त विजय ने भी यही पाठ मानकर टीका की है। लिखा है—

"हूणयोषित कुचकपोलविदारणपूर्वरुदन्तीति तद्देशाचारः।"

प्रसिद्ध चीनी यात्री हुएन्साङ् ने चीन और भारत के बीच के भाग के निवासियों के आचार-व्यवहार के वर्णन में कई जगह लिखा है कि वे लोग मौत हो जाने पर शोक-विलाप में अपने गालों को फाड लेते है। यथा:

"वे मुर्दों को जलाते हैं। सोग की कोई अवधि उनके यहां निर्दिष्ट नहीं। वे मुख की चमडी उधेड डालते है और कान काट डालते है।

"कुछ जातियों में स्पष्ट ही यह रीति थी कि पिता या सरदार की मृत्यु पर चेहरे को चीर-फाड देते थे।

"जब टग तई त्सुङ् की मृत्यु हुई तब राजधानी के रहने वाले बर्बरो ने चिल्ला-चिल्लाकर, अपने बाल काटकर, चेहरे को चीरकर और कानों को काटकर अपना शोक प्रकट किया। यहाँ तक कि भूमि लोहू से धुल गई।" (वाटर्स युएनचाङ्)

इन अवतरणों से स्पष्ट है कि कालिदास ने 'कपोलपाटनादेशि' ही लिखा होगा, पर भारतवर्ष के बाहर की जातियो की चाल-ढाल को न जानने वाले टीकाकार उसके स्वारस्य को न समझ सके।

पूना के प्रोफेसर के० बी० पाठक ने, 'इंडियन एंटिक्वेरी' की नवम्बर सन् १९१२ की सख्या मे इस विषय पर एक लेख लिखा है उसी की छाया पर यह नोट लिखा गया है।

[प्रथम प्रकाशन : सरस्वती : १ सितम्बर, १९१३ ई०]

सवाई

आमेर की गद्दी पर महाराज जयसिंह पहले को मुगल बादशाह से मिर्जा (राजा) की उपाधि मिली थी और यह प्रसिद्ध है कि जयसिंह दूसरे को, जिन्होंने जयपुर बसाया, एक प्रसिद्ध वाक्पटुता पर औरगजेब ने 'सवाई' उपाधि दी। तब से जयपुर के महाराजा सवाई कहलाते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि फारसी लेखक प्रथम और द्वितीय जयसिंह मे भेद करने के लिये द्वितीय के नाम को महाराजाधिराज जयसिंह—या धिराज (!) जयसिंह, जैसा कई तवारीखो मे है—'सानी' लिखते थे। *'सानी' का लेखदोष से 'सवाई' हो गया जो बिना पूछेपाछे उपाधि* बना लिया गया। इस कल्पना मे द्वेष को छोडकर कुछ सार नही। सवाई पद जयपुर के वश से निकलनेवाले अलवर वश ने तो लिया, किंतु और भी कई वशो ने, यो ही या तो, क्यो धारण कर लिया ? 'सवाई' पद इतना प्रिय हुआ कि सभाजी भी अपने को 'सवाई' कहता था और पेशवा नारायणराव के पुत्र सवाई माधवराव पेशवा ने उसे नाम का अग ही बना लिया।

शत्रुजय पर्वत पर के जैन शिलालेखो मे जहाँगीर बादशाह के नाम के साथ 'सवाई' उपाधि लगी मिलती है। यथा[1]—

(लेख न० १५) स० १६७५ वैसाख सुदि १३ तिथौ शुक्रवासरे सुरताण नूरदीन जहाँगीर सवाई विजयि राज्ये ॥···

(लेख न० १७) स० १६७५ मिते सुरताण नूरदी जहाँगीर सवाई···विजयिराज्ये साहिजादा सुरताणखोसडू (=खुशरो) प्रवरे श्रीराजी नगरे (=अहमदाबाद) सोवइ (=सूवा) साहियान सुरतान पुरमे (खुर्रम) वैशाखसित १३ शुक्रे···

(लेख न० १८) सवत् १६७५ प्रमिते सुरताण नूरदी जहाँगीर सवाई विजयि-

१ एपिग्राफिया इडिका, जिल्द २ पृष्ठ ३४ प्रभृति।

राज्ये साहिजादा सुरताण पोसरूप्रवरे राजनगरे सोवइ साहियान सुरतान पुरमे वैशाखसित १३ शुक्रे।...

(लेख न० १६) सवत् १६७५ मिते सुरताण नूरदी जहागीर सवाई विजयिराज्ये साहिजादा सुरताण पोसडू प्रवरे राजनगरे सोवइ साहियान सुरतान पुरमे वैशाखसित १३ शुक्रे...

(लेख न० २०) सवत् १६७५ प्रमिते ।। सुरताण नूरदी जहागीर सवाई विजयिराज्ये साहिजादा सुरतान पोसरूप्रवरे श्रीराजनगरे सोवइ साहियान सुरतान पुरमे वैशाख सित १३ शुक्रे।...

(लेख न० २३) स० १६७५ वैशाख सित १३ शुक्रे सुरताण नूरदी जहागीर सवाई विजयिराज्ये ।। श्रीराजनगर...

(लेख न० २४) स० १६७५ वैशाख सित १३ शुक्रे सुरताण नूरदी जहागीर सवाई विजयिराज्ये ।। श्रीराजनगर...

(लेख न० २७) भी जहांगीर के समय का है किंतु उसमे सवाई उपाधि नही है—

स० १६८३ वर्ष । पातिसाह जिहागीर श्रीसलेमसाह भूमडलाखडल विजय राज्ये ।।

अस्तु, ये लेख एक ही सवत् और एक ही वश के होने पर भी भिन्न-भिन्न स्थलो पर हैं। सवाई एक हिंदुस्तानी उपाधि थी जिसका अर्थ पूर्ण से अधिक(सवा, सपाद, १.१/४) होता है। यह बहुत पहले से बादशाह जहांगीर के नाम के साथ प्रामाणिक रूप से मिलती है, या फिर महाराज जयसिंह दूसरे के नाम के साथ ।

जैनो के यहां प्रसिद्ध है कि हीरविजयसूरि के शिष्य विजयसेनसूरि को बादशाह अकबर ने 'सूरिसवाई' की उपाधि दी थी (सूरीश्वर अने सम्राट् पृ० १६२)

जोधपुर के राजा अजीतसिंह, जिनकी कन्या मुगल बादशाह फर्रुखसियर को ब्याही थी, उस समय के राज-कर्ता सैयद बधुओ मे से सैयद अबदुल्ला से मिलकर अपने जामाता के विरुद्ध लडे। सैयद अबदुल्ला से ही उन्होने महराजा उपाधि पाई। अत को वे रुष्ट होकर अपनी कन्या को नौकर-चाकर और बहुत-सी धन-दौलत के साथ हिंदू वेश मे दिल्ली से अपने घर ले आए। तारीख इबराहीम खां मे लिखा है कि किसी हिंदू राजा ने ऐसी गुस्ताखी नही की थी। बाबू राखालदास बनर्जी ने किसी फारसी इतिहास मे देखा है कि अजीतसिंह की सवाई उपाधि पाने की इच्छा और उसके लिये परम उद्योग का फलीभूत न होना ही इस विद्रोह का कारण था। यह अंतिम वाक्य बनर्जी महाशय के कथन के प्रमाण पर ही लिखा गया है।

[प्रथम प्रकाशन - नागरी प्रचारिणी पत्रिका : १६२२ ई०]

चारणों और भाटों का झगड़ा

बारहट लक्खा का परवाना

तीर्थगुरु और पडो की बहियों की खोज करने से बहुत सी इतिहास के काम की बातें मिल सकती हैं। उज्जैन में चारणो के कुलगुरु शक्तिदानजी[1] है। उनकी चौथी बही के ५८३वें पन्ने पर एक परवाना है। यह बारहट लक्खा का दानपत्र है। मारवाड के आउवा ग्राम के रहनेवाले जगदीश बारहट मुरारीदान जी न इस पट्टे की प्रतिलिपि मुझे लाकर दी, इसलिये मैं लेख के आरम्भ मे धन्यवाद-पूर्वक उनका स्मरण करता हूँ। नकल पर मुरारीदान जी ने लिखा है—

नकल परवाना कुलगुरु शकतीदानजी रे चौपडा[2] ४ रे पाने ५८३ रे मु उज्जैण।

परवाने के चारो कोनो पर चार गोल मुहरें हैं। प्रत्येक मे यह इबारत है—

॥ श्री ॥ श्रीदीलीपत पातसाहजी श्री १०८ श्री अकबर साहजी वदे दवगीर[3] बारट लषा।

बारहट लक्खा के विषय मे मुशी देवीप्रसादजी ने कृपा करके जो लिख भेजा है, वह यहाँ उद्धृत किया जाता है। टिप्पणियो मे भी जो कुछ मुशी जी की कृपा से प्राप्त हुआ है वह चौकोर ब्रैकेट [ ] मे 'दे०' इस सकेत के साथ लिखा गया है।

[ये रोहडिया जाति के बारहट गाँव नानणपाई परगना सावडे के रहनेवाले थे। बद्रीनाथ की यात्रा को गए थे, छीका टूट जाने से पहाडो के नीचे गिर पडे।

1 [इनके घर मे भी गया हूँ और दुर्गादास राठौड और कवि कलश के प्रसग वगैरह के पत्रो की नकलें लाया हूँ। दे०]

2 बही।

3 आशीर्वादक सेवक।

चोट ज्यादा नही लगी । पास ही पगडडी थी जिस पर कुछ दूर चल कर एक जगह पहुँचे जहाँ चार धूनियाँ जग रही थी जिनमे तीन पर तो तीन अतीत बैठे तापते थे, चौथी खाली थी । अतीतो ने लक्खा जी से पूछा कि कहाँ रहता है ? यहाँ क्योकर आया ? इन्होंने कहा, "महाराज ! दिल्ली मडल मे मेरा गाँव है, बद्रीनाथ जी की यात्रा को जाता था, छीका टूट पडा जिससे आपकी सेवा मे उपस्थित हुआ । चौथे महात्मा कहाँ हैं, उनके भी दर्शन हो जावें तो वापिस चला जाऊँ।" उन्होने कहा कि वह तो तेरी दिल्ली म राज करता है । लक्खा जी ने कहा कि महाराज, दिल्ली मे तो अकबर बादशाह राज करता है । कहा, हाँ, वही अकबर इस चौथी धूनी का अतीत है, तू उससे मिलेगा ? कहा, महाराज, वहाँ तक मुझे कौन जाने देगा ? कहा, हम चिट्ठी लिख देंगे ।

लक्खा जी उनकी चिट्ठी और कुछ भस्मी लेकर दिल्ली मे आए । बादशाह की सवारी निकली तो दूर से वह चिट्ठी और राख की पोटली दिखाई । बादशाह ने पास बुलाकर हाल पूछा और वे दोनों चीजें ले ली । कहा कि हमारी धूनी मे तेरा भी सीर (साझा) हो गया और उनको अपने पास रख लिया।

यह कथा जैसी सुनी, वैसी लिख दी है । मालूम नहीं कि यह सही थी या लक्खा जी ने बादशाह को हिंदुओ के धर्म की तरफ झुका हुआ देखकर वहाँ घुस-पैठ होने के वास्ते गढ ली थी ।

कहते है कि बादशाह ने लक्खा जी को अतरवेद मे साढे तीन लाख रुपये की जागीर देकर मथुरा रहने को दी जहाँ लक्खा जी बडे ठाठ से रहते थे । बादशाह की उन पर पूरी मेहरबानी थी । बादशाह ने उन्हे बरणपतसाह अर्थात् चारणो के बादशाह की पदवी भी दी थी जिसकी साख (प्रमाण) का यह दोहा है—

> अकबर मुंह सूँ आखियो, रूडो कहे दोहू राह।
> मै पतसाह दुन्यानपत, लखा बरणपतसाह ।।

यह भी कहते हैं कि एक बार जोधपुर के राजा उदयसिंह जी मथुरा मे लक्खा से मिलने गए, पर लक्खा जी ने तीन दिन तक उनसे मुलाकात नही की, क्योकि उन्होने मारवाड के शासन-गाँव (चारणो को दिए हुए) जब्त कर लिए थे जिसके वास्ते बहुत से चारण आउवे मे धरना देकर मर गए थे । चौथे रोज अपनी ठकुरानी (स्त्री) के यह कहने पर कि निदान तो आपके धणी (स्वामी) है, इनसे इतनी बेपरवाही नही करना चाहिए, वे राजा जी से मिले ।

चारणो मे लक्खा जी का बडा जस है, क्योकि बादशाह की आज्ञा करके जो कोई चारण दिल्ली, आगरे मे आता था तो लक्खा जी किसी न किसी उपाय से उसको दरबार मे ले जाकर बादशाह का मुजरा करा देते थे, जिससे उसकी

मनशा पूरी हो जाती थी। इसी वास्ते ये लोग अब तक भी यह दोहा पढ-पढ़कर उनकी कीर्ति बढ़ाते हैं। यह आढा जाति के चारण दुरसा जी का कहा हुआ सुना जाता है—

दिल्ली दरगह अंब फल, ऊँचा घणा अपार।
चारण लक्खो चारणां, डाल नवांवणहार॥

अकबर बादशाह की तवारीख मे तो लक्खा का नाम कही नही आता है, लेकिन गाँव टहले के बारहटो के पास, जो लक्खा जी की औलाद हैं, कई पट्टे-परवाने हैं, जिन्हे देखने से पाया जाता है कि लक्खा अकबर बादशाह के समय से जहाँगीर के समय तक विद्यमान थे। लक्खा जी के नाम का एक पट्टा सवत् १६५८ का और दूसरा सवत् १६७२ का है। पहले पट्टे मे उनके बेटे नरहरदास का नाम भी है और दूसरे मे दोनो बेटो नरहरदास और गिरधर के नाम हैं।

पहला पट्टा राजा उदयसिंह के बेटे दलपतसिंह का है जिसमे लक्खा और नरहरदास को गाँव धानणिया (धानणवा), परगने चौरासी, देना लिखा है। इसकी मिति मगसिर सुदी २ हैं और जब दलपत जी आगरे मे थे, तब यह लिखा गया। परगना चौरासी जिसे अब परवतसर कहते है, बादशाह की तरफ से जागीर मे होगा। दलपत जी के वश मे रतलाम का राज्य है।

दूसरा पट्टा महाराज सूरसिंह और महाराजकुमार गजसिंह के नाम का है जिसमे लिखा है कि बारहट लक्खा, नरहर और गिरधर को तीन शासन गाँव दिए गए हैं—

१ रेंदड़ी, परगने सोजत, गाँव हाँयुडी के बदले
२ सीवलानड्डी, हरगने जैतारण (वर्तमान नाम सीगलावस)
३ उचियाहेडा, परगने मेडता (वर्तमान नाम उचियार्डो ?)

लक्खा की सतान मे लक्खावत बारहटो के कई ठिकाने मारवाड मे हैं जिनमे मुख्य गाँव टहला परगने मेडते मे है। लक्खा जी की कविता भी है। उनके बेटे नरहरदास ने एक बडा ग्रथ हिंदी भाषा मे अवतार चरित्र नाम का बनाया है जो छप भी गया है। मारवाड मे वही भागवत की जगह पढा-पढाया जाता है। दे०]

परवाने की नकल आवश्यक टिप्पणिया के साथ यहाँ पर दी जाती है। परवाने का आशय यह है कि दिल्ली मे बादशाह के सामने भाटो ने चारणो की निंदा की। इस पर लक्खा ने जैसलमेर के ग्राम जाजियाँ से कुलगुरु गगाराम जी को बुलाया। उन्होने चारणोत्पत्ति शिवरहस्य सुनाया जिससे भाट झूठे सिद्ध हुए। इस पर लक्खा ने उनका सत्कार किया और दिल्ली के 'घणे ऊँचे अबफलो की डाल नमावणहार'' इन बारहट जी ने बावन हजार बीघा जमीन उज्जैन के परगने मे

दिलवाकर बादशाह की ओर से ताम्रपत्र करवा दिया। विवाह तथा दान के अवसरों पर सब चारणों से गुरु के वंश को नियत धन देते रहने का अनुरोध भी इस परवाने में किया गया है। परवाने पर माघ शुक्ल ५, संवत् १६४२ की मिति है और पंचोली पन्नालाल के हस्ताक्षर हैं।

इससे जाना जाता है कि चारण भाटों का झगड़ा[1] अकबर के दरबार तक भी पहुँचा था और जाति-निर्णय पर व्यवस्थाएँ लेने की चाल रिजले साहब की मर्दुमशुमारी से ही नहीं चली है।

परवाना

लीपावता[2] बारटजी[3] श्रीलपोजी समसत[4] चारण वरण वीसजात्रा[5] सीरदारां सू[6]

१ [चारण भाटों का झगड़ा बहुत पुराने समय से चला आता है। दोनों एक दूसरे को बुरा कहते हैं। किसी ढोली ने कूलकुलमंडण ग्रंथ चारणों की उत्पत्ति का बड़े मर्ज का बनाया है। इसका नाम ब्रजलाल था और यह मारवाड़ का रहनेवाला था। कूल या कूला भी चारण जाति का नाम है। दे०]

२ (अमुक की) ओर से लिखा गया।

३ बारट—बारहट—द्वारहठ। चारणों का एक उच्च भेद। राजपूतों के विवाह पर ये द्वार पर हठ करके अपने नेग लेते हैं, इसी लिये 'पोलपात' भी कहलाते हैं। पोलपात=पौलपात्र=प्रतोलीपात्र। [सरदारों में इनका डेरा भी पोल में या पोल के ऊपर दिलाया जाता है। जोधपुर की फौज ने एक ठाकुर की हवेली घेर ली थी। पोल लगी थी। जब ठाकुर लड़ने को बाहर निकलने लगा, तब यह सवाल हुआ कि पोल कौन खोले क्योंकि जो खोले पहले वही मारा जावे। निदान पोलपात चारण ने कहा कि पोल मैं खोलूंगा क्योंकि इस पोल के नेग पाता हूँ। उसने पोल खोल दी। पहला गोला उसी पर पड़ा और वहीं मारा गया। दे०]

४ समस्त (सब)।

५ 'बीसोत्रा' चाहिए। [चारणों की एक सौ बीस जातें या गोत हैं इससे कुल चारणों की बिरादरी बीसोतर या वीसोत्रा कहलाती है। दे०]

६ राजपूताने में अब तक बिरादरी के समस्त लोग 'सरदार' कहकर संबोधित किए जाते हैं।

श्रीजेमाताजो श्री[1] वाच ज्यो अठे[2] तपत आगरा श्रीपातसाजी, श्री १०८ श्री अकबर साहजी रा हजुरात[3] दरीखाना माही[4] भाट चारणा रा कुल री नदीव[5] कीधी[6] जण[7] वपत समसत राजेसुर[8] हाजर था वा का[9] सेवागीर[10] वी[11] हाजर था

१ चारण शाक्त होते हैं। भगवती उनकी कुलदेवी है। आपस में वे उन्हें माताजी की कहकर नमस्कार करते हैं। भगवती ने एक अवतार चारण कुल में लिया था जिससे चारण उन्हें बुआजी या बाईजी भी कहते हैं। ये करणी जो किसी सांप्रदायिक की तूफान से रक्षा करके शील बचाने ही बीकानेर से एक स्टेशन इधर देशणोक (देशनोक) ग्राम में अपने मन्दिर में आईं इसी से वहां के बुआ या पानी प्रत्यक्ष धारा है। करणी जी के मन्दिर में चारणों और राजपूतों की बहुत मानता है। उस मन्दिर में चूहे अमर हैं। सारा जगमोहन निजमन्दिर और प्रतिमा तक चूहों से ढके रहते हैं। वे दर्शनियों के सिर गले और टांगों पर भी चढ़ जाते हैं। उन्हें बाजरा खिलाया जाता है। मारना तो दूर रहा उन्हें भिड़कना भी महा पाप है। कहते हैं कि जिससे चूहा मर जाय वह सोने का चूहा चढ़ावे तो देवी क्षमा करे। [ये चूहे काबा (लुटेरे) कहलाते हैं। करणीजी रा काबाओ की मेंगनियों से सारा मन्दिर गंदा रहता है दस पांच चारण लकड़ियां लिए बिल्ली से उनको बचाने के लिये पहरे पर बैठे रहते हैं। बिल्ली आ जाय तो बहुधा मारी जाती है। पर कभी कभी कुछ काबों को ले भी जाती है। दे०]

२ यहां।

३ हुजूर में।

४ दरबार में (राजपूताना में दरबारी मजलिस अभी तक दरीखाना कहलाता है)।

५ निग।

६ की।

७ जिम।

८ राज्येश्वर=राजा महाराजा।

९ उनके

१० सेवक—यह शायद चारणों के लिये ही आया है। [चारण अपने को सेवागीर नहीं कहते। इसका अर्थ नौकर चाकर भी हो सकता है। एक बार जोधपुर दरबार से कविराजा (महामहोपाध्याय) मुरारदान जी और मुंशी मुहम्मद मखदूमजी के नाम एक मिसल पर राय लिखने का हुक्म आया था। उसके जवाब में मुहम्मद मखदूम ने अर्जी लिखी उसमें ताबेदार का शब्द था उसी तौर से कविराजा जी के नवीसंदे पचोली चतुरभुजजी ने भी ताबेदार कविराज मुरारदान की अर्ज मालूम हो लिखा तो कविराजजी ने कहा कि ताबेदार मत लिखो देवागीर (दुभागो देखो नोट ३) लिखो। तब मैंने चतुरभुजजी से कहा कि कविराजजी तो देवता बनते हैं और तुम ताबेदार बनाते हो। इस पर कविराज जी ने हंसकर कहा हां ठीक। उन्हीं दिनों कविराजजी ने चारणों की उत्पत्ति की एक पुस्तक बनाई थी जिसमें चारणों को देवता सिद्ध किया था इसलिये मैंने मजाक में ऐसा कहा था। दे०]

११ भी

जका[1] सुण अर[2] मो सु[3] समचार कह्या जद[4] सब पचा री सला सु[5] कुलगुरु गगा-रामजी प्रगण[6] जेसलमेर गाँव जाजीया का जकाने[7] अरज लीप अठे[8] बुलाया गुर पधारया श्रीपातसाहजी नी रुवकारी मे चारण उत्पत्ती सास्त्र सिवरहस्य सुणायो पढता कबुल कीधो[9] जणपर[10] भाट झुटा पड्या गुरां चारण वसरी पुपत राषो[11] नीवाजस[12] सारा[13] बुतासु[14] सीवाय[15] बदगी कीधी ओर मारा बुता माफक हाती लाष पसाव[16] प्रथक[17] दीधो[18] गाव की अेवज[19] बावन हजार बीगा[20] जमी[21] कुजेण के प्रगने दीधी जणारो[22] ताबापत्र श्रीपातसाहजी का नाव को कराय दीधो अण[23] सवाय[24] आगा सु[25] चारण वरण समसत पचा कुलगुरु गगाराम जी का बाप

१ जिन्होंने
२ सुन और=सुनकर
३ मुझसे
४ जब
५ सलाह से
६ परगने
७ जिन्हें
८ यहाँ
९ स्वीकार किया
१० जिसपर
११ (बात) दृढ रखी
१२ बखशिश
१३ सबने
१४ बिरते से
१५ बढकर
१६ [ब्राह्मणों का दान 'दक्षिणा' कहलाता है और चारणों का दान लाखपसाव, कोड़पसाव और भरत्पसाव जिसमें एक गाँव अवश्य होता है। दे०] पसाव=प्रसाद। हाती=हाथी।
१७ पृथक (अलग)।
१८ दिया।
१९ बदले में।
२० बीघा।
२१ जमीन।
२२ जिसका।
२३ इसके (के)।
२४ अतिरिक्त।
२५ आगे से।

दादा ने व्याव[1] हुवे[2] जवण मे[3] कुल[4] दापा[5] रा रुपीया १७॥) ओर त्याग[6] परट हुवे[7] जीण मा मोतीसरा[8] को नावो बधे[9] जीण सु दुणो[10] नावो कुलगुरु गगारामजी का बेटा पोता[11] पाया जासी संमत १६४२ रा मती माहा सूद ५ दसक्त पचोली[12]

१ विवाह।
२ होवे।
३ जिसमे।
४ सपूर्ण।
५ दाम, नेग।
६. विवाह के अवसर पर राजपूत जो बधाई की रकम चारणो को देते हैं उसे 'त्याग' कहते हैं। चारण इसे बहुत लड-भगडकर मागते हैं। वाल्टरकृत 'राजपुत्रहितकारिणी सभा' ने इसकी परमावधि और बाँटने के नियम बाँध दिए हैं। भाडियावास के आसिया चारण बुधदान ने त्याग कम करने या बद करनेवालों पर चलकर यह कविता कही है—

जासी त्याग जकारा घर सू जात खाग न लागे जेज।
घररो तोल न बाधो धणिय त्याग तणी किह बाधो तोल ?
जासी त्याग जका का घर सू जासी धरती करे जुहार।
दीजै दोस किसू सिरदारां जमी जावणरा अक जरूर॥

अर्थात् जिनके घर से त्याग जावेगा उनके यहाँ से तलवार (खाग=खग्ग=खड्ग) जाते देर न लगेगी। स्वामियो ! त्याग का हिसाब तो बाँधते हो जमीन का हिसाब नही बाँधते ? जिनके घर से त्याग जायगा उन्हे जाती हुई पृथ्वी भी सलाम करती है। सरदारो ! दोष किसे दें ? ये लक्षण तो अवश्य भूमि छिन जाने के हैं।
७ दिया जावे [फरद या सूची बने। दे०]
८ जैसे राजपूतो के यश गानेवाले और त्याग माँगनेवाले चारण होते हैं वैसे चारणो की याचक जाति 'मोतीसर' नामक है।
९ नाम पर नियत हो।
१० दुगुना
११ ऊपर जो 'बाप दादा ने' आया है वह भी 'बेटा पोता ने' ही होना चाहिए। या यह अर्थ हो कि बाप दादो को जो मिलता आया है वह तो बेटे पोतो को मिलता ही रहे और मोतीसरो [illegible] दूनी रकम दाव के रुपया से अतिरिक्त मिला करे।
१२ पचोली=पचकुली (देखो 'राजा पचकुलमाकाय', प्रबधचिंतामणि बबई की छपी, पृष्ठ १४०)। पचकुल=राजकर वसूल करनेवाला राजसेवक समाज, उसका एक जन। अब साधारणत पचोली कायस्थ जाति के मुत्सद्दियो का उपनाम हो गया है और यहाँ भी यही अर्थ है किंतु वास्तव मे जिसे पचकुल का अधिकार होता वही पचकुल या पचकुली या पचोली कहलाता। यह उपाधि ब्राह्मण महाजन, गूजर आदि कई जातियो मे मिलती है और दीवान, भडारी, मेहता, नाणावाटी आदि की तरह—जो ब्राह्मण, वैश्य, खत्री, कायस्थ, पारसी, जैन श्रावक (सरावगी) आदि सबमें कही न कही प्रचलित है, पद की सूचक है, न कि जाति की। कुछ पचोली (कायस्थ) पचाल (=पजाब ?) देश से—आने [illegible] हमारी उपाधि पचोली है ऐसा कहते हैं जो असार है। (पचोली पचोल

पन्नालाल हुकम बारठ जो का सु तीधो तपत आगरा समसत पचांको सलाह सु आपांणो[1] यां[2] गुरां सु अघीकता[3] दुजो नहीं छे[4]=

[प्रथम प्रकाशन : नागरी प्रचारिणी पत्रिका : १६२० ई०]

बना है। मारवाड़ी बोली में पचोल पचायत (=पचकुल) को कहते हैं। गाँवों के झगड़ों को कानूनगो लोग, जो बहुत से कायस्थ ही होते और ओसवाल या सरावगी कम, पहले मिटा दिया करते थे। परन्तु कानूनगो का ओहदा जारी होने के पीछे कानूनगो कहलाने लगे। कायस्थ पचोली ही कहलाते रहे। पूरब में ब्राह्मण जो गाववालों का काम करते हैं पचोरी कहलाते हैं। मारवाड़ में पचोली का उपनाम भामरिया जाति के माथुर कायस्थ खीमसी से चला है। ये राव चूंडाजी के समय में दिल्ली की तरफ से रगट (परगने नागौर) के हाकिम होकर दिल्ली से आए थे। दे०)

१ अपना।
२ इन।
३. अधिकत:, बढ़कर।
४ है।

चारण

ब्राह्मणो के पीछे राजपूतो की कीर्ति बखाननेवाले भाट और चारण हुए, जैसा कि एक छद मे कहा है—

'ब्राह्मण के मुख को कविता कछु भाट लई कछु चारण लीन्हीं ।'

यह जानना आवश्यक है कि चारणो की प्रधानता कब से हुई । कोई शिलालेख या ताम्रपत्र सस्कृत मे, या पुराना, अब तक नही मिला है जिसमे चारणो या भाटो को भूमिदान का उल्लेख हो ।

'सुभाषितहारावलि' नामक एक सुभाषित श्लोको का सग्रह हरि कवि का किया हुआ है (पीटर्सन, दूसरी रिपोर्ट, पृष्ठ ५७-६४) । उसमे मुरारि कवि के नाम से यह श्लोक दिया हुआ है—

चर्चाभिश्चारणाना क्षितिरमण[1] परा प्राप्य सम्मोदलीला
मा कीर्ते सौविदल्लानवगणय कविप्रात (?) वाणीविलासान्[1] ।
गीत ख्यात न नाम्ना किमपि रघुपतेरद्य यावत्प्रसादा-
द्वाल्मीकेरेव धात्रीं धवलयति यशोमुद्रया रामभद्र[2] ।

आशय—कोई राजा चारणो की कविता से प्रसन्न होकर सस्कृत कवियो

१ यह पाठ अशुद्ध है । कविप्रोनवाणीविलासन्' या 'कवीन् प्राप्तवाणीविलासान्' हो सकता है ।

२ विल्हण के विक्रमाङ्कदेवचरित म इसी भावसे मिलते हुए दो श्लोक हैं—

(अ) लकापते सकुचित यशो यद यत्कीर्तिपात्र रघुराजपुत्र ।
स सव एवादिकवे प्रभावो न कोपनीया कवय क्षितीद्रै ।। (१।२७)

(इ) हे राजानस्त्यजत सुकविप्रेमबधे विरोध
शुद्धा कीर्तिर्भवति भवतां नूनमेतत्प्रसादात् ।
तुष्टैर्बद्ध तदलघु रघुस्वामिन सच्चरित्र
क्रुद्धैर्नीतस्त्रिभुवनजयी हास्यमार्ग दशास्य ।। (१८।१०७)

का अनादर करने लगा। उस कवि कहता है कि महीपाल [1] चारणों की चर्चाओं से बड़ा आनंद पाकर कवियों की रचनाओं का अनादर मत कीजिए, क्योंकि वे कीर्तिरूपी नायिका के रखवाले', या लाकर (राजाओं से) उसे मिलानेवाले हैं। देखिए, रामचंद्र का एक गीत या ख्यात नाम को भी नहीं है। वाल्मीकि ही की कृपा से आज तक रामभद्र अपने यश की छाप से पृथ्वी को अलंकृत कर रहे हैं। *भाव यह है कि चारणों के (देशभाषा के) गीत और ख्यात अस्थायी हैं, कवियों के (संस्कृत) वाणीविलास सदा रहते हैं।* राम का एक भी गीत या ख्यात नहीं मिलता। संसार में उनका जो यश है, वह वाल्मीकि की कृपा ही का फल है।

इस श्लोक में चारण, गीत और ख्यात विशेष सांकेतिक या पारिभाषिक अर्थ में लिए गए हैं। चारण का अर्थ देवयोनि का (सिद्ध, गंधर्व आदि का-सा) यश-गायक नहीं हो सकता, क्योंकि उनका कवियों से मुकाबिला कैसा? गीत और ख्यात साधारण गान या यश के काव्य नहीं हो सकते, पारिभाषिक (technical) *गीतों और ख्यातों से ही अभिप्राय है। चारणों के रचित काव्य दो* ही तरह के होते हैं, कवितावद्ध 'गीत' और गद्यबद्ध 'ख्यात'। राजपूताना में अब तक इसी अर्थ में 'गीत' और 'ख्यात' पदों का व्यवहार है, जैसे, मोटा राजा उदयसिंह रा गीत, राठोड़ा री ख्यात। [गीत और ख्यात पदों को गीति और ख्याति (आख्याति) संज्ञा शब्दों का अपभ्रंश मानने की कोई जरूरत नहीं। ये कर्मवाच्य भूतकालिक धातुज विशेषण हैं जिनके आगे विशेष्य लुप्त हैं, जैसे चारणैं गीत (यश), चारणैं ख्यात (वृत्तम)। मारवाड़ी में इसी अर्थ में कह्योड़ो (कहा हुआ) *भी आता है, जैसे बापजी गुणेशपुरीजी रो कह्योड़ो (पद, गीत या दूहो)।*]

मुरारि कवि प्रसिद्ध अनर्घराघव नाटक का कर्ता है। उसका पिता भट्ट श्रीवर्धमान, माता तंतुमती, गोत्र मौद्गल्य और उपनाम बाल-वाल्मीकि था। उसका समय आठवीं या नवीं शताब्दी ईसवी है। यदि यह श्लोक मुरारि का ही है तो उस समय भी चारणों के गीत और ख्यात प्रचलित थे, और उनकी संस्कृत के कवियों से प्रतिद्वंद्विता होने लग गई थी। इस श्लोक के मुरारिकृत मानने में संदेह करने के दो ही कारण हो सकते हैं। एक तो इतने प्राचीन काल में *चारणों के गीतों और ख्यातों का प्रचलित होना, और दूसरे यह कि* सुभाषितावलियों में श्लोकों के साथ जो कवियों के नाम दिए होते हैं, वे कहीं कहीं *प्रामाणिक नहीं होते।* कई श्लोक जो प्रसिद्ध कवियों के काव्यों में पाए जाते हैं, वे भी 'कस्यापि' के साथ या किसी भिन्न कवि के नाम से दिए होते हैं।

[प्रथम प्रकाशन नागरी प्रचारिणी पत्रिका : १९२० ई०]

१ मंख कवि ने एक नाग नामक विद्वान् को साहित्यविद्या का 'सौविदल्ल' कहा है (श्रीकंठचरित २५।६४)

बौद्धों के काल में भारतवर्ष

प्रोफ़ेसर रिस डेविड्स ने, राष्ट्र-कथा-माला में, इस नाम का एक ग्रंथ गुम्फित किया है। उसमें कई विलक्षण बातें हैं। प्रोफ़ेसर साहब के अनुसार ब्राह्मणों के लेख विश्वासपात्र नहीं हैं। सब युद्धों में, कामों में उन्होंने अपने ही को प्रधान बताया है। किंतु उनकी बातें देश भर की बातें नहीं हैं। बौद्ध-धर्म सर्वसाधारण के उद्योग का फल है और राष्ट्रीय उन्नति में ब्राह्मण पृथक् रह गए थे। जैनों और बौद्धों के ग्रंथ राजपूतों के लिखे हुए हैं। इस ग्रन्थ में उनकेही लेख अर्थात् पाली ग्रन्थों से बुद्ध भगवान् के निर्वाण से लेकर कनिष्क पर्यंत काल का ऐतिहासिक चित्र देने का यत्न किया गया है। इससे प्राचीन इतिहास में कई अन्तर लक्षित होते हैं। ब्राह्मणों के अनुसार तो 'ब्राह्मणों के अधीन स्वतंत्र राजा' यही भारतवर्षीय राजप्रणाली थी किंतु पाली ग्रंथों के अनुसार राजतंत्र के साथ-साथ ही प्रजातंत्र भी पाए जाते हैं। (अवश्य ही बौद्धधर्म सर्वसाधारण की समानता और प्रजातंत्र के जन्म का कारण हुआ होगा।) ये चक्रवर्ती अशोक के शिलालेख और चरित्र बौद्ध ग्रंथों में पाए जाते हैं किंतु ब्राह्मण ग्रंथों में उसका नाम भी नहीं है। (कोई बतावे तो अशोक के पीछे के ब्राह्मण ग्रंथ कौन से हैं?) उसने ब्राह्मणों का भूसुर होना मिटाया था। धर्म-विषय में प्रोफ़ेसर साहब कहते हैं कि ब्राह्मण ग्रंथों में प्रजा का धर्म नहीं है, किंतु ब्राह्मण प्रजा पर जो धर्म चिपकाना चाहते थे वही धर्म लिखा है, ब्राह्मणेतरों के साहित्य में वैदिक देवताओं की और अधिक खर्च करानेवाले यज्ञों की चर्चा नहीं है। (युरोपीय आचार्य मान बैठे हैं कि ब्राह्मण-शत्रुओं का कहा सत्य है और ब्राह्मणों का मिथ्या। इसी तरह जब यह कहा जाता है कि ब्राह्मणों ने ईर्ष्या या घृणा से बौद्धों का या प्रजा का विश्वास नहीं वर्णन किया, वैसे ही यों क्यों नहीं कह सकते कि बौद्ध-ग्रंथ-लेखकों ने ईर्ष्या से वास्तव-धर्म का अपलाप किया?) यज्ञों के अधिक व्ययशाली होने से तप अर्थात् आत्म-यज्ञ की सृष्टि हुई। (नहीं, बौद्धों से सैंकडों वर्ष पहले उपनिषदों में यह हो चुकी

थी।) ब्राह्मणो का आदर था, किंतु उतना न था जितना वे बताते है। उस समय श्रमण और परिव्राजक भी हो गए थे जिनका आदर ब्राह्मणो से कम न था और इस लडाई से निराश होकर ब्राह्मणो ने आश्रम-कल्पना की, जिससे बिना गृहस्थ रहे और वृद्ध हुए कोई मनुष्य परिव्राजक न बन सके। उन्होंने और जातियो को भी सन्यास से रोका किंतु उनकी चली नही। ब्राह्मणो के ग्रथो मे लिखा मिलता है कि आश्रमधर्म का पालन होता था किंतु वे सत्य बात नही कहते, जैसा उनकी बुद्धि मे होना चाहिए वैसा कहते है। (आश्रमधर्म बौद्धो से बहुत पूर्व बन चुका था, आश्रम की बँदो से बचने के लिये ही तो बौद्ध परिव्राजको ने सुगम उपाय निकालकर ब्राह्मण भिक्षुओ का अनुकरण किया था।) कनिष्क के उत्तर-कोशल, मगध, वत्स, अवती ये तो मुख्य राज्य थ बाकी उत्तर भारत म कुल १६ छोटे-छोटे राज्य थे, जिनमे परस्पर सबध और विग्रह होते रहत थे और कही-कही प्रजातत्र भी था। आर्यों का आगमन पजाब से गगा के किनारे-किनारे हुआ किंतु सिंधु के किनारे उज्जैन तक और तराई मे होकर तिरहुत तक भी आर्यों की गति हुई थी। दाक्षिणात्य मे बहुत कम आर्य थे। पहाडी आर्य धर्म और शासन मे स्वतत्र प्रकृति के थे और अनार्यों मे भी शाति और सामाजिक बधन विद्यमान थे। ग्राम-गोष्ठ या ग्राम-सघ ही हिंदुओ की प्रधान चाल थी। गाँव की चरागाह सर्व साधारण की सम्पत्ति थी और सिचाई भी मिलकर होती थी। गाँव से बाहर जमीन बेची या रेहन नही की जाती थी। स्त्रियो की भूषण आदि ही सम्पत्ति थी और माता से दायभाग भी मिलता था। सहभोजन और सहविवाह के नियम दृढ थे (अर्थात् जातिबधन था)। राजा, ब्राह्मण वैश्य, शूद्र, चाडाल, पुक्कस यो जातिभेद था। कई क्षत्रिय अनार्य भी थे। जातियो मे भेद, (आपत्काल होने स) कर्म का परिवर्तन भी होता था और उच्च जातियो मे अनुलोम प्रतिलोम विवाह होने पर भी सतान ब्राह्मण वा क्षत्रिय ही रहती थी। (हैं !) बुद्ध के सवादो मे जन्माभिमान की निंदा की गई है। (इससे तो जाति दृढ हुई।) ब्राह्मणो ने अभी क्षत्रियो से ऊपर होने और भू देव कहाने की हिमाकत नही दिखाई थी। (यह 'हिमाकत' बहुत पहले से थी और बौद्ध-धर्म इसी को तोडना चाहता था।) जाति के लिये कोई शब्द ही नही है। रोमन और ग्रीक लोगो मे यदि जाति-भेद होता तो भारतवर्ष म भी उस समय होता। (वदतोव्याघात—बौद्ध-धर्म क्या तोडना चाहता था? क्या जाति-धर्म बौद्धो के पीछे जम सका?) नगरो मे प्राकार होते थे। घरो मे दालान, कोष, अन्नागार, मोरी प्रभृति का पता है। शवदाह के अतिरिक्त उनका वनो मे पक्षियो के भोजनार्थ त्याग भी होता था। नाव, गाडी से व्यापार, किराये की पुलिस, और ताँबे के प्राइवेट सिक्को से व्यापार भी पाया जाता है। चाँदी के राजनियमित सिक्के न थे (वाह !)। व्यापारी, व्यापार, विज्ञापन और मोहरमात्र मे लेख का प्रयोग,

विद्या का कंठ से ही पढ़ा-पढ़ाया जाना, साधु परिव्राजकों के आदर का वर्णन करके 'ईसा की षष्ठ शताब्दी में भारतवर्ष' का यह चित्र समाप्त होता है।

उन्नतिमत्त पाश्चात्य अपनी दशा को और देशों के इतिहास में पढ़ने का उद्योग करते हैं। यूरोपीय क्लर्जी ने राजाओं पर पीछे प्रभाव डाला और उनके और राजाओं के बीच इस बात पर लड़ाइयाँ हुईं, यही बात भारतवर्ष में ढूँढ़ना चाहते हैं। अपनी छठी शताब्दी की सभ्यता से बढ़कर सभ्यता यहाँ नहीं दिखाना चाहते। और ब्राह्मण तो गालियाँ देने को हैं ही।

[प्रथम प्रकाशन समालोचक अक्तूबर-नवम्बर, १६०३ ई०]

खसों के हाथ में ध्रुवस्वामिनी

एक ही श्लोकमय काव्य को, जिसका बीज किसी पुरानी कथा या घटना से लिया गया हो, कथात्थ मुक्तक कहते है। इसके उदाहरण मे राजशेखर की काव्य-मीमांसा[1] मे यह श्लोक दिया है—

> दत्वा रुद्धगतिः खसाधिपतये देवीं ध्रुवस्वामिनीं
> यस्मात् खण्डितसाहसो निवर्तते श्रीशर्मगुप्तो नृपः।
> तस्मिन्नेव हिमालये गुरुगुहाकोणक्वणत्किन्नरे
> गीयन्ते तव कार्तिकेयनगरस्त्रीणां गणैः कीर्तयः॥

कोई कवि किसी राजा की प्रशंसा मे चाटु कह रहा है। जिस हिमालय मे चाल रुक जाने पर अपनी देवी ध्रुवस्वामिनी को खसो के राजा को सौंपकर खडितसाहस होकर श्रीशर्म (?) गुप्त लौट आया, वही पर आपकी कीर्ति गाई जा रही है। यह तो उस अज्ञात राजा की बडाई हुई कि जहाँ पर श्रीशर्मगुप्त के-से पराक्रमी राजा को खसो से हार, चौकडी भूल, अपनी रानी उनके हाथ मे सौंप, चला आना पडा था वही आपकी कीर्ति गाई जा रही है। यह श्लोक वैसा ही है कि जैसा भास के नाटक में रावण को सूचना दी जाती है कि जिस अशोकवाटिका मे सँवारने-सिंगारने के चाववाली मदोदरी महारानी भी पत्ते नही तोडती वही वानर (हनुमान्) ने तोड-मरोड डाली है। एक मे हिमालय की अतिशय दुर्जयता और दूसरे मे अशोकवाटिका की रावण को अतिशय प्रियता दिखाकर पहले मे राजा के प्रताप की और दूसरे मे वानर के अपराध की अधिकता बताई है।

किंतु यह श्लोक जिस कथा से उत्थ (निकला) है वह ध्यान देने योग्य है। काव्यमीमांसा एक ही पुस्तक से छापी गई है। श्रीशर्मगुप्त कोई अशुद्ध पाठांतर

[1] गायकवाड ओरिएटल सीरीज, न० १। (पृ० ४७—सपादक।)

हो तो पता नहीं। गुप्त महाराजाओं के वंश में एक प्रसिद्ध ध्रुवदेवी वा ध्रुवस्वामिनी हुई है जो चंद्रगुप्त (द्वितीय) विक्रमादित्य की स्त्री तथा कुमारगुप्त (प्रथम) की माता थी। और किसी ध्रुवस्वामिनी का उस वंश में पता नहीं चलता। न कहीं पुराने या पिछले गुप्तों में शर्मगुप्त नाम मिलता है। यदि शर्मगुप्त चंद्रगुप्त के लिये लेखक-प्रमाद हो तो बंध बैठ जाता है, नहीं तो कोई शर्मगुप्त और उसकी रानी ध्रुवस्वामिनी ये दो कल्पनाएँ करनी पड़ेंगी। क्या सच्ची है, नहीं तो कथोत्थ मुक्तक का उदाहरण यह कैसे दिया जाता? ध्रुवस्वामिनी का नाम प्रसिद्ध है, उसके पुत्र की मुद्रा भी मिली है। चंद्रगुप्त (द्वितीय) विक्रमादित्य बड़ा प्रतापी और विजेता हुआ। वह उत्तर की ओर खसों से हारा ही नहीं किंतु खसों के राजा के हाथ अपनी महारानी को वदी छोड़कर लौट आया यह बात यदि सच्ची भी हो तो भी गुप्तों के लेखों में नहीं मिलने की। ऐसे ही किसी श्लोक में उसकी परंपरागत चर्चा मिले तो मिले। चीन के खस बड़े पराक्रमी थे। कई बार नेपाल के मार्ग से आकर उन्होंने हमले किए तथा पिछले गुप्त राजाओं का बल क्षय किया। संभव है कि चंद्रगुप्त की उनसे टक्कर हुई हो और चंद्रगुप्त ने फिर कुबेर की दिशा में बढ़ने से हाथ खींच लिया हो, जैसे कि थानेश्वर के हर्षवर्धन ने और सब देशों को जीत नर्मदा तट पर पुलुकेशी (द्वितीय) से हार खाई और दक्षिण में राज्य फैलाने का विचार छोड़ दिया। बड़े विजेताओं की हार की सूचना उनके वंश के लेखों में कभी नहीं मिल सकती। राजशेखर के समय (नवीं शताब्दी ईसवी) में यह कथा प्रसिद्ध थी कि कोई गुप्त राजा (शर्मगुप्त या चंद्रगुप्त?) अपनी देवी ध्रुवस्वामिनी को खसों के राजा को देकर हारकर उत्तर से लौटा।[1]

[प्रथम प्रकाशन : नागरी प्रचारिणी पत्रिका : १६२० ई०]

१ काव्यमीमांसा के उपर्युक्त श्लोक में, हमारी समझ में, 'शर्मगुप्तो नहीं,' 'रामगुप्तो' पाठ होना चाहिए। क्योंकि इतिहास में अब यह बात सिद्ध है कि समुद्रगुप्त का उत्तराधिकार उसके मंत्रियों ने उसके बड़े बेटे रामगुप्त को दिया। उसे अयोग्य जानकर कुषाण वंशी राजा ने गुप्त-साम्राज्य पर चढ़ाई की। हिमालय की बाहरी शृंखला के एक गढ़ में रामगुप्त 'रुद्धगति' हुआ और अपनी रानी ध्रुवदेवी या ध्रुवस्वामिनी को शत्रु को भेंट कर वह मुक्त हुआ। उसके छोटे भाई चन्द्रगुप्त ने शत्रु को उसके गढ़ में ही परास्त कर इस अपमान का शोधन किया। इसके बाद रामगुप्त का वध हुआ और चन्द्रगुप्त सम्राट् हुआ। ध्रुवस्वामिनी ने अपने उद्धारकर्ता का वरण किया। इस पुनर्लग्न से देवी ध्रुवस्वामिनी चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की पत्नी हुई। (दे०—श्री जयचन्द्र विद्यालंकार-कृत इतिहास-प्रवेश पृ० १२०-२१, श्री जयशंकर 'प्रसाद' कृत ध्रुवस्वामिनी की 'सूचना'।)—संपादक।

भाषा

योरोपियन संस्कृत

विद्वान अँगरेज भारतवासियो की अँगरेजी को, बाबू इगलिश की प्रेममय उपाधि से स्मरण करते हैं। उनकी बोलचाल मे बाबू हरिबन्शो जबरजी, बी० ए० परिहास के पात्र हैं और भारतवासियो का चरित्र जब कभी अकित किया जाता है तब, मिस्टर डिक के सिर में प्रथम चार्ल्स के सिर के समान, बाबू इगलिश भी आ ही जाती है। परन्तु भारतवासियो मे अँगरेजी के बडे-बडे विद्वान् हो गये और हैं। बाबू सुरेन्द्रनाथ बनरजी के भाषणो से इगलैंडवालो को पिट का स्मरण हो आता था, और मान्यवर वायसराय ने अभी अपने प्रसिद्ध कन्वोकेशन के भाषण म भारतवासियो की "विदेशी भाषा मे बोल सकने की आसानी की ईर्ष्या" प्रकाश की थी। विदेशियो की भाषा अँगरेजी को हमने इतना अपना लिया है कि हमारी देशभाषा भी उसी के साँचे मे ढली जाती है, हमारे उच्च विचार उसी मे प्रकाशित हो सकते हैं, हमारे प्रधान सवादपत्र और राष्ट्रीय सभा के अधिवेशन बिना उसके चल नही सकते। हमने अपने कठ तालु आदि को यहाँ तक बिगाडा है कि यूरोपियनो की तरह बोल सकना एक गौरव की बात हो गई है और देश भाषाएँ भी वैसे ही मरोडकर बोली जाती हैं। विदेशी भाषा के हम लोग इतने स्वार्थहीन भक्त हो गये हैं कि हमारी भाषाएँ अब उसकी दासियाँ बन कर ही स्कूल और कालेजो मे रहने पाती है।

जब भारतवासियो को अपनी भाषाओं की ओर उपेक्षा का आक्षेप सुनाया जाता है तब अँगरेज और जर्मन विद्वानो के सस्कृत प्रेम और पाण्डित्य का उदाहरण दिया जाता है। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र जी ने क्या अच्छा तीर मारा था—

आल्हाऊदल को भयो, अँगरेजी अनुवाद।
यहि लखि लाज न आवही, तुमहिं ? न होइ विषाद ॥

भारतवासी विद्वान् पुस्तक-जड कहे जाते हैं और सस्कृत भाषा की लीला-

स्थली भारतवर्ष को छोडकर जर्मनी हो गई है। ऐसा बारम्बार सुनाई देता है। जर्मनी मे सस्कृत कैसे पढी जाती है उस पर ध्यान दिया जाता है और जर्मनी के पठन प्रकारो की सस्कृत की जन्मभूमि मे कलम लगाने का प्रस्ताव परम गम्भीरता से किया जाता है।

मेरा यह उद्देश्य कभी नही है कि पाश्चात्य विद्वानो ने पुरातत्व, भाषाविज्ञान आदि की गवेषणा म सस्कृत को जो गौरव दिया है और उनके प्रयोग से अपने ऊपर जो गौरव डाला है, उसको तुच्छ ठहराऊँ या उसका उपहास करूँ। उनने अक्षुण्ण मार्गो को खोलकर वह काम किया है जो भारतवासियो को करना चाहिए था। यदि उनन कभी कोई भ्रम भी किया हो तो उस भाषा के अध्ययन की कठिनाइयो के सामन वह भ्रम क्षन्तव्य है। अतएव उनकी ओर पूरा सन्मान दिखाकर उनके सस्कृताभ्यास क तुच्छ नमून यहाँ देकर भारतवासियो के अँगरेजी पढने के परिश्रम से तुलना करना कभी भी तुच्छता या कलुषता न समझी जाय —यह मेरी प्रार्थना है।

साधारण रीति से कहा जा सकता है कि डाक्टर कीलहार्न का सा वैयाकरण योरोप म नही है, परन्तु उनन सस्कृत मे बहुत ही कम लिखने का साहस किया है। यह स्पष्ट रीति से कहा जा सकता है कि किसी योरोपीय पडित ने सस्कृत मे ग्रथ या निबध लिखन का सहसा प्रयत्न नही किया। हाँ, डॉक्टर बूलर अपने मित्रो को सस्कृत मे पत्र लिखा करते थ। उनका एक ऐसा पत्र महामहोपाध्याय स्वर्गीय पडित दुर्गाप्रसाद जी के सम्पादित 'कामरत्न' के द्वितीय सस्करण म छपा है। डाक्टर पीटरसन को उनके मित्र 'पीतरसन' (सरस्वती को पी जाने वाला) कहते थे। उनन और महामहोपाध्याय दुर्गाप्रसादजी ने मिलकर जो सुभाषिता-वलि का सस्करण छपवाया है उसमे दो श्लोको म डाक्टर साहब ने अपने गुरु बोखास को वह ग्रन्थ समर्पण किया है। रावलपिण्डी के वर्तमान 'इन्सपैक्टर आफ स्कूल्स' और लाहौर आरियन्टल कालज के भूतपूर्व प्रिंसिपल डाक्टर स्टेन अपने नाम को सस्कृत बनाने के लिए स्तेन' लिखते थे। इस पर पडितो को हँसते देख-कर (सस्कृत स्तेन चोर) उनने स्तेन लिखना आरम्भ किया।

डाक्टर मैक्समूलर ने सस्कृत पढने मे बडा परिश्रम किया था। उनने मोम का कागज अक्षरो के ऊपर रखकर कलम फेरते-फेरते सम्पूर्ण सायण भाष्य की नकल की थी। उनने जर्मनी को "शार्मण्य" और आक्सफोर्ड को 'उक्षातरण' बनाया। उनके भक्त भारतवासियो ने उन्ह भट्ट की उपाधि दी और उनका नाम शुद्ध होकर मोक्षमूलर बन गया। उनके सम्पादित ऋग्वेद के अन्त मे एक श्लोक है, उसके चौथे चरण की बहार देखिये—

शार्मण्यदेशजातेन उक्षयत्रनिवासिना।
मोक्षमूलर भट्टेन पुस्तकमिद शोधितम्॥

जर्मनी में प्रोफेसर वेबर भी सस्कृत के बडे पडित और गवेषक कहे गये हैं। उन्हे डाक्टर भाण्डारकर ने 'याज्ञवल्क्य' की उपाधि दी है। वर्तमान युग के याज्ञवल्क्य ने यजुर्वेद सहिता का सस्करण छपवाया है। उसमे कुछ सस्कृत भी है। पढिए—

ओम् ! शुभ भवतु। कल्याणमस्तु।
सवत्सरे ख्रिष्टीये १८५१ विक्रमार्कगते १९०७ शाके १७७३

समाप्तिमगात्

श्रोत्वेन मुद्रिता सेय वेबरेण च शोधिता।
वाजसनेयसहिता वेददीपेनसयुक्ता।

(जरा इसके छद पर ध्यान दीजिए)

ओम् श्री वेदपुरुषाय नम।

ग्रन्थ के आदि मे लिखा है—

"श्री शुक्ल यजुर्वेदे वाजसनेयिसहिता—
माध्यन्दिनीयाना च काण्वीयानां च शाखेऽनुसृत्य
श्रीमन्महीधर कृत वेददीपाख्यभाष्यसहिता
अल्बेर्तन वेबरेण शोधिता
प्रुष्यनाम्नि जनपदे बेर्लीनाख्या राजधान्या मुद्रिता सवत्सरे १८५२"

डाक्टर रामकृष्ण गोपाल भाडारकर—गौटिंगन (गोत्रागण) की प्राच्य पडितों की काग्रेस म गए थे। वह काग्रेस उनको विदेह राजा जनक के अश्वमेध की-सी मालूम दी। उसमे उन्हे याज्ञवल्क्य, अश्वल, गार्गी सभी दिखाई दिए। परतु भारतवर्ष मे आकर उन्होंने जो निबध एशियाटिक सोसाइटी की बबई शाखा मे पढा उसमे उन्होन कहा था कि वहाँ किसी पडित ने मुझे दो श्लोक लिखकर बताए थे वे दोनो ही अशुद्ध थे।

कील यूनिवर्सिटी के वेदांताध्यापक डाक्टर डेउसन (देवसेन) वेदात और सस्कृत के अच्छे विद्वान् हैं। उनने बादरायण सूत्रो का जर्मन भाषा मे अनुवाद किया है। वे भारतवर्ष मे भी आए थे। उनने राथ और बोथलिंग नामक पडितों की प्रशंसा के दो श्लोक अपनी 'एलीमेंट्स आफ मैटाफिजिक्स' मे लिखे हैं। राथ और बोथलिंग ने जर्मन भाषा मे एक सस्कृत का बडा भारी प्रकाड कोश बनाया है उसका नाम 'वार्टबुख' है। मुक्त कंठ होकर कहना ही होगा कि सस्कृत का इतना बडा कोश और इतना अच्छा कोश जगत् मे और नही है। देवसेन के श्लोक ये हैं—

येन संस्कृतभाषाया ज्ञानं सूपायनं कृतम्
अद्वितीयनद्ययारतथ्यं वन्दे ग्रयमुत्तमम् ।
सकलं जीवितं याम्यां ब्रह्मविद्याप्रकाशके
मायर्यभे समवृत ताभ्यामस्तु नमो नम. ॥

ये श्लोक सन् १८७७ ई० मे बनाए गए थे।

गत वर्ष काशी सस्कृत कालेज मे दो योरोपीय विद्यार्थी थे। एक रूसी था और एक अमेरिकन। दोनो काव्यप्रकाश पढ़ते थे। अब भी वे वही हैं। जब केवल एडिनबरा मे ही प्राय अस्सी भारतवासी विद्यार्थी हैं, तब भारतवासियो को-कूपमडूक कहना और उनकी भाषा को 'बाबू इगलिश' कहना ठीक नही मालूम देता।

[प्रथम प्रकाशन . 'श्री राघवेंद्र' स० ६-१०, वैशाख-ज्येष्ठ १९६२, १६०५ ई०]

यूनानी प्राकृत

बेसनगर (विदिशा) के गरुडध्वज का सिंदूर उतर जाने से उसपर एक बडे महत्त्व का लेख सर जान मार्शल के हाथ लगा। उसपर बहुत कुछ वाद-विवाद होकर उसका शुद्ध पाठ और वर्णन डाक्टर फोजल ने सन् १९०८-९ के 'एनुएल आफ दी डाइरेक्टर जनरल आफ आर्कियालाजी इन इण्डिया' में छपवाया है। लेख का अर्थ यह है कि तक्षशिला के निवासी, दिय के पुत्र, भागवत हिलियोदोर, योनदूत ने, जो राज्य के चौदहवें वर्ष में विराजमान राजा काशीपुत्र भागभद्र त्रातार के यहाँ महाराज अंतलिकित के पास से आया हुआ था, देवदेव वासुदेव का यह गरुडध्वज बनवाया।

इस लेख का वर्णन हिंदी में रायबहादुर पंडित गौरीशंकर जी ओझा लिख चुके हैं[1] इसलिये हिंदी के पाठक इससे अपरिचित नहीं हैं[2]। इस लेख से इतनी काम की बातें जानी गई हैं—

(१) हिंदुस्तान पर राज्य करनेवाले ग्रीक राजाओं के सिक्के बहुत मिले हैं, शिलालेख यही मिला है। तक्षशिला के ग्रीक महाराजा एंटिआल्किडस[3] का दूत, दियन का पुत्र, हीलियोडोरस अपने स्वामी की ओर से (विदिशा के) राजा काशी-पुत्र भागभद्र के यहाँ रहता था। भागभद्र ने ग्रीक राजाओं की उपाधि सोटर (त्रातार) स्वीकार कर ली थी।[4]

१. मर्यादा, वर्ष १।

२ नवलकिशोर प्रेस के सप्तद्वीपशिरोमणि में ओझाजी का यह लेख उद्धृत है।

३ इसके सिक्के अफगानिस्तान के बेग्राम से दिल्ली के उत्तर में सोनपत (सुवर्णप्रस्थ) तक मिले हैं।

४ संभव है कि यह राजा शुंगवंश का नवाँ राजा भागवत हो, जिसका समय ईसवी सन् पूर्व १०८ के लगभग है।

(२) यह हीलियोडोरस भागवत (अनन्य वैष्णव) था और उसने वासुदेव के मंदिर मे गरुडध्वज बनवा कर भेंट किया।

(३) ईसवी सन् के पूर्व दूसरी शताब्दी मे भागवत धर्म (भक्ति-मार्ग) था और विदेशी भी हिंदू-धर्म मे लिए जाते थे।

अब डाक्टर सुखटणकर ने इस लेख पर एक निबंध लिखा है[1] उसमे मुख्य मुख्य बाते ये हैं—

(१) फोजल तक विद्वानो ने 'कारिते' पढा था जो 'गरुडध्वजो' से मेल नही खाता। या तो 'कारिते गरुडध्वजे' होना चाहिए जो उस प्रात की प्राकृत नही है, या 'कारितो गरुडध्वजो'। डाक्टर सुखटणकर कहते हैं कि लेख मे पाठ कारितो ही है, 'ध्वजे' की जगह 'ध्वजो' बना लेना चाहिए।

(२) दूसरी पंक्ति मे 'कारितो' के आगे विद्वानो ने छूटे हुए स्थान मे 'इ' पढकर उसके आगे 'अ' की कल्पना करके 'इअ=संस्कृत इह=यहाँ' समझा है। खरोष्ठी के लेखो मे इय, इ, या हिय इह (यहाँ) के अर्थ मे आता है। किंतु यहाँ 'इ' के होने मे संदेह है और किसी शब्द की कल्पना की आवश्यकता नहीं।

यहाँ पर हम डाक्टर सुखटणकर का इस लेख के प्रधान अंश का पाठ दे देते है—

(पंक्ति) १ देवदेवस वा [सुदे] वस गरुडध्वजे अय
२ कारितो हेलिओदोरेण भाग
३ वतेन दियस पुत्रेण ताक्षसिलाकेन
४ योनदूतेन आगतेन महाराजस
५ अ [[तलि [f] क्तस उपता सकास रजो
६ कासी पुतस भागभद्रस त्रातारस
७ वसेन चतुदसेन राजेन वधमानस

(३) इस लेख की प्राकृत भाषा के पदो के अन्वय की ओर ध्यान दीजिए। संस्कृत और प्राकृत मे विशेषण कभी विशेष्य के पीछे नही आते। संस्कृत और प्राकृत की शैली से ठीक अन्वय यो होना चाहिए 'वसेन चतुदसेन राजेन वधमानस रजो त्रातारस कासीपुतस भागभद्रस सकास महाराजस अतलिकितस उपता आगतेन योनदूतेन ताखसिलाकेन दियस पुतेन भागवतेन हेलिओदोरेण'। डाक्टर सुखटणकर ने सप्रमाण बताया है कि 'योनदूतेन आगतेन महाराजस अतलिकितस उपंता' और 'भागभद्रस राजेन वधमानस' ये ज्यो के त्यो ग्रीक भाषा के मुहाविरे हैं। यो ही 'गरुडध्वजे अय कारितो हेलियोदोरेन' मे क्रियापद का कर्त्ता और कर्म के बीच मे आना ग्रीक भाषा की चाल पर है। इस पर उन्होंने फबती हुई कल्पना की है कि जो यूनानी भक्तिमार्ग के विष्णुभागवत संप्रदाय का अनुयायी हो गया

१ एनल्स् ऑफ दी भाडारकर इंस्टिट्यूट, भाग १, जिल्द १, पृष्ठ ५९-६६।

हो और जिसने विष्णुमंदिर मे गरुडध्वज बनाया हो, उसने प्राकृत और सस्कृत पढकर इतनी योग्यता भी प्राप्त की हो कि अपने शिलालेख का मसौदा स्वय बनाया हो और कलम की आदत से लाचार होकर ग्रीक चाल ढाल ज्यो की त्यो उतार दी हो। 'राजेन वधमानस' भी 'दिष्ट्या वर्धसे' की तरह आशीर्वादमय वाक्य है, और 'वसेन चतुदसेन' मे सप्तमी की जगह तृतीया[1] का प्रयोग भी कुछ चिंत्य है।

हम इस बात से सहमत हैं कि इस लेख की प्राकृत भाषा हेलिओडोरस की ही रचना है। 'पडिताऊ हिंदी' और 'बाबू इगलिश' की तरह यह यूनानी प्राकृत है। जिसे जिस भाषा के मुहाविरे का अभ्यास होता है वह दूसरी भाषा लिखते समय जाने अनजाने उसी का अनुसरण करता है। बगला मे 'रौद्र' धूप को कहते हैं, एक बगाली कवि का उद्भट सस्कृत श्लोक है जिसमे धूप के अर्थ मे रौद्र ही काम मे लाया गया है जो सस्कृत मे दुर्लभ है।

अँगरेज़ी मे जो बात पहले कही गई है उसे 'ऊपर लिखी या कही गई' कहते हैं और जो आगे कही जायगी उसे 'नीचे लिखी या कही' कहा जाता है। कागज मे लिखते-लिखते ऊपर से नीचे को आते हैं इससे यह उपचार चला है। इसकी देखादेखी सस्कृत और सस्कृत-जात भाषाओं मे भी 'उपरिलिखित' 'उपर्युक्त' (हिंदी का उपरोक्त !) 'निम्नलिखित' 'अधोनिर्दिष्ट' आदि प्रयोग चल पडे हैं। जो सस्कृत के पुराने मुहाविरे से सर्वथा अशुद्ध हैं। सस्कृत मे 'उपरिष्टाद् वक्ष्याम' (=ऊपर कहेगे) का अर्थ होता है, आगे कहेगे (=हिंदी या अँगरेजी का 'नीचे कहा जायगा')। 'इति प्रतिपादितमधस्तात्' का अर्थ है यह नीचे कहा जा चुका है अर्थात् पहले कहा जा चुका है (=हिंदी या अँगरेजी का 'ऊपर लिख आए हैं')। सस्कृत मे लेख या प्रतिपादन के लिये वृक्ष का उपचार है जो नीचे से बढते-बढते ऊपर को चलता है। अँगरेज़ीवाले सस्कृत और सस्कृतिक भाषाओं मे यो नीचे को ऊपर कर रहे हैं, ऊपर को नीचे। कागज़ पर लिखने और वृक्ष के उगने के दोनो उपचार खिचडी बन रहे हैं। यह सस्कृत मे 'निम्नलिखित' और 'उपर्युक्त' के प्रयोग की उलटी गगा भिन्न भाषाओ के मुहाविरो की ससृष्टि का अच्छा उदाहरण है।

पारसी मोबेद नरयोसघ ने पहलवी और पजद से पारसियो के धर्मग्रन्थो के बहुत से अशो का सस्कृत अनुवाद किया। उसने अपने खुर्द अवस्तार्थ ग्रथ का आरभ इस तरह से किया है[2]—

१. पाणिनि के अपवर्गे तृतीया (२ ३ ६) से यहाँ काम नही चलता।
२ खोर्द अवस्ता अर्थ, पार्सी पचायत के ट्रस्टीज का सस्करण, पृष्ठ १।

नाम्ना सर्वांगशतयार च साहाय्येन च स्वामिनो अहुर्मज्दस्य महाज्ञानिनः सिद्धिः शुभा भूयात् प्रवृत्तिः प्रसिद्धिश्च उत्तमदीने मज्दिईअस्न्या वपुषि च पाटवं दीर्घ-जीवितं च सर्वेषा उत्तमाना उत्तममनसाम् ॥

इदं परोमईअस्ति नाम पुस्तकं मया नइरियोसघेन धवलसुतेन पहलवीअक्षरात् संस्कृतभाषायामवतारितम् । विषमपारसीकाक्षरेभ्यश्च अविस्ताक्षरैर्लिखितम् । सुखप्रबोधाय उत्तमाना शिष्यश्रोतृणा सत्यचेतसाम् । प्रमाण. उत्तमेभ्य. शुद्धमतेभ्यः सत्यजीह्वेभ्य सत्यसमाचारेभ्यः ॥

यह मानो पहलवी पजद का अक्षर-अक्षर अनुवाद है[1]। एक और नमूना देखिए—

अपृच्छत् जरथुश्त्रः अहुर्मिज्दम् । अहुरमज्द अदृश्यमूर्ते गुरुतर दातः शरीरिणा अस्थिमता पुण्यमय । का अस्ति अविस्तावाणी गुर्वी बलिष्ठतरा···[2]

इस 'पारसी सस्कृत' से 'यूनानी प्राकृत' के सिद्धात की पुष्टि होती है ।

[प्रथम प्रकाशन · नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग-१, वैशाख,
स० १६७७ वि०, १६२० ई०]

१ इसके सम्पादक ने पजद और पहलवी में यही इबारत लिखकर मिलान किया है । वही, टिप्पणी १ ।
२ वही, पृष्ठ १६ ।

सिंहलद्वीप में महाकवि कालिदास का समाधिस्थल

कालिदास की देशभाषा

संस्कृत साहित्य मे महाकवि कुमारदास और महाकाव्य जानकीहरण का नाम बहुत विख्यात है। उस काव्य की उत्तमता पर राजशेखर ने तो यहाँ तक कह डाला है[1] कि—

जानकीहरणं कर्तुं रघुवंशे स्थिते सति।
कविः कुमारदासो वा रावणो वा यदि क्षमः॥

अर्थात् रघुवंश (कालिदास का काव्य और रघु का वंश) के रहते हुए यदि किसी की हिम्मत जानकीहरण[2] (काव्य और सीता का हरण) करने की हुई तो या तो कवि कुमारदास की[3] या रावण की। जानकीहरण के अंत मे कवि ने अपना नाम कुमारपरिचारक (कुमारदास का पर्याय) दिया है और दो मामाओं की

१ शारंगधर भगदत्त जल्हण की सूक्तिमुक्तावली में राजशेखर के नाम से यह श्लोक दिया है।
२ सिंहली भाषा में एक जानकीहरण काव्य की टीका मात्र मिली थी। उस पर से बड़े परिश्रम और पांडित्य से जयपुर के शिक्षाविभागाध्यक्ष पंडित हरिदास शास्त्री ने, पंडित मधुसूदन ओझा की सहायता से, काव्य का मूल संपादित किया। पुस्तक छप ही रही थी कि शास्त्री जी का स्वर्गवास हो गया। उधर सिलोन के विद्यालंकार कालेज के धर्माराम महास्थविर ने जानकीहरण छाप दिया। पीछे शास्त्री का संस्करण निकला।
३ संस्कृत की सुभाषितावलियों में कई श्लोक कुमारदास (कुमार, कुमारदत्त, कुमार भट्ट, भट्टकुमार) के नाम से दिए हैं, उनमें से बहुत से जानकीहरण में मिल गए हैं। कई नहीं भी मिले। अमरकोश की टीका रायमुकुटी और उज्ज्वलदत्त की उणादि सूत्रवृत्ति मे भी कुछ उद्धरण कुमारदास के जानकीहरण के मिले हैं।

अपने ऊपर परम कृपा बतलाई है[1]।

सिंहलद्वीप की पूजावली और पेरुकुम्बसिरित्त मे यह लिखा है कि मोग्गलायन कुमारदास या कुमारधातुसेन सिंहल का राजा नौ वर्ष राज्य करके कालिदास की चिता पर आत्मघात करके मर गया। महावमो[2] और काव्यशेखर मे उसे मोग्गल (मौद्गल) वंश का न मान कर मौर्यवंशी माना है। महावंसो के अनुसार उसकी मृत्यु सन् ५२४ ई० मे हुई। धर्माराम उसकी विद्यमानता सन् ५१३ ई० मे मानते हैं[3]। जानकीहरण की टीका मात्र ही मिली है, वह भी सिंहल में, कवि कुमारदास और राजा कुमारदास एक ही हैं।

कहते हैं कि यह कालिदास का समसामयिक था। कालिदास के कानो तक जानकीहरण का यश पहुँचा और उसने इस काव्य को बहुत सराहा। जब कुमारदास ने यह सुना तो सम्मानपूर्वक कवि को अपने यहाँ बुलाकर रक्खा। एक नायिका के यहाँ कालिदास आया-जाया करते थे। उसने कवि के लिये अपने द्वार पर यह समस्या लिख दी कि—

कमलात् कमलोत्पत्तिः श्रूयते न तु दृश्यते।

(कमल से कमल का होना सुना जाता है पर देखा नही)

कालिदास चुपचाप उसके नोचे लिख आए—

बाले तव मुखाम्भोजात् कथमिन्दीवरद्वयम्?

(हे बाले, तेरे मुखकमल से भला ये दो (नेत्र-) कमल कैसे उग आए है?)

कुछ समय पीछे, मारवाड की ख्यातो की बोलचाल मे, कालिदास पर 'चूक' हुई, उसी रमणी के कारण वे छल से मारे गए। मित्रवियोग से विह्वल होकर कुमारदास ने भी उसी चिता पर पछाड खा कर देहावसान कर दिया।

सन् १६०६ ई० मे कलकत्ते के महामहोपाध्याय डाक्टर सतीशचन्द्र विद्याभूषण आचार्य सिंहल गए थे। वहाँ उन्होंने सुना कि दक्षिण प्रात के माटर सूबे मे एक स्थान, जहाँ किरिंदी नदी भारत महासागर मे मिलती है, कालिदास का समाधि-

१ कृतश इति मातुलद्वितयवत्नसानाथ्यवो
महार्थमसुरद्विपो व्यरचयन्महार्थं कवि।
कुमारपरिचारक सकलहार्दसिद्धि सुधी
श्रुतो जगति जानकीहरणकाव्यमेतन्महत्॥

२ सिंहल का बौद्ध ऐतिहासिक पुराण।

३ कुमारदास के समय की नीचे की अवधि ईसवी सातवी सदी है। कालिदास और कुमारदास की समसामयिकता सिंहल के पुराणो पर ही अवलंबित है। राजशेखर का श्लोक तो यही बतलाता है कि रघुवंश के बने पीछे जानकीहरण बना, जो समयांतर मे भी संभव है।

स्थान कहा जाता है। पडोस मे तिष्यााराम के मठ मे रहनेवाले भिक्खुओ ने भी ऐसा ही कहा और दूसरे मठो के भिक्खुओ ने भी इस प्रवाद की पुष्टि की। लगभग ५०० वर्ष पुराने सिंहली ग्रथ 'पराक्रमबाहुचरित' मे भी इसका उल्लेख है।

यह कहा जाता है कि कुमारदास ने कालिदास की बोली मे एक पद्य कहा था। यह कालिदास के प्रति प्रेम दिखाने के लिये किया और उसम एक कूट पहेली भी धरी कि कवि उसे बूझे। वह यह है—

मूल

सिय तॉवरा सिय तॉवरा सिय सेयेनी।
सियस पूरा निदि नो लवा उन सेवेनी॥

सस्कृत शब्दातर

शतदल तामरस स्वादु तामरस (सत्य) स्वाव सेवमाना।
स्वीयमक्षि पूरयित्वा निद्रा न लभमाना उद्वेग सेवते॥

हिंदी अर्थ

सौ दल का कमल, स्वादयुक्त कमल, [उसके] स्वाद का सेवन करती हुई (स्वाद लेती हुई) अपनी आँखे भरकर नीद न पाती हुई घबराहट को पाती है॥

मूल और सस्कृत शब्दातर हमने डाक्टर सतीशचद्र का दिया है। भाषानुवाद शब्दानुसारी हमारा अपना है। भाव यह है कि सायकाल को भौंरा शतदल स्वादु कमल मे घुसा। उसके रस को पीकर मस्त हो गया और कमल बद होने पर उसमे कैद हो गया। रस और रज से आँखे भर गई। आँख भरकर नीद न आई, अपनी दशा की चिंता मे व्यग्र रहा। इसका उत्तर कालिदास ने अपनी ही भाषा म यह दिया—

मूल

वन बॅवरा मल नोतला रोणट बनी।
मय देदरा पण गलवा जिय सुवेनी॥

सस्कृत शब्दातर

वनभ्रमर माला (पुष्प) न उत्तोल्य रेणोरर्थे (यद्वा रुणु इति शब्द कुर्वन्) ' ाविशत्।

मालाया (पुष्पे) विदीर्णाया प्राणान् गालयित्वा गतवती सुखेन॥

हिंदी अर्थ

वन का भौंरा, माला को (फूल को) न उतोल कर रज के लिये (या रुण-रुण करता हुआ) घुसा, माला (पुष्प) के फट जाने पर प्राण गलाकर (बचा कर) गई सुख से।

वैदिक भाषा में प्राकृतपन

यास्क के 'निरुक्त' में जो वैदिक शब्दों में निर्वचन किए हैं उनमें कुछ प्राकृतपन का प्रमाण है। पहला तो डा० लक्ष्मण स्वरूप ने अपने 'निघटु निरुक्त' के संस्करण की भूमिका में बताया है और बाकी प० विधुशेखर भट्टाचार्य ने उसकी समालोचना करते समय माडर्न रिव्यू (जून, १९२१) में लिखे हैं।

कुटस्य—कृतस्य
कीकटा —किंकृता
कतक —कर्तक (कृन्तते)
कूहू—गुहू (गूहते)

तकु' का अर्थ डाक्टर लक्ष्मण ने चाकू किया है, किंतु समालोचक ने ठीक बताया है कि कृत धातु (काटना) से व्यत्यय से बनने पर भी इसका अर्थ ताकू (तकुला) है। पर कृत (कृन्त) धातु का अर्थ काटना ही नहीं है, जैसे वृधु के अर्थ बढाना और बढ्ढना (काटना) दोनों हैं वैसे कृत के अर्थ कातना और काटना दोनों हैं (मा अकृन्तन्नवयन् इत्यादि मंत्र)

[प्रथम प्रकाशन नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग-२,
सं० १९७९ वि०, १९२१ ई०]

पाणिनि की कविता

मैं पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी जी का उपकार मानता हूं कि उनकी कृपा से मुझे मालूम पड़ा कि पाणिनि की कविता (पत्रिका भाग-१, पृष्ठ ३७४) में सं० २० पर जो श्लोक 'क्षपाः क्षामी कृत्य— 'आदि उद्धृत किया है उसी भाव का एक श्लोक बिल्हण कवि के 'विक्रमाकदेवचरित' काव्य में (सर्ग १३, श्लोक ३६) भी है—

तृणानि भूभृत्कटकेषु निक्षिपन्न कैः स्फुरद्धीरमृदङ्गनिस्वनः ।
तडित्प्रदीपैश्चलबककलोलयानिदाघमन्विष्यति वारिदागमः ॥

[प्रथम प्रकाशन : नागरी प्रचारिणी पत्रिका : भाग २, अंक-१,
वैशाख, सं० १९७८ वि०, १९२१ ई०]

की जगह 'वी' काम में ला रहा है, वही मजमून है कि पानी खटिया तर रहो, पूत मरे बवि आव। सूत उत्तर देता है—आयुष्मन्, मैं रथ का प्राजिता हूँ। वैयाकरण कहता है कि यह तो अपशब्द है। सूत कहता है कि देवाना प्रिय प्राप्तिज्ञ[1] हैं, इष्टिज्ञ[2] नहीं, यह रूप माना जाता है। यों टोकने पर वैयाकरण खीझ गया। वह सूत को सूत कहलाने योग्य नहीं समझता। वह अपने व्याकरण के भरोसे समझाता है कि सूत सु + उत से बना है, सु + उत = अच्छा बुना हुआ, ऐसे दोष दिखाने वाले के नाम में सु = अच्छा क्यों आवे ? उसने इस अपराध में सु + उत = सूत को दुर् + उत कहना चाहा। सु का उल्टा 'दुर' है, जैसे सुगंध, दुर्गंध, सुकृत, दुष्कृत। वैयाकरण कहता है, अहो, इस दुरुत ने हमें निश्चय बाधा पहुँचाई। भोज के 'यथा बाधति बाधते' कहने वाले कहार की तरह सूत चट बोल उठा कि 'वेञ्' (बुनना) धातु से सूत नहीं बनता, यह तो सू (= सुवति, पू = प्रेरणा करना) से सूत बनता है। यदि सू धातु के साथ आपको कुत्सा का प्रयोग करना हो, मेरी और अपनी अप्रसन्नता दिखानी हो, तो 'दु सूत' ऐसा कहिए, दुरुत नहीं।

यहाँ पर पहले तो सूत ने वैयाकरण को आयुष्मान् = (बड़ी) उमरवाला कह कर संबोधन किया है। बोलचाल में बुलाए जाने पर बुलाने वाले के साथ आशीर्वाद से बातचीत शुरू करना सभ्यता की चाल है। हिंदी में किसी को पुकारने पर उत्तर मिलता है 'जी'—यह 'जीव' = 'जीते रहो' आशीर्वाद है। राजा के पास रहने वाले 'जय जीव' कहने वाले कहे जाते हैं।[3] एक श्लोक में विष्णु पुकारते हैं—'हे नदक', उत्तर मिलता है, 'जीव'[4] हेमचन्द्र की देशी नाममाला में धण्णाउस (धन्यायुष) आशीर्वादात्मक संभाषण में दिया मिलता है (५।५८)। दूसरी जगह सूत कहता है—'देवाना प्रिय प्राप्तिज्ञ' हैं। यहाँ देवाना प्रिय का अर्थ देवताओं का लाडला, देवताओं का प्यारा है, यह भी आशीर्वाद और विनय की भाषा है, जैसे राजपूताने में 'राम का पूरा' 'राम जी भला दिन दें' आदि कहते हैं। भगवान नेकबखत भला आदमी आदि पद भी यों बोलचाल में आते

१ किस नियम की कहाँ पर प्राप्ति (पहुँच) होती है, यह जाननेवाला प्राप्तिज्ञ। पिबनि चकरीतान्त पचतीत्यत्र यो नयेत्। प्राप्त्यिज्ञ तमहं मन्ये प्रारब्धस्तेन संग्रह'। यहाँ 'प्रातिज्ञ' कहने में कुछ ताना है कि आप पोथी ही पढ़े हो।

२ जो नियम सूत्रों में दिये हैं उनके अपवाद या उनमें अधिक नियम 'इष्टि' (= मजूरी, स्वीकृति, मानना चाहिए, इच्छा की हुई बात) कहे जाते हैं, उन्हें जाननेवाला इष्टिज्ञ।

३ जय जीवेति वादिन = हाँ हुजूर, करनेवाले।

४ 'चक्र !'— ,बूहि विभो !'—'गदे !'—'जयहरे !''—'कवो !' 'समाज्ञापय—भो भो नन्दक ?'—'जीव —'पन्नगरिपो ?' 'कि नाथ ?' ॥

हैं। सूत ने 'देवाना प्रिय' सरकार आप, या जनाब की तरह आदर ही में काम लिया है। (चाहे उसमें कुछ ताना भी हो), इसका अर्थ अच्छा ही है, मूर्ख नहीं।

इस भाष्य की व्याख्या में कैयट ने 'देव शब्द मूर्ख का वाचक है। मूर्खों के प्यारे मूर्ख ही होते हैं। अथवा सुख में आसक्त होने के कारण शास्त्र में ध्यान न लगाना ही यहाँ प्रतिपादित होता है' लिखा है। यह पीछे की बात से लेकर है, पतंजलि के काल में यह अर्थ नहीं था। सूत की बातचीत बहुत सभ्य है वह 'आयुष्मान्' कहकर सम्बोधन करता है, वैयाकरण की अपेक्षा संस्कृत के मुहाविरे अच्छे समझता है, दर्जे में भी वह विद्वान वैयाकरण से छोटा है, इन सब कारणों से वह गँवार की तरह मुँहफटपन से वैयाकरण को 'मूर्ख' नहीं कहता 'देवाना प्रिय' अदब और आशीर्वाद का पद था।

इसी तरह मीमांसा के शाबर भाष्य में जहाँ यह प्रसंग है कि एक ही सूर्य नाना देशों में कैसे एक साथ दिखाई देता है वहाँ उदाहरण दिया है कि किसी को कहा जाय कि 'आदित्य को देख, देवाना प्रिय।' तो उसे सूर्य एक जगह टिका हुआ सा ही दिखाई देता है[1] वहाँ देवाना प्रिय का अर्थ आयुष्मान् की तरह आशीर्वादात्मक ही है। गुरु अपने शिष्य को कह रहा है कि बच्चा, चिरंजीव या भले-मानस, सूर्य को देख। किसी गाली की यहाँ जरूरत नहीं कि अंधे या मूर्ख, सूर्य को देख। कोई ऐसा प्रसंग ही नहीं है।

वेदांत सूत्रों के शंकर भाष्य में जहाँ प्रतिवादी के कथन का उल्लेख करके उसका खण्डन करने के लिए प्रतिवादी से कोई उसकी कचाई की बात पूछी है, अर्थात् प्रतिप्रश्न से खंडन किया है, वहाँ कहीं-कहीं यह आता है—इद तावद् देवाना प्रिय प्रष्टव्यः' अर्थात् देवाना प्रिय से इतना तो पूछो। यहाँ भी यह मुहावरा सभ्यता ही से सम्बन्ध रखता है, सम्भव है इसमें कुछ ताना भी हो, जरा हजरत से यह तो पूछिए। शिष्ट लोग प्रतिवादी को मुँह पर मूर्ख नहीं कहते, 'रामदुलारे' ही कहते हैं। शंकर ने बूढ़े 'गौतम' को 'गो-तम' कह दिया तो इसका अर्थ यह नहीं कि 'रामदुलारे' (देवाना प्रिय, सदा गाली ही हो तथा शिष्ट शास्त्रार्थ में गाली ही दी जाती हो।

[प्रथम प्रकाशन - नागरी प्रचारिणी पत्रिका : भाग-२, १९२० ई०]

१ आदित्यवद्यौगपद्यम् (अध्याय १ पाद १ सूत्र १५) पर 'यत्तु एकदेशस्य सतो नाना देशेषु युगपद्दर्शनमनुपपन्नमिति 'आदित्य' 'पश्यदेवानांप्रिय' एक सन्नेकदेशावस्थित इव लक्ष्यते कथ पुन ' इत्यादि।

पुराना व्यौपार

साधारण बोलचाल के चलते हुए शब्दो मे कई नाम ऐसे हैं जिन पर संस्कृत और अंग्रेजी के बल पर हिंदी लिखने वालो ने ध्यान नहीं दिया है। कई चीजो के नामो मे इतिहास का बीज छिपा हुआ पड़ा है। खांड को अब तक 'चीनी' बोलते हैं। संस्कृत मे सिन्दूर का नाम 'चीनपिष्ट = चीन का पिसा हुआ चूर्ण' है। रेशम का 'चीनांशुक' कहते ही थे। 'चीनी' मट्टी अंगरेजो के आने के पहले से ही इस नाम स कहलाती थी। चिनिया केला, चिनिया बदाम (= मूंगफली) और दारचीनी (दालचीनी) नाम भी हमारे पड़ोसी देश के व्यापार की यादगार हैं। मालूम होता है जैसे आजकल कोई भी अनोखी चीज 'विलायती' कहलाती है वैसे बाहर की चीजें 'चीनी' कहलाती हो। जावा टापू का भी नाम मसालो मे चलता है—जावित्री, जवामिरच, जवा हरड़। दक्खिनी सुपारी का अर्थ प्रकट ही है। लाल मिर्च को राजपूताने मे 'पिरतकाली' या 'पुतकाली' जो पुर्तगाली का अपभ्रंश होकर वास्कोडिगामा के भाई-बंद व्यापारियो की याद दिलाता है। पंजाब मे एक रेशमी कपड़ा (धारीदार दरयाई) होता है जिसे 'नौरंगशाही' कहते हैं। औरंगजेब का नाम वस्त्र का मान कैसे बढ़ाता है, यह खोजने की बात है। जिस बालूशाह के नाम से प्रसिद्ध मिठाई का नाम चला और जो व्यापारी मानिकचन्द मानिकचन्दी सुपारी के नाम से अमर है उनका पता भी खोजना चाहिए। काबुली चने, सैंधव (नमक) और बाल्हीक या सौवीर (= हींग) स्पष्ट ही हैं। पतंग (उड़ाने की) का पुराना नाम 'चंग' उसके चीनी जन्म का उल्लेख है। मोरस खांड नाम अभी चला है पर लोग 'मोरस चीनी' कहकर उत्तर-दक्खिन मिला देते हैं। केसर का नाम 'काश्मीर' था ही। जूतो मे कौन से सलेमशाह ने अमरता पाई है यह जानना कौन नहीं चाहेगा? तालाब के नमक को 'सांभर' कहते हैं। बंगाल मे लाल मिरच को 'लंका' कहते हैं जो उसकी बाहर की आमदनी का सूचक है। पंजाब मे एक कान का गहना 'बहादुरशाही बालियाँ'

होता है। घोडो की जातियो के नाम तो देशो से हैं ही, पान भी 'बँगला' या 'मगही' या 'मदरासी' होते हैं। मुलतानी मिट्टी से कौन सिर नही धोता? फ्रास या फिरग एक गदे रोग के नाम से जस या अपजस पा गया है। पजाब मे एक धारीदार कपडा 'बुखारा' कहलाता है।

[प्रथम प्रकाशन : प्रतिमा : जनवरी, १६२० ई०]

वेलावित्त

प्रबधचितामणि म एक जगह आया है कि स्थगिकावित्त से पान दिए जाने के पहले ही मुँह मे पान डालकर राजा खाने लगा।[1] स्थगिका तो चगेरी पिटारी थैली या पानदान होता है तो आशय पानदान रखने वाले नौकर स हुआ। इस अथ म उसी पुस्तक म स्थगीधर[2] और छ (स्थ) गिकाधर[3] आया है और सहद नामक समुद्र के व्यापारी को नौवित्तक[4] कहा है जिससे स्थगिका वित्त के अथ मे कोई स देह नही रह जाता।

इससे राजतरगिणी के वेलावित्त का अथ स्पष्ट होता है। वहा कई जगह राजा के वेलावित्त नौकरो की चर्चा आती है। राजा शकर वर्मा (ई० स० ८८३ से ६०२) के मारे जाने पर तीन रानियो क साथ साथ जयसिह नामक कलश कृती वेलावित्त का उसका अनुगमन करना पीछ मारना लिखा है। (शिला लेखा म पोत क साथ सहमरण करने वाली पोता सतिया और राजा के साथ सती होन वाले पाचक पुरोहित और नौकरो का भी उल्लेख मिलता है)। राजा यशस्कर (ई० स० ६३६ ६४८) के लिए लिखा है कि उसने एक वेलावित्त को मडलेश बना दिया और वह राजपत्निया स कुव्यवहार करने लगा ता राजा ने इस बात को देखी-अनदेखी कर दिया।[5] वही राजा साघातिक रोग से पीडित होकर मठ म मरने गया और उसक प्राण नही निकले तो साम्राज्य हर लन की

१ राजतरगिणी-- ४।६१२
२ वही प० ८२
३ वही प० ६५
४ वही १० २६०
५ वही ५।२२६ प दुर्गाप्रसाद्जी क सस्करणों मे वेलावित्तमु पाठ है जो कश्मीरी लिखावट म त्त और मु की समानता से हुआ है।
६ नीतस्य मण्डलेशत्व वेलावित्तस्य भूभुजा। ददी शायमानस्य चक्र गजनिमीलिका॥ राजतरगिणी ६।७३

जल्दी करने वाले (कृतत्वरै)[१] मित्र, बधु, नौकर और वेलावित्तो ने उसे विष देकर मार डाला। उसके पुत्र सग्राम देव (ई० स० ६४८-६४६) के राजा होने पर पर्वगुप्त ने राज्य के लोभ मे सग्रामदेव के पिता के किसी वेलावित्त से नजर की तरह लाई हुई फूलमाला गले मे डाल घसीटकर सग्रामसिंह को राजसिंहासन से गिराया और दूसरे घर में मारकर गले मे शिला बाँधकर वितस्ता मे डुबो दिया।[२] रानी दिद्दा ने, जो बहुत बदनाम थी, भुय्य नामक नगराधिपति को विष से मरवाकर रक्म के पुत्र वेलावित्त देवक्लश को, जो निर्लज्ज छिनला, कुटनापन करता था, भुय्य के स्थान पर नियत किया।[३]

इन सब स्थलो मे 'वेलावित्त' का तात्पर्य किसी प्रकार के कृपापात्र या हाजिरबाश नौकर से है जिसका समय से कुछ सम्बन्ध है।

इसी से मिलता हुआ शब्द प्रसादवित्त है जो कृपापात्र (मर्जीदां) के लिए राजतरंगिणी मे दो जगह आया है। एक चमक नामक चारण था जो कुटनेपन से नय राजा कलश (ई० स० १०६३-१०८६) के मुँह लग गया, मत्रियो के बीच उस 'प्रसादवित्त' ने प्रतिष्ठा पाई और वह 'नृनुक्कुर' 'ठक्कुर' कहलाने लगा।[४] उसी राजा कलश की भोगपत्नी कय्या की आगे चलकर निंदा की गई है कि सात रानियाँ और एक पासवान तो सती हुई, किंतु उस प्रसादवित्त ने स्त्री जाति को कलकित किया। वह विजयक्षेत्र मे किसी ग्रामनियोगी गाँव के कर्मचारी की रक्षिता बनकर रहने लगी।[५]

सस्कृत व्याकरण के अनुसार वित्त का अर्थ 'पाया हुआ', 'जाना हुआ या प्रसिद्ध' या 'विचारा हुआ' हो सकता है।[६] पाणिनि ने एक सूत्र मे दिखाया है कि 'अमुक बात से प्रसिद्ध' इस अर्थ मे वित्त आता था।[७] अतएव 'स्थगिका वित्त' का अर्थ हुआ—'स्थगिका रखने से राजदरबार मे प्रसिद्ध' या जाना गया'। वेलावित्त का अर्थ हुआ—'राजा का समय जानने से प्रसिद्ध अर्थात् जो समय-

१ वही ६।१०६
२ राजतरंगिणी ६।१२५-२६।
३ वही ६।३२२-३२४।
४ वही ७।२८७ ६०। स्टाइन ने न मालूम नृकुक्कुर का अर्थ 'मनुष्यो मे मुर्गा कैसे किया है।
५ वही ७।७३४ ८।
६ वित्तो भोग प्रत्यययो (पाणिनि ८।२।५८) धनहि भुज्यते इति भोगोऽभिधीयते। वित्तोऽय मनुष्य प्रतीत प्रतीयते इति (काशिका) वेत्तेस्तुविदितो निष्ठा विद्यतेर्विन्न इष्यते। वेत्तर्विन्नश्च भाग वित्तश्च विन्दते (महाभाष्य। विन्दतेर्धन प्रसिदध्यो (भाषावृत्ति)।
७ तेन वित्तश्चुञ्चुप्चणपौ (पाणिनि ५।२।२६) तृतीयासमर्थात् वित्त प्रतीतो ज्ञात इति (काशिका)।

असमय राजा के पास आ सके और जिसे अवसर की कोई रुकावट न हो' और *'प्रसादवित्त'* हुआ—*'राजा की कृपा के कारण प्रसिद्ध'* । *'वित्त'* का अर्थ—'पाया हुआ या धन' ही करें तो क्रमश: अर्थ हुए—'स्यमिका रखना ही है धन जिसका,' 'वेला जानना या वेला का उपयोग करना ही है वित्त जिसका' और 'कृपा ही है वित्त जिसका' । 'नीवित्तक' तो स्पष्ट ही है।

[प्रथम प्रकाशन : नागरी प्रचारिणी पत्रिका : भाग-३,
सं० १९७९, (१९२२ ई०)]

पूर्ण पात्र

किसी को कोई आनद का समाचार सुनाने पर मुँहमाँगा इनाम मिलता है। बधाई देने पर यह पूछने की चाल भी है कि बधाई देने वाले को जो पसद आवे वह ले ले। अधिक अतरगता पर यह भी हो सकता है कि भाई, अच्छी खबर लाए हो, जो वस्त्र, भूषण आदि हमारे शरीर पर से उतारना चाहो वह उतार लो। समाचार लाने वाला अधिक प्रौढ हो तो स्वय छीन लेता है। इस चाल का नाम 'पूर्ण पात्र का हरण करना' या 'पूर्ण पात्र का लेना' है। बाण की कादम्बरी मे इसका उल्लेख है, हर्षचरित मे भी जहाँ हर्ष का जन्म हुआ है, वहाँ बाण लिखते हैं कि समाचार लाने वाला 'उत्तरीयं पूर्ण पात्रं अहार' उसने ऊपर का वस्त्र (दुशाला आदि) पूर्ण पात्र छीन लिया। 'हर्षचरित' का सकेत टीकाकार पूर्णपात्र का अर्थ यो समझता है—पूर्णपात्र यथापरिहितवस्त्रादि। उक्तं च—आनंददोहि सौहार्दादिदय वस्त्रादिकं बलात्।[1] अजानतो हरत्येव पूर्ण पात्र तु तत्स्मृतम्। अर्थात् 'पूर्णपात्र का अर्थ है, जैसा पहना हो वैसा वस्त्र' आदि। कहा भी है कि 'आनद (का समाचार) देने वाला प्रेम से आकर जबरदस्ती वस्त्र आदि (समाचार सुननेवाले के) बिना जाने हर लेता है, वह पूर्ण पात्र कहलाता है।'

यह तो सब ठीक है, किंतु पूर्ण पात्र का अर्थ वस्त्र कैसे हुआ? दीनारो या रत्नो से भरा पात्र होता या गृहपद्धतियो मे जो ब्रह्मा को दिए जाने वाले पूर्ण पात्र का लक्षण[2] लिखा है वह होता तो ठीक होता। हेमचन्द्र की देशीनाममाला मे इसी अभिप्राय के दो शब्द दिए हैं। एक तो 'पुण्णावत्त' जिसका अर्थ 'प्रमोदहृतवस्त्र' अर्थात् खुशी से छीना हुआ कपडा दिया है (६।५३)। दूसरा 'वड्ढवण' जिसके

१ डाक्टर फ़ुहरर के सस्करण में छपा है—'वस्त्रादि कम्बलात्' (!)

२ अष्टमुष्टि भवेत्किंचित् किंचिच्चत्वारि पुष्कलम्। पुष्कलानि तु चत्वारि पूर्ण पात्र प्रचक्षते॥ (पारस्कर परिशिष्ट) कई जगह इस नाम के बारे मे मतभेद भी है।

दो अर्थ हैं—वस्त्राहरण और अभ्युदयावेदन, अर्थात् कपड़ा छीनना, और बढ़ती की सूचना देना (७।८५)। अब सब स्पष्ट हो गया। 'वड्ढवण' तो हिंदी का वधाई देना, 'वधाई है' कहना, बढ़ाना, सवर्धना करना है, वधावे गाना, वधाई वजना में वही शब्द है।

प्रबंधचिंतामणि में 'महाराज वधाई है' इस अर्थ में 'स्वामिन वर्धाप्यसे' आया है। इस वड्ढवण के दो अर्थ ठीक ही हैं, एक अभ्युदयावेदन कारण और दूसरा वस्त्राहरण कार्य। 'पुण्णवत' का ठीक सस्कृत पूर्ण (उदय) वस्त्र होना चाहिए अर्थात् (हर्ष या इच्छा···) पूर्ण वस्त्र या पुण्यवस्त्र। किंतु देशी को सस्कृतीकृत करने में पूर्णपात्र हो गया।

[प्रथम प्रकाशन नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग-३, १९२२ ई०]

सुमरनी के मनके

सुगतेता = मृगनेत्रा

हितोपदेश या पचतन्त्र म यह श्लोक पढते समय पढने और पढाने वाले चौका करते है—

हा हा पुत्रक नाधीतं सगतेतासु रात्रिषु।
तेन त्वं विदुषां मध्ये पंके गौरिव सीदसि ॥

हाय बेटा ! 'सुगतेता' रातो म तू पढा नही इसीलिए पण्डितो मे बैठते ही तू फिसड्डी हो जाता है जैसे कीच मे गाय धँस जाती है। सुगतेता क्या ? सुधार कर बनाया 'सुगतैतासु'—अर्थ हुआ, हे पुत्र सुगत ! एतासु (=इन) रातो में'। 'सुगत' किसी पुत्र का नाम हुआ। किसी ने सुगता (=अच्छी बीती हुई) को रात्रि का विशेषण माना पर बिना विभक्ति के उस पद का रहना और 'एतासु' से जुड जाना खटकने से सुधार कर पाठ बनाया—'गतास्वेतासु' (=इन बीती हुई) रातो मे। तो भी यह कीचड की उपमा वाला श्लोक कीचड ही बना रहा। ध्यान देने से इस कीचड से निकलने का उपाय यह है कि 'सुगतेतासु' लिखने वाले भूत की करामात है। छापे के भूत की तरह उस समय लिखने का भूत भी तमाशे कर दिया करता था। (एक और जबरदस्त भूत भी था जिसे पडिताई का या सशोधन की सिड का भूत कहना चाहिए। उसकी करामातें बडी अद्भुत हैं। वह अभी तक जीता है और कौतुक दिखा दिया करता है)। 'मृगनेत्रासु रात्रिषु' ठीक पाठ है। 'मृ' का 'सु'—'ग' ज्यो का त्यो—'ने' का 'ते'—'त्रा' का 'ता'=सुगतेतासु ! मृगनेत्रा का अर्थ है—जिन रातो का अगुआ मृग(=मृग-शिर) नक्षत्र होता है, यान जाडे की रात जिनमे सायकाल से सबेरे तक मृग आकाश मे अपनी कान्ति से राज्य जमाये रहता है। जितने चमकदार तारापुज इस मौसिम मे एक साथ आते हैं उतने कभी नही। रातें बहुत लम्बी होती हैं और पढ़ने के लायक होती हैं। वेद मे इसस मिलता हुआ मुहाविरा 'मरुन्नेत्रा देवा, बृहस्पतिनेत्रा देवा'

कई जगह आया है, काशिका मे मृगनेत्रा रात्रय, पुष्यनेत्रा रात्रय ये दो उदाहरण (पाणिनि ५।४।११६ के वार्तिक पर) दिए हैं।

[प्रथम प्रकाशन प्रतिभा जनवरी, १६२० ई०]

पूत्कार=पुकारना

हिंदी के नये युग के लेखक और पाठक भूल न गये हो तो कालाकाकर के दैनिक हिन्दोस्तान के अन्नभावन सदा समरविजयी राजा रामपाल सिंह (या राजा खामप्यालस्यह ?) 'स्वीकार करना' आदि प्रयोगो मे कर् (पडितो की डुकृञ् करणे) धातु की दुधारी मार से तग आकर 'हम स्वी करते हैं' 'उन्होने स्वी किया' आदि लिखा करते थे। इसी चाल पर 'हमने उसे उप किया' (=उपकार) 'इस रोग को प्रति करो' (=प्रतिकार) वह हम अनु करता है=(अनुकरण) 'तुम क्यो नही अगी करते' (=अगीकार) हिन्दी मे चल सकता है या नही यह विषय भाषा की स्वतत्रता के दुहाई देने वाले मिश्रबधुओ के विचार के योग्य है। सस्कृत मे इस धातु के साथ चीत और पूत अनुकरण शब्द लगाकर चिल्लाना और पुकारना बताया गया है। चीत्करोति=चीत्कार करता है या कालाकाकरी चीत् करता है=चितियाता है, ची ची करता है=चिक्करहिं दिग्गज (तुलसीदास)। इससे मिलता हुआ चिंघाडता है। पूत्करोति=पू पू करता है=दैया तोबा मचाता है=पुकारता है। कोई-कोई सस्कृत कवि पूत्+चकार, पूत+अकरोत् कह कर इस पूत की पो पा को जीवित रख गये हैं। पचतत्र मे जहाँ एक शृगाल अपने बिल म शेर को घुसा हुआ जानकर अहो बिल! अहो बिल! कह कर (भीतर का भेद जानने के लिए) पुकारना शुरू करता है वहाँ के पूत-कर्तुं आरब्ध' को शोधक के भुतने ने न समझकर 'फुत्कर्तुं आरब्ध' (फुफकारने लगा, फूंक देने लगा) बना दिया है।

[प्रथम प्रकाशन प्रतिभा जनवरी, १६२० ई०]

श्रद्धा

मारवाडी मे पति के पत्र पत्नी को और पत्नी के पति को बडे ही रोचक होते हैं। इतना हमीर की वारता मे जोधपुर के राजा तथा कवि (राजकवि या कविराज नही) ने ऐसे दो पत्रो के नमूने दिये है जिनमे आपस का सभापण (नमस्कार या आशीर्वाद के वजन पर) सरदे रो मुजरो या सरदो कहा गया है। इस सरदा का बडा पुराना इतिहास है। आजकल तो श्रद्धा भक्ति या विश्वास के अर्थ मे एक अटूट शब्द बन गया है। सस्कृत वाले भी इसे नही पहचानते कि यह चीत् पूत् के ढग के श्रत् के आगे धा (=रखना) से बना है। वेद मे श्रत् अस्मिन् दधाति श्रत्, अस्मिन् दधु आदि मौको पर बीचवाला पद द्वाभ्या तृतीय बनकर असली अर्थ को जतला देता है। श्रत् रखना=भरोसा रखना=बल समझना= अभिलाषा रखना ये अर्थ चले गये। पुराने सिक्के और पुराने महाविरे और शब्दो की एक ही चाल है। वे बडे शहरो और मडियो से नये चमकते सिक्को से धकेले जाकर गाँवो की शरण जा पडते हैं। मारवाड दम्पति आपस मे 'सरधा' का सम्भापण करते हैं। राजपूताने का बीमार चारपाई से उठकर कहता है मेरे काम करने की सरधा नही है। पजाब के पहाडी हिस्सो मे गर्भवती स्त्री की इच्छाएँ (=सस्कृत के कवियो का प्यारा दोहद=दौहृंद=बिगडा हुआ दिल= जी मिचलाना, जिसको लेकर उन्होने कई राजाओ की रानियो और कई गर्भस्थ चक्रवतियो को मट्टी खिलाई है) सरधा कही जाती है जैसे आज तो लाडी जी के सरधा (बहुवचन) बोल रही हैं। इसी सरधा से बना हुआ शब्द साध है। मेरी साध पूरी हो गई। राजपूताने मे गर्भ के अष्टम मास मे बडी धूमधाम से बाजे-गाजे के साथ मिठाई, गहने, कपडे आदि भेजकर गर्भवती का पिता अपनी कन्या की साध पूरी करता है या साध देता है।

[प्रथम प्रकाशन प्रतिभा : जनवरी, १९२० ई०]

क्रियाहीन हिंदी

हिंदी मे धातुओं की बडी कमी है। क्रियापदो का दारिद्र्य आता जाता है। धातु से बने हुए नाम के साथ करना या होना जोडकर क्रिया का का

है। होते-होते करना या होना यही दो धातु हिन्दी मे रह जायँगे। एक तो प्राकृत और अपभ्रंश की गठन से ही हिन्दी (और उसकी बहनेली उर्दू) बहुत से धातु खो चुकी और फिर धातुज नामो के आगे 'कर' या 'हो' जोडकर काम चलाकर तुलसीदास और सूरदास का प्रचुर शब्दकोश भी खाली हो चला। अब हम परमेश्वर को 'भजते' नही 'भजन करते हैं', 'भरमते' नही, 'भ्रमण' करते हैं। जांचते नही, याचना करते हैं, 'प्रार्थते' नही 'प्रार्थना' करते है, 'तजते' नही 'त्याग' करते है, 'वरनते' नही 'वर्णन' करते है इत्यादि इत्यादि। यो शास्त्रो के पुरुष की तरह या हिन्दुस्तान के अमीरजादो की तरह हिंदी भी क्रियाहीन होती जा रही है।

[प्रथम प्रकाशन प्रतिभा जनवरी, १९२० ई०]

पानी पीकर रह जाती हैं

पहले दोहद और सरधा की चर्चा हो चुकी है। सब प्राकृत गाथा मे दोनो शब्द साथ आये है। इसलिए सरधा का अर्थ तो खुलता ही है, साथ ही साथ भाव भी ऐसा है कि दिल की कली खिल जाती है।

दुग्गयघरंमि घरिणी रक्खन्ती आउलत्तण पइणो।
पुच्छियदोहल सद्धा उपय चिय दोहल कहइ॥
[दुर्गत घर मे गृहिणी, पति व्याकुलता बचाने को।
दोहद सरधा पूछे जल ही साध बतलाती॥]

दिन बुरे आ गये हैं। घर म दरिद्रता पसर गई है। गृहलक्ष्मी के गर्भ है। पति पूछता है कि तेरी क्या सरधा है? काहे पर मन चलता है? बेचारी पति की आर्थिक दशा जानती है। उसके दुःख को घटाना चाहती है। क्या करे? मन मारकर कहती है कि मेरी सरधा पानी ही पर है! कवि ने कितना कह डाला!! और जो न कह कर भी कह दिया वह कितना है!!!

[प्रथम प्रकाशन · प्रतिभा . जनवरी, १९२० ई०]

बेसिर की हिन्दी

हिन्दी मे आजकल बिना सिर के अक्षर लिखने की चाल चल निकली है, मैं भी इस लत से बचा नही हूँ। एक माननीय साहित्य सेवी मित्र को पत्र लिखा था उसमे वही निमत्थी लिखावट थी। उनका जो उत्तर आया वह ऐसी भाषा मे था जिसका चलन अब अँगरेजी की छाया पर लिखने वालो की लेखनी से दूर जा पडा है। उसमे बेसिरी लिखावट पर फटकार के सिवा और भी बहुत 'चमत्कार' है, इसलिए घरू बातो को छोडकर उस पत्र के बहुत बडे अश को सुमरनी मे पो लिया जाता है। पाठको को विनोद भी होगा और ज्ञान लाभ भी। मेरे मित्र लिखते है—

"बिना सिर की अक्षरावलि से भूपित पक्तियो की सूचिनी से सूचित हुआ। क्या ही रुडमाला धारे चद्रधर जी की सरस्वती विष्णु की वाग्वादिनी के आसन सम्मुख उपस्थित हुई। कहिये महाराज ये सिर कब से कटे? क्या जर्मनवार मे या सद्य अफगनवार मे? कुछ बखत तो समय की हुई। सिर गये तो गये धड तो रह गये। धडाधड भाषा की उन्नति बिना सिर गये कैसे होती थी। यह सिरदारो की सिरदारी ही सरासर है कि सरेदस्त सरेमू फर्क न पडने वाली सरवाजी के सर्राटे के साथ सार की कलम से तलवार का वार किया। मार-मार आँको की आँखो को बचाकर नाको नकेल डाल गाल फोड तीर के तार पार कर आरपार धार धर मारी। वारी जाऊँ प्यारी लिपियारी लेखिनी की करारी कुठारी पर कि किसी को भी कलम करने से, कत के बराबर भी फकत न हुई यही तो खत की खातिमुलखातिमाई है कि वेखता को भी खनफितावत म भी खत करने से न चूके कि बिना ही चाकू के क्या खूब चकमा धर मारा कि किसी चकचूक की चक्की-चक्की भी चुक न चुकी थी कि चकाचौंध से चौक-चौंक चौकी पहरे वाले भाषा के घुपक्कड भी भडक-भडक नागरी की सडक के भरोसे फडक उठे। कही आप बेधडक मुझपर कडकवर न टूट पडें कि मेरी मडक की भडक भी भडुओ की गडक मे गडप न हो जाय कि इज्जत के दडवे मे दडदूमड होने वाले अडगेबाज गडगडाहट और भलभलाहट के बिना ही गैंडे-सी भारी, हाथी-सी शरीरधारी हमारी-सी बीबी साहिबों को चट ही हडप करने को टकटकी लगाये पिछले पजो पर जमे ताव मे तके रहा करते हैं। अजी साहब सरकी क्या चलाई इतनी बेसिर पैर की को सिराय जिसराय बेसिरपैर की सुनाने को गुरमे साधे-साधे बैठे हैं। सिर झुकाकर कहता हूँ कि मेरे सिर पर इतने बाल कहाँ कि आपके बे सिरकी लिखावट पर सिर खपाऊँ और मेरे सिर म इसका सिर (भेद) ही नही सरायत कट सका कि किसी सिरे से उसकी

सिरी को सुकड़ी कह सकूं क्योंकि सरतानने से भी सरतान का सारा सरताना नही जाता और स्वर तानने से भी सारी सरगम का सुर सुरों से भी नही तनता क्योंकि कोरी तानारीरी तराने मे तार का भी काम नही देती जबकि तानसेन की तान का तनाव भी बैजूबावरे की तुनतुनी के सामने तानारीरी का तुलारा न ठहर सका। माफ करना, इस वे काफोलाम के कलाम को कि न मुल्ला हूँ न कलामुल्लाह मे कादिर।

"मेरा अकबर अभी कबर मे ही है दो चार साल होने पर बर आ सके तो बर है नही मैं ही कबर मे न सही नरक मे जा डटूँगा। हम तो 'रज्जब' की अज्जब जुबान की लहर ले रहे हैं कि साल भर खप जाने से भी होता नजर नही आता। फिर सुदरदास जी की आस जो कितने ही वर्षों से घुसी पड़ी है पूरी होगी फिर जलालुद्दीन का जलाल झलके तो झलके। 'मअसिरुल उमरा' क्या कई शेखचिल्लियाँ बिल्लियो की तरह दिल मे लड रही हैं परन्तु ये चूहे की तरह पहाड फोडने पर निकल कर आती प्रतीत होती है। कभी आइने अकबरी' और अकबरनामे' की कभी तुजुके बाबरी' और 'तुजुके जहाँगीरी' की कभी तो 'मुन्तखबुत्तवारीख' और 'तारीखे फरिश्ता' की सनक समा जाती है और दारिद्री के मन की नाई धन के स्वप्न देख लेते हैं। करना होना क्या गुडिया का खेल है। चाहिए समय सामर्थ्य और स्वास्थ्य सहायक सत्सग और सुमन तथा तन मन और धन। यहाँ एक भी नही। इधर चार सुपारी चौगुनी हो जाती है तो उधर 'मियाँ जोडे तार-तार खुदा रेजे ही रकसावे' वाली हो रही है। सच यह है कि इतिहास-माला को एक दो मनका इस जन का अवश्यमेव मिलना उचित होगा। उधर एक मित्र की माला इधर एक और मित्र की आज्ञा के पालन का टाला कैसे हो और कैसे न हो इसी कशमकश म सोचता साचता मैं किशमिश क्या छुहारा हो गया। उचित है वही होगा। आज्ञा को शिरोधार्य परतु विज्ञप्ति अभी न होनी चाहिए कि लज्जा के मारे सिकुड कर सावन की डोकरी होना पडेगा। भला श्रावण के आने से पहले ही आप से श्रवण ने यह श्रवण तो कराया कि इतिहास की वृष्टि मे हमारा भी पौदा लगेगा। धन्यवाद प्रसन्न रहिए और मेरे योग्य कुछ कहिए।"

[प्रथम प्रकाशन प्रतिभा जनवरी, १६२० ई०]

अनुवादों की बाढ़

हाँ, तो मनोरमा की ओर फिर लौटिए, उसके सम्पादक तो हर्षचरित को निवटा कर कादम्बरी के पीछे पड़े हैं, कुमारसम्भव पर भी कुछ कृपा की गई थी। इधर 'हिन्दी कालिदास' अब हिन्दी माघ बन रहे हैं और शिशुपालवध की चौपाइयाँ किये डालते हैं, और हाय ! एक महाशय सामवेद की हिन्दी करने चले हैं, क्या ही अच्छा एक सहृदय उन्हें सुना कर कहता है—

काव्यं करोषि किमु ते सुहृदो न सन्ति,
ये त्वामुदीर्णपवनं न निवारयन्ति।
गव्यं घृतं पिब निवातगृहं प्रविश्य,
वाताधिका हि पुरुषा कवयो भवन्ति॥

[हैं ? काव्य तू कर रहा ? नहिं मित्र हैं क्या,
जो रोकते न तुझको इस · ······से।
गौ का पियो घृत, किवाड़ लगा लगा के।
होता जिन्हें अधिक वात बनें कवी वे ।]

एक हिंदी शब्द—संस्कृत के एक धातु के तद्भव—के न रखने से अनुवाद खंडित हो गया, किंतु अच्छा हुआ, हिंदी सामवेद की तरह पादपूर्ति का उद्योग नहीं किया गया। पुराना मजाक है कि छंद न पूरा होता हो तो च, वै, तु, ह से पूरा कर दो। हिंदी सामवेद का तकिया कलाम 'श्री' है जहाँ अक्षर घटा वहाँ श्री ठूँस दी।

श्री अहिंसाव्रत युक्त, श्रीदेवदर्शन, श्री दीप्ति करके सहित, श्री 'पूज्य धन के ईश, श्री यजमान से होमे गए, श्री विधि सहित, श्रीयुत पुनीत सुगान, श्रीहव्य, कहाँ तक गिनावें श्री पूँछजी मौजूद हैं ! एक पूरी लड़ी सुन लीजिए—

श्री देवगण में श्रेष्ठ श्री दिवलोक से ऊँचा रहे।
श्री धरातल का ईश ऐसा अग्नि यह कहलात है॥
श्री जलों के वीर्यस्वरूपी चराचर जो जीव हैं।
उन सभी के समुदाय को यह प्रेरणा करता रहे॥

[प्रथम प्रकाशन : प्रतिभा : मई, १९२० ई०]

आर्य हिन्दी

वैदिक भाषा का अनुवाद कर रहे है। 'वेदाना सामवेदोऽस्मि' सामवेद है न जिसके लिए सारे पाणिनि के नियम 'बहुल छन्दसि' हो जाते हैं, उसके लिए क्यों नहीं आप हिन्दी काम मे लाई जाय ? तभी तो कुछ नमूना की बहार देखिए—

अग्नि कहावता, तुम सभी उसके निकट जाना तथा मनवावना, मरुस्थली के बिच गमन करनेवार हो, तह विराजन आवना, हम सर्वाहि अघ के काम लेति बनाइये, औ चालने (मतलब चलने से है, चलनी के बडे भाई से नहीं) के समय मे अत्यन्त न फुरती राखत, खीचकर ले जावते, पुनि श्रोतृजनने जिसकि स्तुति गा विविध सुख पालिये, यह जो अनुष्ठान हमार से बन आ गया (अज्ञानाद् ज्ञानतो वापि, बन आ गया ! ठीक है, गले पडी बजाय सिद्ध !!) लख लेवता, धन देवता (कुबर से नहीं, धन को देता है से मुराद है।)

यह है आर्य हिन्दी ! पतजलि कह गये हैं कि 'छन्दोवत् कवय कुर्वन्ति' !!

"औ नये ढग से स्तोत्र रुपी वचन हम ने गा दिये।
उन सबो को सुरवृन्द के आगे तुम्हीं कह दीजिए॥"

गा दिय सो तो गा दिये, अब झेंप कर अग्नि से क्या कहते हो कि तुम्ही कह दीजिए, कह तुम्हारा दुभाषिया क्यों बने ? आप ही न कह दो अग्नि तो मराअरे की भाषा मे उत्तर देगा कि नहीं यह तो आप ही का हिस्सा है ऐसी वफादारी भला मैं कैसे ठीक-ठीक अदा कर सकूँगा ? ऋषि मुझसे कहते थे कि 'अग्नि देवेषु प्रवोच" उनका मतलब यह था कि यह मेरा ही काम है, मुझे करना पडेगा, आप तो इस ढग से कह रहे हैं कि पहुँचा तो हम भी सकते हैं पर खैर तुम्ही कह दीजिए।

[प्रथम प्रकाशन प्रतिभा मई, १९२० ई०]

एक प्रसिद्ध मत्र

एक प्रसिद्ध मत्र का अनुवाद सुन लीजिए। मत्र है—

'उदुत्य जातवेदस देव वहन्ति केतव' दृश विश्वाय सूर्यम्।'

(कोरा भाषान्तर—ऊँचा, ही, उस, हुई को जानने वाले, देव को, ले जाते हैं, किरण दिखाने को, विश्व के लिए सूर्य को)

मनोरमा की आर्य हिन्दी—

> श्री सूर्यनारायण जिन्हींके अश्व जो कहलाय हैं।
> अथवा दिवाकर के किरण ही अश्व पदवी पाय हैं॥
> वे सकल भुवन कहात तिन्हको देखने ही के लिए।
> विख्यात श्री सर्वज्ञ रवि को उठा उपरि लिवावते॥

'उदु' का तो हुआ 'उपरि,' 'त्य'=विख्यात, 'जातवेदस' – श्री सर्वज्ञ, 'देव' भी इसी में खप गया समझो, 'वहन्ति' का अर्थ है 'उठा लिवावते', 'केतव' का सायणभाष्य 'अश्व' जो कहलाय हैं अथवा दिवाकर के किरण ही अश्व पदवी पाय हैं' मानना चाहिए, 'दृशे=देखने ही के लिये, 'विश्वाय'=वे सकल भुवन कहात तिन को, 'सूर्यम्'=श्री सूर्यनारायण, रवि को, जिन्हो कें' ने क्या चमत्कार किया और क्या गठन बाँधी है यह समझने का यत्न कीजिए, हम तो नहीं समझ सके, दो श्री का पुट यहाँ भी है, और कहलाय है, पाय है, और लिवावते के आर्य प्रयोग तो निराले ही खिल रहे हैं। तुम्हीं' की तरह यहाँ भी देखने के लिए में 'ही' घुस गया है।

कहिए मनोरमा की ध्वनि कैसी है?

[प्रथम प्रकाशन प्रतिभा: मई, १६२० ई०]

दो प्रश्नो का एक उत्तर

दो प्रश्नो का एक उत्तर वाचोयुक्ति का, छेकोक्ति का, शब्दश्लेष का, वचन-भंगी का बड़ा अच्छा प्रमाण माना जाता है। बिना पढ़े-लिखे मनुष्यों का विनोद या उनकी एकीकृत प्रज्ञा ऐसे ही प्रश्नोत्तर में रहती है और पढ़े-गुने भी इस रस से कोरे नहीं होते, जैसे गधा क्यों उदासा और ब्राह्मण क्यों प्यासा? इन दो प्रश्नो का एक ही उत्तर है—लोटा न था। 'लोटा' में श्लेष है। पान क्यो सड़ा? घोड़ा क्यो अड़ा? पढ़ा क्यों भूल गया? तीनों का एक ही उत्तर है—फेरा नहीं। बड़ का पेड़ क्यो गिर पड़ा? प्रजा क्यो देश-विदेश भटकती है? हुण्डी क्यों न सिकरी? तीनों

का उत्तर हुआ—"साख नही।' पुरानी पोथियो के कई बडल टटोलते समय एक पुर्जा लगभग २०० वर्ष पहले का लिखा मिला, उसमे ऐसी कई वाचोयुक्तियाँ हैं, वे आजकल किताबो के ज्ञान पानेवाले लोगो को विदित नही, इसलिए यहाँ सुमरनी मे पिरो दी जाती हैं। भाषा पुरानी ज्यो की त्यो रहने दी है।

१. दुआर[1] क्यों टूटा ? शहर क्यों लूटा ?	राज नहीं
२. बिलाल क्यो बिगी[2] ? नार क्यों नगी ?	सूत बिन
३ पोसती क्यों रोया ? राजा क्यों सोया ?	अमल बिन
४ कामिनी क्यों न बुलाई ? कमान क्यों न चढ़ाई ?	गोसा (?) नहीं
५ गोश्त क्यो न खाया ? राग क्यों न गाया ?	गला नहीं
६ अम्बर क्यों अम्मारा ? चाकर क्यों बिगारा ?	बिया नहीं
७ तेल क्यों न लाया ? खाविद क्यों रुसाया ?	बणिया[3] नहीं
८ अजार[4] क्यो न सिवाई ? खीर क्यों न खाई ?	सूई नहीं[5]
९ सूत क्यो न कताया ? रहट क्यो न चलाया ?	तकुवा नहीं
१० कोठे पर क्यो चढी ? कूएँ पर क्यों खडी ?	लाज[6] नहीं

[प्रथम प्रकाशन· प्रतिभा : अक्तूबर, १९२० ई०]

१ द्वार
२ बिगी=टेढी (सस्कृत व्यग)
३ बनिया नहीं, बनी नही
४. इजार=पजामा
५ सूई=सीवनी, सूई=प्रसूता=बियाई (विजाता)
६ लाज=लज्जा लाज=रज्ज=लेज। एक पुरानी पोथी में रस्सी के लिए 'लालन' लिखा

गोसाईं तुलसीदासजी के रामचरितमानस और संस्कृत-कवियों के काव्यों में बिम्बप्रतिबिम्ब-भाव

(१)

रुधिर गाड़ भरि भरि जमेउ, ऊपर धूरि उड़ाइ।
जिमि अँगार राशीह पर, मृतकधूम रह छाइ॥
(लंका काण्ड)

स छिन्नमूल क्षतजेन रेणुस्तस्योपरिष्टात्पवनावधूतः।
अंगार शेषस्य हुताशनस्य पूर्वोत्थितो धूम इवावभासे॥
(कालिदास, रघुवंश ७/४३)

[प्रथम प्रकाशन : नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग-३, १९२२ ई०]

(२)

'सुनु दसमुख खद्योत प्रकासा। कबहुँ कि नलिनी करइ बिकासा'
'यदि खद्योत भासापि समुन्मीलति पद्मिनी।

स्याम सरोज दाम सम सुंदर।
प्रभु भुज करि कर सम दसकंधर॥
सो भुज कंठ कि तव असि घोरा।

रघुपति भुजदण्डादुत्पलश्यामकान्ते-
र्दशमुख भवदीयान्निष्कृपाद्वा कृपाणात्॥

चंद्रहास हरु मम परितापं।
रघुपति बिरह अनल संजातं॥

चन्द्रहास हर मे परितापं रामचन्द्र विरहानल जातम्॥

रामचरितमानस के तीनो अवतरण सुदरकाड मे से है और सस्कृत के तीनो कवि जयदेव के 'प्रसन्नराघव' नाटक मे से (पूना का छपा सन् १८९४, देखो ज० रा० ए० सो० अप्रैल १९१४)

है कपि एक महाबल सीला ।
आवा प्रथम नगर जेहि जारा ।

** सत्य नगर कपि जारेउ बिनु प्रभु आयसु पाइ ।
फिरी न गमउ सुग्रीव पहँ तेंहि भय रहा लुकाइ ॥
(लकाकाड)

कस्त्व वानर रामराजभवने लेखार्थ सवाहको
यात कुत्र पुरागत स हनुमान् निर्दग्धलकापुर ।
बद्धो राक्षससूनुनेति कपिभि सताडितर्जित
स व्रीडात् पराभवो वनमृग कुत्रेति न ज्ञायते ॥
(? हनुमन्नाटक म से, कुवलयानद म उद्धृत)

[प्रथम प्रकाशन नागरी प्रचारिणी पत्रिका १९२२ ई०)

पश्चिमी क्षत्रपों के नामों में घ्स, य्स=ज् (Z)

पश्चिमी क्षत्रप राजाओं के घ्समोटिक, दमघ्सद आदि नामो मे 'घ्स' युक्ताक्षर पढा जाता था। सन् १९१३ मे जर्मन विद्वान् डा० लूडर्स ने स्थिर किया कि यह 'घ्स' नही 'य्स' है और दमघ्सद का नाम दमजद भी लिखा मिलता है। इसलिये यह य्स (घ्स नही) ग्रीक जेड् (ज) के लिये भारतवासियों का संकेतित चिह्न था। माडर्न रिव्यू (जून १९२१) का कथन है कि सन् १९१३ के एक जर्मन पत्र मे डाक्टर लूडर्स ने यह छपवाया और ता० २१ फरवरी सन् १९१३ को इस खोज की सूचना का पत्र शार्लाटनबर्ग से मि० देवदत्त रामकृष्ण भंडारकर को लिखा। किंतु सन् १९१५ की पश्चिमी मडल की पुरातत्व विभाग की खोज की रिपोर्ट मे मि० भडारकर ने इसे अपनी मौलिक खोज की तरह छापा और लूडर्स का उल्लेख भी न किया। माडर्न रिव्यू मे लूडर्स और भडारकर के उन लेखो के फोटो भी छपे हैं। पीछे इस विषय पर बहुत वितडा हुई, यह सिद्ध करने का यत्न किया गया कि यह लूडर्स की मौलिक खोज नही है, कई वर्ष पहले डाक्टर भाऊ दाजी ही ऐसा लिख गए थे। किंतु भडारकर के उसे अपनाने का अपलाप न हो सका।

[प्रथम प्रकाशन नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग-२, १९२२ ई०]

तुतातित=कुमारिल

पीटर्सन् की किसी रिपोर्ट में एक श्लोक उद्धृत है जिसमें "तौतातित मत" का उल्लेख है। मंख कवि (ई० स० बारहवीं सदी का पूर्वार्द्ध) के श्रीकंठचरित में तुतातित पद कुमारिल के लिये आया है।[1] टीकाकार जोनराज ने उसका अर्थ कुमारिल किया है और कहा है कि बड़ों का नाम ज्यों का त्यों नहीं लेना चाहिए।[2] इसलिये प्रसिद्ध मीमांसक आचार्य के लिये कुमारिल की जगह तुतातित कहा गया। कोई पूछे कि यदि बड़ों का नाम लेना ही न चाहिए तो तुमने क्यों लिया? तो टीकाकार कहता है कि व्याख्यान में तो लेना ही उचित है नहीं तो व्याख्यान ही न हो सकेगा।[3]

दार्शनिक ग्रंथों में कई जगह "इति तौता" लिखा हुआ मिलता है जिसका अभिप्राय, संदर्भ से जान पड़ता है कि, कुमारिल के मतानुयायियों से ही है। आफ्रेक्ट के आक्सफर्ड के संस्कृत पुस्तकों के सूचीपत्र, 'कैटलागम् कोडिकम् संस्कृतिकोरम्' के पृष्ठ २४६ पर सर्वदर्शनसंग्रह के वर्णन में 'तौतातिता (अर्थात् कौमारिला)' लिखा है। उसकी पादटीका में संक्षेप शंकरदिग्विजय में से दशम अध्याय के ये दो श्लोक उद्धृत किए हैं—

> वाणी काणभुजी न चैव गणिता लीना क्वचित् कापिली
> शैव चाशिवभावमेति भजते गर्हापदं चार्हतम्।

१ वृद्धोऽपि तर्ककर्कश्ये प्रगल्भ कविकर्मणि।
स श्रीतुतातितस्येव पुनर्जन्मान्तरग्रह॥
स श्रीत्रैलोक्यमालोक्य (श्रीकंठचरित, २५।६५-६६)

२ यह नाम न लेने की वही रीति है जिससे हिंदुस्तान में, आजकल भी देवकीनंदन नामक पुरुष की स्त्री देवकीनंदन के मंदिर को 'कृष्ण के चाचा का मंदिर' कह देती है और रामचंद्र की स्त्री चंद्रमा को नंदा या 'रातवाला' कहती है।

३ तुतातित कुमारिल। स हि तार्किक कविश्चासीत्। महतां सम्यङ नामग्रहणमयुक्तमिति तुतातितशब्द प्रयुक्त। विवरणावसरे युक्त। अन्यथा विवरणत्वाभावप्रसंगात् (?)

दौर्गं दुर्गतिमश्नुते भुवि जन पुष्णाति को वैष्णव
निष्णातेषु यतीशसूक्तिषु कथाकेलीकृतासूक्तिषु ॥ ११८ ॥
तथागतकथा गता तदनुयायि नैयायिक
वचोऽजनि न चोदितो वदति जातु तौतातित ॥
विदग्धति न दग्धधीर्विदितचापल कापिल
चिनिर्दयखिनिर्दलद्भिमतिसकरे शकरे ॥ ११९ ॥

आफ्रेक्ट ने लिखा है कि 'कि वृत्तातं परगृहगतं' इत्यादि श्लोक जो शारगधरपद्धति और सुभाषितावलि म मातगदिवाकर के नाम से दिया है सदुक्तिकर्णामृत म तुतातित' का कहा गया है।

[प्रथम प्रकाशन नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग ३ १९२२ ई०]

कुछ पुराने रिवाज और विनोद

हेमचन्द्र की 'देशी नाममाला' म कई शब्द उस समय के रीति-रिवाज और विनोद आदि के सूचक हैं। उनका सग्रह पाठको के मनोविनोद और जानकारी के लिये यहाँ दिया जाता है। अर्थ हेमचद्र ही का लिखा अनुवाद किया जाता है और कुछ टिप्पणी भी आवश्यकतानुसार दी जाती है—

अयंद्दो (१।७) मुट्ठी का जुआ (बुझौवल)

अपणाण (१।७) विवाह काल म जो वधू को दिया जाय (दहेज) या जो विवाह के लिए वधू ही वर को देती है (उलटी मुंह-दिखाई ?)

आणदवड (१।७२) पति स प्रथम यौवन हरण होने पर स्त्री का रुधिर से छिटा वस्त्र। वह बाधवो को आनदित करता है इस लिये 'आनदपट' कहा जाता है (कई जातियो मे अब भी रस्म है कि ऐसे वस्त्र मे मिठाई रख कर बिरादरी म बाँटी जाती है)।

इवमह (१।८१) कौमार, कुमारावस्था।

उड्डुहिअ (१।१३७) ब्याही स्त्री का गुस्सा, या ब्याही की जूठन।

एमिणिआ (१।१४५) वह स्त्री जिसका शरीर सूत से नाप कर सूत चारो दिशाओ म फेका जाता है। किसी देश की विशेष रस्म है। [पजाबी मिणना=नापना स० मा (मीनाति मिनोति)]

ओलुकी (१।१५३) छिपने का खेल जिसमे लडके छिप कर खेलते हैं, या चक्षु स्थगन क्रीडा (आँख मिचौनी)।

ओरुज (१।१५६) वह खेल जिसमे 'नही है, नही है' यो कहा जाय (कहमुकरनी ?)

काज्जप्प	(२।४६)	स्त्रीरहस्य।
खिक्खिरी	(२।७३)	सूचना के लिये छडी जिसे डोम आदि इस कारण साथ लिए रहते हैं कि और लोग उन्हे स्पर्श न कर लें। (देखिए, फाहियान का वर्णन, पत्रिका भाग-३, पृ० ४२। रजवाडो मे अछूत जातियाँ काक या कुक्कुट का पर इसी प्रकार सिर पर लगाती हैं)।
गगिज्जा	(२।८८)	नई ब्याही बहू।
गज्जोल्लिअ	(२।१००)	हँसी के स्थान मे अग स्पर्श, जो लोक मे 'गिलगिला-विअ' एसा रूढ है (गिलगिली चलाना)।
छप्पती	(३।२५)	एक रस्म जिसमें कमल लिखा जाता है।
छिछट रमण	(३।३०)	मिचणककीला, आँखमिचोनी।
झोंडलिया	(३।६०)	रासक के सदृश खेल जिसम कन्याएँ (और बालक) नाचते खेलत हैं (रास)।
णवलया	(४।२१)	एक रस्म जिसम स्त्री से पति का नाम पूछते हैं और न कहने पर वह पलाशलता से पीटी जाती है (राज-पूताने मे कहीं-कहीं हिंडोले पर झूलते समय स्त्रियाँ यह खेल अब भी करती हैं, हमचद्र ने एक श्लोक इसका अर्थ समझाने के लिये उद्धृत किया है जिसमे जान पडता है कि स्त्री पुरुष मिलकर यह खेल खेलते थे और कुछ चक्कर खाना भी होता था—नियमविशेषश्च णवलया ज्ञेया। आदाय पलाशलता भ्राम्यति लोकोऽखिलो यस्याम्। पृष्टा पतिनाम स्त्री निहन्यते चाप्यकथयन्ती। उसने जो स्वरचित उदाहरण दिया है उसमें भी 'दोलाविलाससमए' है किंतु 'पुच्छन्ती' 'महो (=सही) ही हैं। [नाँव+लेन की क्रिया—लया]
णीरंगी	(४।३१)	सिर ढँकने का वस्त्र, घूँघट [आभाणक शतक मे नीर-गिका (सस्कृत) एक कहावत म आया है कि अधे श्वसुर के लिये नीरगिका कैसी ?]
णेड्डरिआ	(४।४५)	भाद्रपद शुक्ल दशमी का उत्सव विशेष।
तूणअ	(५।१६)	तुणा नाम का बाजा [पतजलि का 'मृदगशखतूणवा' का तूणव ?]
थेवरिअ	(५।२९)	जन्म के अवसर पर बाजा-गाजा।
दुक्कर	(५।४२)	माघ की रात्रि मे चार पहर (प्रति पहर) स्नान का नियम [दुष्कर !]।

दुद्धोलणी (५।४६) जो गाय एक बार दुही जाकर फिर भी दुही जा सके।
दिअसिअ (५।४०) सदा भोजन (दिवसिक)।
दिअहुत्त (५।४०) सवेरे का भोजन (दिवाभुक्त)।
दोवेली (५।५०) सायकल का भोजन (वियालू)।
धम्मअ (५।६३) चोर दुर्गा के सामने पुरुष को मारकर उसके अग के रुधिर से जगल मे जो धर्मार्थ बलि करते हैं। [उस समय के ठग ?]
पयुच्छुहणी (६।३५) सुसराल से पहलेपहल (पीहर) लाई हुई नववधू।
पाडिअज्झ (६।४३) जो पीहर से बहू को सुसराल पहुँचावे।
पोअलअ (६।८१) आश्विन मास मे उत्सव जिसमे पति स्त्री के हाथ से लेकर अपूप (पुआ) खाता है।
मुक्कय (६।१३५) जिस स्त्री का विवाह होने वाला हो उसे छोड कर और निमन्त्रित स्त्रियो का विवाह हो जाना।
मट्टुहिअ (६।१४६) व्याही हुई का कोप।
लय (७।१६) नए विवाहित स्त्री पुरुषो के जोडे का आपस म नाम लेन का उत्सव। इस शब्द के उदाहरण मे हेमचन्द्र ने जो गाथा बनाकर लिखी है उसका आशय यह है कि महाराज कुमारपाल ! आप की सेना को आती हुई देख-कर भागते हुए रिपु दपति आपस मे नाम ले लेकर पुका-रते है और अपने लय' की याद करते है (कि विवाह होने पर भी यो किया था) देखो [ऊपर 'णवलया']
लयापुरिस (७।२०) एक उत्सव जिसम वधू का चित्र हाथ मे कमल देकर बनाया जाता है।
वहुमास (७।४६) जब नई विवाहिता स्त्री के घर से पति बाहर न जाय वही रमण करता रहे वह विशेष रीति या उत्सव [हनीमून !]
वहुहाडिणी (७।५०) एक स्त्री के "ऊपर" जो दूसरी स्त्री लाई जाय।
वोरल्ली (७।८१) श्रावण शुक्ल चतुर्दशी का विशेप उत्सव [राखी ?]
सुगिम्हह (८।३६) फाल्गुनोत्सव यह सस्कृत सुग्रीष्मक का तद्भव है इस लिय देशी मे नही गिना है। हेमचन्द्र ने भामह मे से 'सुग्रीष्मक' के प्रयोग का उदाहरण दिया है [फाग ?]
सवाडअ (८।४३) अँगूठे और बिचली अँगुलि मे चप्पुटिका बजाना [चुटकी]
हिंचिअ, हिंविअ (८।६८) एक टाँग उठा कर एक ही स चलने का बच्चो का खेल।

[प्रथम प्रकाशन नागरी प्रचारिणी पत्रिका स० १६७६ वि० १६२२ ई०]

रड्डा छंद

इसी सख्या[1] के प्रथम लेख में कुमारपाल—प्रतिबोध में से एक छद (स० ३७) व्याख्या (पृ० १५१) मे अनवधान से एक मोटी भूल रह गई है। लिखा गया है कि उस छद के अन्तिम दो चरण छप्पय के हैं। छप्पय के अन्तिम दो चरण उल्लाला होते हैं, यहाँ तो अत मे स्पष्ट दोहा है। प्राकृत पिंगल सूत्र मे इस छद का नाम 'वस्तु' या 'रड्डा दोहा' है। प्राकृत पिंगल सूत्र मे यहाँ पर दो छद दिए है, एक तो रड्डा ही है दूसरा छप्पय, किंतु दोनों ही राजसेन के नाम के हैं। टीकाकार लक्ष्मीनाथ (वि० स० १६५७) इस राजसेन को 'राजा' कहता है 'अस्तु' यह राजसेन राजा भी पुरानी हिंदी का एक कवि मिला जो प्राकृत पिंगल सूत्र के वर्तमान रूप के पहले का होना चाहिए। प्रतिचरण मात्राओ का क्रम यह है—१५ + १२ + १५ + ११ + १५ + दोहा। पहले पाँच चरणो में अडसठ मात्राएँ हुईं। चरणो मे मात्राओ की सख्या में कुछ भेद मान कर रड्डा के सात भेद होते हैं, जैसे—१३ + ११ + १३ + ११ + १३ = कर भी, १४ + ११ + १४ + ११ + १४ = नदा, १९ + ११ + १९ + ११ + १९ = मोहिनी, १५ + ११ + १५ + ११ + १५ = चारुसेनी, १५ + १२ + १५ + १२ + १५ = भद्रा, १५ + १२ + १५ + ११ + १५ = राजसेनी, १६ + १२ + १६ + ११ + १६ = तालकिनी। 'वाणीभूषण' मे इसे दोहा के चार चरण मानकर, 'नवपद' छद कहा है। राजसेन के रचित छदो की ऐतिहासिकता के कारण वे यहाँ उद्धृत किए जाते हैं।

(१) पढम[2] विरइ[3] मत्त[4] दह पच,
पअ बीअ[5] बारह ठवउ,[6]

१ पत्रिका भाग-१- पृष्ठ ३५४

२ प्रथम, ३ विरचि, ४ मात्रा, ५ दूसरा, ६ रक्खो

तीअ ठाँव दह पच जाणहु,
चारिम एग्गारहिं,
पचमे हिं दह पच माणहु,
अट्ठासट्ठा पूरवहु अग्गे दोहा देहु।
राअसेण सुपसिद्ध इअ रड्ड भणिज्जई एहु॥

(२) विसम[1] तिकल[2] सठयहु तिण्णि पाइक्क[3] करहु लइ।
अत णरिंद[4] कि विप्प[5] पढम बे मत्त अवर पइ[6]॥
समपअ[7] तिअ पाइक्क[8] सव्व लहु अत विसज्जहु।
चउ्ठा चरण विचारि एक्क लहु कट्ठिअ लिज्जसु॥
एम पच पाअ उटयण्णो कइ वत्थुणाम पिगल कुणइ।
ठवि[9] दोसहीण दोहचरण राअसेण रड्डहु भणइ॥

[प्रथम प्रकाशन नागरी प्रचारिणी पत्रिका भाग-२ अंक १, वैशाख,
स० १९७८ वि० (१९२१ ई०)]

१ विषम पदों में, २ त्रिकल ३ पैदल (चतुष्कल) ४ जगण, ५ विप्र, चार लघु
६ पद ७ उत्पन्न, ८ उठावण छद, की मात्राओं के सेतम को उत्थनिका कहते हैं।
९ रखकर



पुरानी पाण्डुलिपियाँ

पृथ्वीराजविजय महाकाव्य

हिन्दुस्तान के सबसे पिछले चक्रवर्ती राजा पृथ्वीराज चौहान के विषय में 'पृथ्वीराजविजय' नामक महाकाव्य संस्कृत में है। परलोकवासी डाक्टर जार्ज ब्यूह्लर एक बार कश्मीर में दौरा करने गये थे। तभी वे वहाँ से इस ग्रन्थ की एक प्राचीन खण्डित प्रति खरीद लाये थे। अब वह पूना के डेकन कालेज के पुस्तकालय में सुरक्षित है।

आज कल मैं, पण्डित गौरीशंकरजी ओझा के साथ, इसी काव्य का सम्पादन कर रहा हूँ। इसके कवि ने अपना नाम नहीं दिया। पहले सर्ग का आरम्भ नहीं है और बारहवें सर्ग का थोड़ा ही सा भाग मिला है। बीच के सब सर्ग हैं, पर उनमें से कई सर्ग बहुत खण्डित हैं। कितने ही पत्र आधे ही आधे रह गए हैं। पूरा काव्य आधा कितना बड़ा था यह नहीं कहा जा सकता। कवि पृथ्वीराज की सभा में सम्मानित[1] था और पृथ्वीराज को संस्कृत, प्राकृत आदि छः भाषाओं का वेत्ता लिखता है।[2] पृथ्वीराज का राज्य समय सन् ११७८-११९२ ईसवी है।

इस काव्य पर जोनराज की टीका है। जोनराज के पिता का नाम नोनराज और दादा का नाम लोलराज था। कश्मीर के सुलतान जैन-उल-आबिदीन (पण्डितों के जैनोल्लाभदीन) के समय में (सन् १४१७-१४६७) इसी जोनराज ने दूसरी राजतरंगिणी बनाई थी। इससे पहले मङ्खक-कवि[3] कृत श्रीकण्ठचरित

१ गतस्पृहोप्याद्विकवि प्रबन्ध बन्ध रामस्य भविष्योऽपि।
सम्मान्यमानस्तु नरेश्वरेण भादुककर्थं काव्यविधावुदास्ताम्॥ (प्रथम सर्ग)

२ बाल्येपि लीलाजितनारकाणि गीर्वाणवाहि युपकारकाणि।
जयन्ति सोमेश्वरनन्दनस्य षण्णां गिरां भक्तिमतो यशांसि॥ (प्रथम सर्ग)

३ मङ्खक का समय कश्मीर के राजा सुस्सल के पुत्र राजा जयसिंह का समय (११२७—११४९) है। इसका बड़ा भाई लंकक (अलंकार) जयसिंह के पिता के यहाँ सन्धिविग्रह का अधिकारी था और मङ्खक जयसिंह का धर्माधिकारी। इसी समय राजतरंगिणीकार कल्हण (कल्याण) भी था।

की टीका बनाई, फिर किरातार्जुनीय की, फिर पृथ्वीराजविजय[1] की। ऐसे विद्वान् की टीका करने से ही जान सकते हैं कि उस समय इस काव्य का कितना मान था। टीका से जान पड़ता है कि उस समय भी काव्य में पाठान्तर हो गये थे।

इस काव्य का ऐतिहासिक महत्व मैं किसी और लेख में विस्तार से दिखाऊँगा।

पहले सर्ग में पहले मंगलाचरण और खल तथा कविद्वेषी पण्डितों की निन्दा है, पीछे म्लेच्छों से पुष्कर की रक्षा के लिए ब्रह्मा ने विष्णु से प्रार्थना की है। इस पर विष्णु ने सूर्य की ओर देखा है और वहाँ से एक धनुर्धर पुरुष निकला है। दूसरे सर्ग में उसके शस्त्र, वस्त्र और प्रताप आदि का वर्णन है और उसका नाम चाहमान बताया गया है। चाहमान ने बहुत विजय किया। उसके वंश में सभी दिशा-विदिशाओं के जीतने वाले राजा हुए। उनमें से एक का नाम वासुदेव था। तीसरे सर्ग में उसकी स्तुति करने के लिए ब्रह्मा आते हैं। ब्रह्मा की स्तुति पूरी नहीं होती है कि सर्ग खण्डित हो जाता है। चौथे सर्ग में वासुदेव अपने भाई के साथ शिकार खेलने आता है। वहाँ उसे अच्छे शकुन हुए। इससे उसने वहीं पर एक महल बनाया। एक दिन दोपहर को एक विद्याधर उस महल में आकर सो गया। विद्याधर लोग मुँह में एक गुटिका रख कर जहाँ चाहे वहाँ उड़ा करते हैं। उसकी गुटिका राजा के हाथ लग गई। परन्तु राजा ने उदारतापूर्वक उसे विद्याधर को लौटा दिया। विद्याधर ने प्रसन्न होकर राजा से कहा—"मैं शाकम्भर नामक विद्याधर का पुत्र हूँ। उसने देवी को प्रसन्न किया है। देवी अपने भक्त के लिए शाकम्भरी नाम धारण करके यहाँ रहती है।[2] आप सायंकाल धरती में भाला मार कर चले जाइएगा और पीछे फिर कर न देखिएगा तो देवी के दर्शन हो जाएँगे। यही गुटिका लौटाने की कृपा के लिए मेरी तुच्छ भेंट है।" राजा ने वैसा ही किया, परन्तु अपने पीछे लहरों की हड़-हड़ाहट सुन कर उसने मुड़ कर देखा तो लवणसमुद्र भरा हुआ पाया। यही शाकम्भरी (साँभर) की उत्पत्ति है।

१ श्रीश्रीकण्ठचरित्रकाव्यविवृतौ विश्वस्य निश्वस्य च
छायाभाजि किरातकाव्यविवृतौ विश्रम्य रम्यश्रियि।
पृथ्वीराजजयाख्यकाव्यविवृतौ सर्वेशभिच्छाम्यह
शास्त्रक्षोदजखेदमेदुरमनिर्ज्योत्स्नाकरो लावणि॥
श्रीलोलराजसुतपण्डितभट्टनोनराजात्मजो विवरणन म जोनराज।
सग चकार दशम सुखमत्र पृथ्वीराजाख्यराजविजयाभिधकाव्यराजे॥ (दशम सर्ग का अन्त)

२ शाकम्भरीति च पितुमम कीर्तिहेतोर्नाम स्वय वरदया सदय तथात्तम्।
भागीरथीति हि पद सुरनिर्झरिण्या पुण्यानि शसति पृथुनि भगीरथस्य॥ (चौथा सर्ग)

पाँचवें सर्ग के आरम्भ से जान पडता है कि वासुदेव ने साँभर में अपनी राजधानी बनाई। तब से उसके वशज 'शाकम्भरीश्वर' कहलाये। फिर उसके वशज सामन्तराज से लेकर अजयदेव तक का वर्णन है। ऐतिहासिक महत्व मे यह सर्ग बहुत बढा चढा है। इसी पिछले राजा अजयदेव ने अजमेर (अजयमेरु) बसाया, जिसकी समृद्धि और सुन्दरता के वर्णन मे कवि ने सारे अलकार खर्च कर दिये हैं। अजयदेव के पीछे अर्णोराज गद्दी पर बैठा।

छठे सर्ग से जान पडता है कि अर्णोराज के समय में अजमेर पर मुसलमानो का पहला हमला हुआ। राजा ने अजमेर के द्वार पर ही उनको हराकर भगा दिया। सडक के किनारे पडी हुई लाशो को गाँव वालो ने जलाया।[1] राजा ने युद्धभूमि को शुद्ध करने के लिए एक तालाब बनाया, जो[2] 'आनासागर' के नाम से प्रसिद्ध है। फिर उसने पुष्करारण्य से निकलनेवाली इन्दु (चन्द्रा, वर्तमान लूनी) नदी से इस तालाब को[3] भरा। इस राजा ने अपने पिता के नाम पर एक बाणलिंग की प्रतिष्ठा की। मरुदेश की सुधवा नामक रानी से राजा के सत्व, रज, तम इन तीनो गुणो की तरह भिन्न स्वभाव वाले तीन पुत्र हुए, और गुजरात की काञ्चनदेवी से सोमेश्वर नामक एक पुत्र। सोमेश्वर को लडकपन ही मे उसका नाना (सिद्धराज जयसिंह सोलकी) अपने यहाँ ले गया। जयसिंह को एक ज्योतिषी ने समझाया कि तेरे दौहित्र के पुत्र के रूप मे रामचन्द्र अवतार लेंगे। उसने कहा कि लकाविजय से लौट कर रामचन्द्र ने लक्ष्मण की की हुई सेवा की बहुत प्रशसा की और कौशल्या से कहा कि मैं जन्मान्तर मे लक्ष्मण का छोटा भाई बन कर इसकी सेवा करूँगा, फिर वैराग्य लूँगा।[4] (कृष्णावतार और बुद्धावतार इसी प्रतिज्ञा का फल है)। यह सुन कर लक्ष्मण बोले—अच्छी बात है, तो मैं अन्य जन्म मे फिर भी आपकी सेवा करूँगा। उस जन्म मे कौशल्या इन दोनो की

१ दग्ध्वा स्थितान्कांश्चन राजमार्गं ग्राम्या शवान् पथ्यभयेन हुत्वा।
तुरुष्कमासस्य चिरात्प्रसन्न कव्यादमग्नि रचयाबभूव॥ (छठा सर्ग)

२ विशुद्धिहेतोरथ तस्य राजा घ्राणेन्द्रियाकस्मिकौरवस्य।
अकारयत्कीर्ति पटीपिनद्धक्षीरोदनम्न करण तटाकम्॥ (छठा सर्ग)

३ पयोभिरीशानकिरीटचन्द्रपेयूषगर्भै परिपूरितोपि।
क्षारत्वमापत्सगरात्मजानामपुण्यलेशादिव वारिराशि॥
पुष्पान्तु तस्याजपराजसूनो को वेदितु तत्त्वगतारभिज्ञ।
शाकम्भरीक्षेत्रगतोपि यस्य क्रीडासमुद्र मचिव सुधाया॥ (छठा सर्ग)

४ आशमनीय तु ममेदमस्ति यथाग्रज मामनुज सिषवे।
तथाहमस्यानुजतामुपेत्य सेवाविधानात् कृतनिष्क्रय स्याम्॥
एतस्य सेवा च चिरस्य कृत्वा भावन्विदित्वा क्षणभगिनोऽमून्।
अनेन जूटस्य भरेण खिन्न काषायधारी भवितास्मि मुण्ड॥ (छठा सर्ग)

माता कैसे बनेगी, यह समझाने के लिए ज्योतिषी चन्द्रवश का वर्णन आरम्भ करता है। चन्द्रमा के वर्णन को देखिए, ये दो श्लोक कितने सुन्दर हैं —

मयाप्यधा लोकहिताय चक्रे कृता तनुष्पोडशधा प्वयैव।
इतीव यो मूर्धनि धारणीयः परिश्रमज्ञेन महेश्वरेण॥
पक्षस्थिते दैत्यगुरौ विवाद कृत्वा सम वाक्पतिनान्वयार्थं।
य एव लेभे विजयप्रशस्ति श्रेयान्हि राज्ञ कविपक्षपात॥

चन्द्रमा, बुध, पुरूरवा, आदि के वर्णन के पीछे कार्तवीर्य का वर्णन है, जिसकी उपाधि 'कलिचुरि' कही गई है। उस वश मे साहसिक नाम का एक राजा हुआ। वह एक दिन सायकाल त्रिपुरी में पहुँचा। वहाँ श्मशान मे किसी को बलि किये जाते देख उसने उसे वीरता से छुडाया। बस, छठे सर्ग से इतनी ही बातो का पता चलता है। इस सग के अधिकाश पत्रो के नीचे का भाग नही है। बलिदान वाले विषय के आगे तो कई पत्रे बिलकुल ही नही। ज्योतिषी ने आगे शायद यह कहा होगा कि उसी के वश के राजा अचलराज की पुत्री कर्पूरदेवी ही कौशल्या है।

सातवें सर्ग का आरम्भ नही है। इसमे ज्योतिषी ने जयसिंह से कहा है कि आप शिवजी के कुम्भोदर नामक गण हैं, पार्वती के शाप से मनुष्य हुए हैं। शाप का तभी अन्त होगा जब आपको विश्वास हो जाएगा कि कलियुग मे रामावतार होगा। राजा को इस बात पर विश्वास हो गया। षडग-बल से तो वह शत्रुओ को जीतता था, अष्टाग-योग से उसने देह त्याग किया। यह राजा नि सन्तान मरा। उसका अधिकारी कुमारपाल, सोमेश्वर का अभिभावक बन कर, अपने नाम को चरितार्थ करने लगा। उधर अर्णोराज को उसके ज्येष्ठ पुत्र [जगदेव] ने मार डाला[1]। ऐसे समय मे कुमारपाल ने सोमेश्वर को अपने पास ही रखना उचित समझा। कुमारपाल की चढाई मे सोमेश्वर भी साथ था, कोकण के राजा [शिल्हारावशी मल्लिकार्जुन] का सिर उसने अपनी छुरी से काटा। सोमेश्वर का विवाह त्रिपुरी [तेवर, जिला जबलपुर] के राजा अचलराज कलिचुरि की पुत्री कर्पूरदेवी से हुआ। समय मे रानी गर्भवती[2] हुई और ज्येष्ठ को द्वादशी को, शुभमुहूर्त मे, उसके पुत्र का जन्म हुआ।

आठवें सर्ग का आरम्भ स्वर्ग तथा भूमि मे हर्षोत्सवो के वर्णन से होता है। सोमेश्वर के पुत्र का नाम पृथ्वीराज रखा गया। उसके चूडाकरण के पीछे

१ प्रथम सुधवासुतस्तदानी परिचर्या जनकस्य तामकार्षीत्।
प्रतिपाद्य जलाजलि घृणार्त विदध या भृगुनन्दनो जनया॥ (सातवा सर्ग)
२ सस्कृत के कवि गर्भिणी स्त्रियो का मिट्टी खाना नहीं भूलते। देखिए—
प्राचिरात्तव नन्दनस्य भोज्या निखिला भूरिति शृण्वती जनेभ्य।
यदसेवत मन्दयापि रुच्या मदमास्वादमिवैक्षत क्षितेस्तत्॥ (सातवा सग)

दूसरा पुत्र माघ शुक्ल तृतीया को उत्पन्न हुआ। इसका नाम हरिराज हुआ। उधर अजमेर में हत्यारे के पीछे गद्दी पर विग्रहराज (वीसलदेव) बैठ गये थे। कविबान्धव-उपाधिधारी वे विग्रहराज भी कुछ समय के उपरान्त मर गये[1]। सर्वगुण सम्पूर्ण, पितृवैरिसुत पृथ्वीभट भी अकाल ही में मर गया। विग्रहराज का पुत्र अपरगांगेय [अबुलफजल का अमरगग] भी न रहा। अब लक्ष्मी सुधवा के वश को छोडकर, जिसमे से पुरुषरूपी मोती धीरे-धीरे गिर रहे थे, सोमेश्वर को चाहने लगी। मन्त्री उसे बुला लाये। इस प्रकार कर्पूरदेवी, दान-भोग के सहित लक्ष्मी की तरह, दोनों पुत्रो को लेकर अपने श्वसुर के पिता के नगर में घुमी। सोमेश्वर ने पिता के नाम पर नगर बसाया। वैद्यनाथ का एक बड़ा भारी मन्दिर बनाया, जिसमें पिता की धातु-मूर्ति, और अपनी भी, स्थापित की। ब्रह्मा, विष्णु, शिव के भी मन्दिर बनाये, गगानक (गँगवाना) आदि में भी कई मन्दिर बना कर अमरावती की जनसख्या घटानी शुरू की। मृत्यु होने पर वह—चाहमान से पृथ्वीभट-पर्यन्त अपने पूर्वजों को स्वर्ग में देख कर और केवल पिता के हत्यारे को वहाँ न पाकर—कैलास को गया और वहाँ देखते-ही देखते शिवरूप हो गया। इस "देखते-ही-देखते" को कवि ने इस सुन्दरता से वर्णन किया है कि सस्कृत-साहित्य में उसका जोड नहीं।

नवम सर्ग से जान पडता है कि पृथ्वीराज की नाबालगी में कर्पूरदेवी ने राजकार्य चलाया। उसके नाम से एक शहर भी बसाया गया। कदम्बवास [रासौ का कयमास] उसका मन्त्री था। पृथ्वीराज का नाना, माँ का चचा, सुवर्णदानी भुवनैकमल्ल भी वहाँ आ गया था। कवि ने पृथ्वीराज के रामावतार होने पर बडा जोर दिया है। कदम्बवास को उसने हनुमान और भुवनैकमल्ल को गरुड का अवतार बताया है। उस समय की समृद्धि, सपत्ति, शान्ति, सुख का भरपूर वर्णन उसने किया है। धीरे-धीरे पृथ्वीराज युवा हो गया। भुवनैकमल्ल को राजधानी में रहने के विषय में सर्ग की समाप्ति के श्लोक से दो श्लोक पहले यह श्लोक है —

मैनाकशैलवदखण्डितपक्षपाते
पित्रन्वयाभरणताजुषि तत्र वीरे।
देवो व्यराजत कुमारविनायकाभ्या
कर्पूरदेव्यचलराजसुता सुताभ्याम्॥

दसवाँ सर्ग। विग्रहराज के पुत्र नागार्जुन ने गुडपुर के किले में मोर्चाबन्दी करके पृथ्वीराज का सामना किया। राजा अपनी सेना का स्वय नेता बन कर

१ कैलास जग्मुषो यात पश्चाद्विग्रहभूभुज ।
कविबान्धव इत्येक भूमावभरण पदम् ॥ (आठवाँ सर्ग)

गया और उसने गुडपुर घेर लिया। नागार्जुन भाग निकला, उसकी माता और स्त्री को राजा कैद कर लाया। शत्रु की सेना के मुखियों के सिर अजमेर के किले के कँगूरो पर लगा दिये। इधर पश्चिम मे गर्जन [गजनी] को जीतने वाला गोरि[1] सारे राजमण्डल के लिये ग्रहण बन कर आया। उसने अपना दूत अजयमेरगुफा के सिंह के पास भी भेजा। असख्य गौवो के वध की प्रशस्ति लिखने ही को मानो उस दूत का ललाट विशाल था, सिर गजा था, दाढी, पलकों और केशो का रग उसके देश में होने वाले अँगूरो का-सा था, सिर के बालो के साथ उसकी वर्णमाला मे से मूर्धन्यवर्ण भी उड गये थे। उसकी बोली पक्षियों की-सी थी। अपनी जन्मभूमि हिमालय वाली दिशा से लेकर उसने देह मे कुष्ठरोग के समान वह सफेदी धारण कर रखी थी जो वस्त्रो के योग्य है। चोगा उसका काले रग का था। इस रोचक वर्णन के मध्य में ही कुछ पृष्ठ उड गये हैं। दूत ने न मालूम क्या कहा। इसके आगे दशम सर्ग के अन्तिम पृष्ठ में हम पढते हैं कि गुजरात के नड्वल (नाडौल) स्थान को गोरी ने घेर रक्खा है। इस पर पृथ्वीराज ने बडा क्रोध किया।

ग्यारहवें सर्ग म कदम्बवास ने राजा को शान्त किया। वह बोला—"भला ऊँटों के खाने योग्य साँपो पर कही गरुड क्रुद्ध होता है? जैसे तिलोत्तमा के पीछे सुन्दोपसुन्द कट मरे थे वैसे ही आपके शत्रु आपस मे ही नष्ट हो जाएँगे।" इतने ही मे गुजरात से एक हलकारा आया। उसने कहा—गुर्जरो ने गोरी को बुरी तरह हरा दिया है। इस पर पृथ्वीभट[2] राजा से मन्त्री की दूरदर्शिता की प्रशसा करता है। पृथ्वीराज ने इस पर पूछा कि यह तिलोत्तमा कौन है। तब बन्दी पृथ्वीभट ने उसके रूप की प्रशसा की और कहा कि चित्रमण्डप म जहाँ आपका पूर्वजन्म का चरित चित्रित है वहाँ वह रूप मे सीता से भी उत्कृष्ट है। दूत को विदा करके राजा चित्रमण्डप म गया। इस स्थल से सर्ग के अन्त तक रामावतार के इतिहास के चित्र उसी तरह भिन्न-भिन्न छन्दो द्वारा दिखाये गये हैं जिस तरह कि उत्तररामचरित के पहले अक मे सीता को दिखाये हैं।

बारहवें सर्ग के थोडे ही से पत्रे मिले है। तिलोत्तमा-सम्बन्धी इन वर्णनों ने राजा पर बडा बुरा प्रभाव डाला। वह कामवश हो गया। राजा की यह दशा देख कर बन्दी पृथ्वीभट अपनी करनी पर पछताने लगा। राजा को किसी तरह समझा बुझा कर उसने उसम आह्निक कार्य कराया। चिन्तामग्न अवस्था मे पृथ्वीभट ज्योंही महल से निकला त्योंही किसी पण्डित ने यह श्लोक पढा :

१ कदशतकुशलो गवामरित्वा समदितगौरिपदापदेशमुद्र । (दसवा सर्ग)

२ निशम्य दुयशोमालसँय हयपतिं गतम् ।
विज्ञापयितुमारेभे पार्थिवं पृथिवीभट ॥ (ग्यारहवाँ सर्ग)

सलिलादपि निर्ययौ रसा धरणेरप्युदयादि मैथिली ।
दहनादपि याज्ञसेनिका किमलभ्यं पुरुषार्थशालिनाम् ॥

पानी से जमीन निकली, जमीन से सीता निकली, आग से द्रौपदी निकली—भला पुरुषार्थियों को क्या नहीं मिल सकता ?

इन आशागर्भ वचनों को सुन कर पृथ्वीभट चौंक पडा। उसने विग्रहराज के मन्त्री पद्मनाभ को बुला कर पूछा कि इस श्लोक का कर्ता और पढने वाला कौन है और यह परदेशी कवि कौन बैठा है जिसकी भारी पगडी ने केशों को ढक लिया है ?[1] इन तीनों प्रश्नों का एक ही उत्तर मिला कि "काश्मीरक कवि जयानक।" इसके बाद छ भाषाओं में निपुण, कवि जयानक, अपने देश छोडने का कारण कहने लगा।

इस कुस्थान पर यह महाकाव्य खण्डित हो जाता है। महाकवियों की रीति के अनुसार किसी तिलोत्तमा का अवतार मानी गई राजकुमारी से राजा का विवाह कराया जाता। फिर ऋतुवर्णन, सन्ध्यावर्णन, चन्द्रोदयवर्णन, पानगोष्ठी-वर्णन प्रभातवर्णन आदि होते। जिस विजय पर इस काव्य का नाम पृथ्वीराज-विजय रक्खा है और जिसके कारण ही पृथ्वीराज को रामावतार सिद्ध किया गया है वह विजय अवश्य ही सन् ११९१ का तिरौरी वाला विजय है। उसी में भारतेश्वर ने शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी को बुरी तरह हराया और कैद करके छोड दिया था। उसका वर्णन इस काव्य के अन्तिम सर्ग में अवश्य ही होता। वह सब काल के गाल में लीन हो गया।

जो श्लोक स्थान स्थान पर उद्धृत किये गये हैं उनसे संस्कृतज्ञ पाठकों को इस काव्य के कर्ता सरस्वती के सच्चे उपासक, के उत्कर्ष का ज्ञान अवश्य ही हो गया होगा। हिन्दी के मासिक पत्र में इससे अधिक अवतरण नहीं दिये जा सकते। इसकी कविता बडी अद्भुत, सरस और भावमय है। प्रथम सर्ग में, पुष्कर की कुदशा का वर्णन रघुवंश के सत्रहवें सर्ग में अयोध्या के उजडने के वर्णन की टक्कर का है। सोमेश्वर के शिवमय होने का वर्णन भी अतुलनीय है। दुःख की बात है कि ऐसे अद्भुत काव्य की इतनी खण्डित और इतनी अशुद्ध एक ही प्रति प्राप्त हो सकी। इसमें स्थान स्थान पर श्लोक, पंक्तियाँ, पत्रार्ध, पत्र, अक्षर खो गये हैं। टीका भी मल्लिनाथी नहीं है, जिससे नष्ट शब्द अनुमान से रक्खे जा सकें। जोनराज ने बुढ़ापे में इसकी टीका की है। मूल के पुनरुद्धार में उससे बहुत कम सहायता मिलती है।

इसका कर्ता कवि बहुत करके कश्मीरी था। इस पर जोनराज की टीका का होना और इसकी एक ही प्रति कश्मीर में मिलना, इस अनुमान की पुष्टि

१ कतमस्त्र विपश्चिदेष यो निविडोष्णीषदुरीक्ष्यकुन्तलः ? (बारहवाँ सर्ग)

करते हैं काव्य की शैली इस बात का आभ्यन्तर प्रमाण है। कहीं-कहीं विल्हण[1] और मखक[2] के काव्य की छाया भी इसमें है। ऊँटों को कवि बड़ी घृणा की दृष्टि से देखता है[3]। ऊँट राजपूताने की सेना में थे, इसलिए उनका वर्णन उसे करना ही पड़ा था[4]। गोरी के एलची का ऐसा वर्णन पड़ोसी कश्मीरी ही कर सकता था, और प्रान्तों के लोग तो उस समय मुसलमानों से अधिक परिचित न थे। अजमेर के कृष्ण आदि राजपण्डितों ने उस परदेशी को बहुत सताया, केवल विश्वरूप नामक एक पण्डित उसका सहायक था[5] सूखे पण्डितों पर कवि ने खूब बौछारें की हैं[6]।

१ पृथ्वीराजविजय—
(१) शाकम्भरीप्रदेशे यदुदगुस्तस्य कीर्तय ।
यतो नोद्वेगमाजग्मु पुलिने लवणोदधे ॥ (पाँचवाँ सर्ग)
(२) तस्य धात्रीकुचाज्जातु कुंकुम वदन विशत् ।
गाढ्ना शारदादेशानुराग हृदयेऽजयत् ॥ (आठवाँ सर्ग)
विक्रमाङ्कदेवचरित—
(१) द्वीपेषु कर्पूरपरागपाण्डुष्वासाद्य लीलापरिवर्तनानि ।
श्रान्त्या तुषाराद्रितटे लुठन्त कीर्तेन खिन्नास्तुरगा यदीया ॥ (१।६७)
(२) सहोदरा कुंकुमकेसराणा भवन्ति नून कवितविलासा ।
न शारदादेशमपास्य दृष्टस्तेषा यदन्यत्र मया प्ररोह ॥ (१।२१)
२ पृथ्वीराजविजय—
(१) पराङ्मुखी यत्पृतना प्रपेदे जनगमाभमनुभिवियोगम् ।
शरीरवाणा सवसत्वकान्तो भाग्यानि वा भास्करमण्डलस्य ॥ (छठा सर्ग)
(२) प्राणाग्निहोत्रीकृतकालकामपुरस्तथाकथाहुतिरन्त्यकस्य ॥ (छठा सर्ग)
श्रीकण्ठचरित—
(१) निःसरत्सु दनुजेषु सपते सपतेद्धकबन्धेषु भूमिषु ।
भाविनी भुवनति रविविष्टपे मज्यते स्म तनयो विवस्वत ॥ (२२।२१)
(२) प्राणाग्निहोत्रक्रममन्वतिष्ठत् ॥ (६।५२)
३ नित्यानिमेषममनस्वमयविपाक दुष्कर्मणा करभदर्शनतो विदित्वा ।
पाणौ विधानवदवीमुपनीय काश्चिद्द्रष्टु नरेन्द्रमपिनापुररम्यदेश्य ॥ (चौथा सर्ग)
टीका—उष्ट्रोऽदर्शनीय इति प्रसिद्धि ॥
४ (१) वैवस्वतायुधभुजगमसह्यमान
नि श्रोत्रतानधिगतोष्ट्रचमूनिनाद ॥ (दूसरा सर्ग)
(२) प्रतिभरसहनप्रवृद्धवीनिद्रियमिव शेषमहीशमव मत्वा ।
प्रहिकवलनकेलि कोविद तत्र रभकुल हयसथ मन्वयामीत् ॥ इत्यादि । (दसवाँ सर्ग)
५ दृष्ट्वा यत्र कृष्णमुख्यैर्मुग्धार्यैरसूयया कि विबुधैर्विधेयम् ।
यो विश्वरूपो विबुधेषु धर्यस्स एव हेतुर्हि कविप्रथाया ॥ (पहला सर्ग)
टीका—कृष्णनामा आजयमेरव पण्डित आजयमेरवो य पण्डितो विश्वरूपनामा ।
६ (१) न पण्डिताना कविरित्यसाध्य कर्णोऽकरोय यदि शाश्वत स्यात् ।
स्युरेव विद्यामधिकृत्य दुन तन्मोक्षलक्ष्मीपरिरम्भयोग्य ॥ (पहला सर्ग)
(२) मात्सर्यगर्वोत्कटसूरिमर्मव्याजिह्मवाचापलदूषिताऽपि ।
कवीन्द्रवाक्चन्दनकन्दलीय स्वाभाविक कुञ्चति नाधिवासम् ॥ (पहला सर्ग)

जयसिंहप्रकाश

(रघुवंश का हिन्दी-कविता मे एक पुराना अनुवाद)

कुछ वर्ष हुए मुझे जयपुर मे गलता (गालवाश्रम) की गद्दी के आचार्यजी के पुस्तकालय मे कालिदास महाकवि के बनाये हुए प्रसिद्ध रघुवश महाकाव्य का एक हिन्दी पद्यबद्ध अनुवाद मिला जिसका नाम 'जयसिंहप्रकाश' है। मैने इस पुस्तक की नोटिस काशी नागरी-प्रचारिणी सभा को करदी थी और सभा ने मेरी पुस्तक से इस काव्य की प्रतिलिपि भी करवा ली। कदाचित् सभा उसे कभी छापे। आज इस लेख के द्वारा हिन्दी के प्रेमियों का उस पुस्तक से परिचय कराये देता हूँ।

पुस्तक गुटके के ढँग की है, खुले पत्रो की नही। ऊपर लाल मखमल की जिल्द बधी हुई है। पत्र पतले, चिकने, मैले काश्मीरी के समान कागज के २५८ हैं और दोनो ओर लिखे हुए हैं। प्रत्येक पृष्ठ ६ २/३ इंच चौडा और ८ १/२ इंच लम्बा है। प्रति पृष्ठ मे पंक्ति १४ और प्रति पंक्ति मे प्रायः १६ अक्षर हैं। लिखावट लाख की काली स्याही की है, अंक और विराम-चिह्न, छन्दों के नाम और 'उवाच' और प्रत्येक उल्लास के अन्त की 'इतिश्री' लाल स्याही से लिखे हुए हैं। लिखावट के चौतरफा लाल रेखायें हैं और उनके आगे प्राय एक इंच से कुछ अधिक का हाशिया छूटा हुआ है जिसे पुराने समय मे 'आयु' कहा करते थे, क्योंकि जितनी यह आयु बडी होती उतनी ही पुस्तक की आयु—कीडे आदि के आक्रमणो से—बचती थी। बाईं ओर के पृष्ठ की बाईं आयु में ऊपर के कोने पर पत्रांक हैं जिन पर 'र भा' लिखा हुआ है जिससे इस पुस्तक का नाम रघुवंश भाषा जान पडता है।

पुस्तक का आरम्भ इस प्रकार होता है—

श्री गणेशाय नमः। ॐ।

बचन अरथ ज्यों मिलि रहे, बचन अरथ निति आय।
पारबती परमेस्वरं, बन्दौं जग मा बाप॥ १॥

पाई कुंसुम जयसिंह को, जु हैं सवाई नाम।
भाषा रघु मे करत हो, सुकवि आतमाराम॥ २॥
सूरज तें लै ह्यातकें, बसु बरनिहौं तास।
नाउ धर्यो या ग्रन्थ को, तौ जयसिंहप्रकास॥ ३॥
कितै बसु रवि तें भयो, कित मेरी मति छुद्र।
तिन पूरा लै मोहतें, दुस्तर तिरत समुद्र॥ ४॥

इसमे पहला और चौथा दोहा क्रमश रघुवश के पहले और दूसरे श्लोक का अनुवाद है, बीच के दोनो दोहे कवि ने अपने वर्णन के जोड दिये हैं।

मूल के एक श्लोक का अनुवाद कवि ने नियम से एक ही छन्द मे किया है। कही एक आध छन्द बढाया है। अवश्य ही छन्द कई प्रकार के काम मे लिये हैं, एक सर्ग मे एक ही छन्द रहे यह संस्कृतकवियो की-सी पाबन्दी नही रक्खी गई। दोहा, सोरठा, कवित्त, चर्चरी, वृतानन्द, हिंडोलना, लीलावती, छप्पै, घनाक्षरी बरयुवा, प्लवगम, बरवै, हाकलि, पादाकुलिक, तोटक, पटहली, करिणी—ये कुछ छन्दो के नाम यो ही देख कर लिखे जाते हैं। मूल के सर्ग की जगह उल्लास रक्खा गया है। जहाँ किसी का वाक्य आरम्भ होता है वहाँ 'धेनु के वचन राजा सो' 'हरिणी उवाच' आदि भी कही-कही लगा दिया है, पर बहुत थोडे स्थानो पर। नीचे की सारणी से सर्ग और उल्लासो का सम्बन्ध जान पडेगा—

रघुवश[2]		जयसिंह प्रकाश	
सर्ग	श्लोक सख्या	उल्लास नाम	छन्द सख्या
१ वसिप्ठाश्रमगमन ··· ···	९५	वसिप्ठाममाजिगमनो० ···	९२
२ नन्दिनी-वर-प्रदान ··· ··	७५	नंदिनीवरप्रदानो० ···	७५
३ रघुराज्याभिषेक ··· ···	७०	पुत्रोत्पत्ति ··· ···	७२
४ रघुदिग्विजय ··· ···	८८	रघुदिग्विजय ···	९१
५ अजस्वयवराभिगमन··· ···	७६	स्वयवराभिगमन ···	७९
६ स्वयवरवर्णन ··· ···	८६	स्वयवरवर्णन ···	८५
७ अजपाणिग्रहण ··· ···	७१	इदुमती पाणि ग्रहण ···	७२
८ अजविलाप ··· ···	९५	अजविलाप ··· ···	१००
९ मृगयावर्णन ··· ···	८२	मृगयावर्णन ···	८७
१० रामावतार ·· ···	८६	रामोत्पत्ति ··· ···	७३
११ सीताविवाहवर्णन ··· ···	९३	भार्गव रामजय ···	९४

१ इसके पहले शोधक की कलम ने 'हु' लिखा है। 'हुकुम' चाहिए। 'मु' शोधक ने मिटाया नहीं।

२ सर्गों के नाम और श्लोको की सख्या जीवानन्द विद्यासागर के सस्करण (सन् १८८०) [illegible] ली गई है।

१२ रावणवध	··· ··· १०४	रावणवध ···	··· ६८
१३ दण्डका-प्रत्यागमन	··· ··· ७६	भरतसगम	··· ८६
१४ सीता-परित्याग	··· ··· ८७	सीतापरित्याग	··· ८८
१५ श्रीरामस्वर्गारोहण	··· · · १०३	स्वर्गगमन ···	··· १०६
१६ कुमुद्वती-परिणय	··· ··· ८७	विभीषण प्राप्ति	··· ८५
१७ अतिथि-वर्णन	··· ··· ८१	अतिथि-वर्णन	··· ८०
१८ वशानुक्रम	··· · · ५३	वशानुवर्णन	··· ५४
१९ अग्निवर्ण-शृगार	··· ··· ५७	राज्ञीराज्याभिषेक	··· ५६

पुस्तक का अन्त इस तरह पर है—

सोरठा

जो वह प्रजनि समाज, पुत्र हौस राखें हिए।
तासु भूति के काज, रानी गरभु धर्यो सबै ॥
महि ज्यो बीज समेति, बैठी सिंहास (न) सबै।
सिखें राज विधि सेति, मूल वृद्ध मन्त्री सहित ॥
फिरि भाखत हैं तासु, रीति यहै कोविद सकल।
अगिनि बरन सम जासु, फैलि रह्यो वसुधा हुकम ॥ ५६

इति श्रीमन्महाराजाधिराज सवाई जैसिहजी निदेसात आत्माराम-कृतौ जैसिहप्रकासे राज्ञी राज्याभिषेको नाम एकोनविंसतिकोल्लासः[1] ॥ २१ ॥ **शुभ ॥ शुभमस्तु लेखक पा ॥ २२ ॥ ठकयो ॥**

(नीचे हरिताल की रेखा देकर दूसरे हस्ताक्षरो म)

सत्रह सै यकहत्तरा, दसराहौ गुरुवार।
राम कियो उज्जेनि मैं, कै रघुवस विचार ॥

पुस्तक के लिपिकार ने अपना नाम नही लिखा। र के सयोग, एकार आदि अक्षरो की लिखावट से यह सम्भव जान पडता है कि वह कश्मीरी हो।

ग्रन्थकार का नाम आत्माराम कवि है और कविता मे उसने अपना नाम (तखल्लुस) 'राम' रक्खा है। यह जयपुर के महाराजा सवाई जयसिंह जी (दूसरे) के आश्रित था और उनकी आज्ञा से (निदेशात्) उसने यह काव्य बनाया। पुस्तक स्थान-स्थान पर हरताल से शोधी गई है, जो अक्षर कही-कही छूट गये है वे फिर लिख दिये गये है, जो पक्तियाँ लेखक ने भूल से दो वार लिखी हैं वे हरताल से मार दी गई है। या ही जो पक्तियाँ—एक जगह समूचा छन्द—छूट गई हैं वे आयु पर लिख दी गई है। और जिस हस्त ने ये टूटक लिखी हैं उसी हस्त ने अन्त का समयवाला दोहा लिखा है। यही नही, एक जगह एक छन्द को बदलकर

१ इसी ढग की इवारत प्रत्येक उल्लास के अन्त में है।

दूसरा पाठ (और यह कहना चाहिए कि सुधरा हुआ पाठ) भी उन्हीं हस्ताक्षरों में लिखा है।

त कर्णमूलमागत्य रामे श्रीर्न्यस्यतामिति।
कैकयी शङ्कयेवाह पलितच्छद्मना जरा॥

(रघुवश १२।२)

इसका अनुवाद यथास्थान यह लिखा हुआ है—

राजु राम को देहु, कानमूल मे आइ नृप।
जरा कहति मनु एहु, कैकेई की सक तैं॥ २॥

(पत्र १६२)

और आयु पर, उसी मनुष्य ने जिसने अन्त का दोहा लिखा है यह दूसरा अनुवाद लिखा है—

सेत केस मिसि है जरा, करन मूल नृप आइ।
राम राजु दै कहति मनु, कैकेई डर पाइ॥

यह स्पष्ट है कि यह अनुवाद पहले सोरठे से अच्छा है। अब यदि यह मानें कि किसी 'राम' ने 'उज्जैन' मे रघुवश का विचार किया अर्थात् पहले की लिखी पुस्तक को सुधारा तो यह प्रश्न उठता है कि उसे क्या पड़ी थी कि ग्रन्थकार के पाठों को सुधारे और नये छन्द बनाकर रक्खे? इसलिए यही ठीक जँचता है कि सशोधन और पाठान्तर स्वय आत्माराम कवि ने अपने हाथों किये हैं और सवत् १७७१ के दशहरा (आश्विन शुक्ल १०) गुरुवार को यह कवि उज्जयनी म विद्यमान था। इससे यह तिथि यदि इस अनुवाद के पूर्ण होने की नहीं है तो 'विचार' (आवृत्ति=सशोधन) की अवश्य है।

महाराजा सवाई जयसिंहजी के विषय मे अधिक कहने की आवश्यकता नहीं।[1] सवत् १७५६ म ये आमेर (ढूढाड) की गद्दी पर बैठे जिस समय इनकी अवस्था ११ वर्ष की थी और सवत् १८०० मे इनका स्वर्गवास हो गया। फर्रुखसियर बादशाह ने, अपने पूर्वज जहाँदारशाह की तजवीज को बहाल रख के इन्हें मालवे का सूबेदार बनाया (सवत् १७६९?) 'उज्जैन पहुँचने पर निश्चय हुआ कि रुहेल ने मालवा मे बहुत उपद्रव मचा रक्खे हैं तुरन्त उन पर चढ़ाई की। उमदनी और भिलसा नामी स्थानों पर दो बड़ी लड़ाइयाँ हुईं जिनमे से भिलसा के खेत रुहिलों का सरदार दलेलखाँ मारा गया तब वे लोग निराश होकर मालवा से निकल गये। इन लड़ाइयों से लौटते समय सागरपुर नामी नगर मे[2] नदी के

१ स्वर्गीय रामनाथ रत्नूजी के इतिहास राजस्थान से।
२ सिप्रा?

तट पर जयसिंहजी ने यज्ञोपवीत[1] लिया और जगन्नाथजी जोशी ने गायत्री मन्त्र का उपदेश किया। रहेलों का बखेड़ा मिटे पीछे मालवा में जयसिंहजी के अधिकार में किसी प्रकार का क्लेश न हुआ। हाँ, एक बार मरहठों की सेना चौथ माँगती हुई नर्मदा के पार उतर आई थी परन्तु पीछे हटा दी गई। दिल्ली में बादशाह फर्रुखसियर को जब सैयद अब्दुल्लाह और हसन अली के पक्ष का बहुत भय हुआ तब उसने जयसिंहजी को दिल्ली बुला लिया"। यह सवत् १७७४ के पहले हुआ जब कि "फर्रुखसियर ने अपने दरबार के कई लोगों को मिलाकर सैयद अब्दुल्लाह को मारना चाहा उस मिलावट में चिनकिलीजखाँ जयसिंहजी और सर बुलन्दखाँ मुख्य थे।"

एक दफा फिर भी महाराज सवाई जयसिंहजी मालवे के सूबेदार हुए थे, जैसा कि स्वर्गवासी रत्नूजी अपने इतिहास के पृष्ठ ११५ में लिखते हैं—"सवत् १७८६ में दक्षिण में मरहठों ने बहुत सिर उठाया और नर्मदा के पार होकर उत्तर को बढ़े और मालवा के सूबेदार मुहम्मदखाँ से न दबे तो बादशाह मुहम्मदशाह ने जयसिंहजी को मालवा का सूबेदार नियत किया। जयसिंहजी ने मालवा में पहुँच कर दो वर्ष तक मरहठों का सामना किया परन्तु जब देखा कि मरहठे बढ़ते चले आते हैं और दिल्ली से सहायता के लिए सेना कुछ भी नहीं आती तब बादशाह मुहम्मदशाह से लिखा-पढ़ी करके सवत् १७९१ में मालवा का सूबा मरहठों के सेनापति बाजीराव को दिलाकर[2] आप जयपुर चले आये और

१ जगन्नाथ ज्योतिषी जगन्नाथ सम्राट् थे जिनके वश में जयपुर के राजगुरु सम्राट् जी हैं। जगन्नाथ सम्राट् ने सम्राट्सिद्धान्त नामक ज्योतिष ग्रन्थ बनाया, रेखागणित का सस्कृत-अनुवाद किया और ज्योतिष वेधशालाएँ बनाने और अश्वमेध यज्ञ करने में वे जयसिंहजी के दक्षिण हस्त थे। जयसिंहजी का यज्ञोपवीत इतने विलम्ब से होना विचित्र है, सम्भव है कि सम्राट जगन्नाथ ने कोई दीक्षा दी हो। इन्हें गगालहरी के कर्ता प्रसिद्ध पण्डितराज जगन्नाथ त्रिशूली से जो शाहजहाँ के समसामयिक थे, मिलाना भूल है।

२ सुनते हैं पेशवा ने महाराज सवाई जयसिंहजी को यह खरीता भेजा था—

पीत्वा गर्जन्त्यपस्ते दिशि दिशि जलदास्त्व शरण्या गिरीणां,
सुत्रामत्रासभाजा, त्रिदशविटपिना जन्मभूमिस्त्वमेव।
ऐश्वर्यं यत्त्व यादृक् त्वयि सलिलनिधे किन्तु विज्ञाप्यमेतत्,
सर्वोपायेन मैत्रावरुणिमुनिकृपादृष्टय प्रार्थनीया॥

अर्थात् 'हे समुद्र! सब दिशाओं में मेघ तुम्हारा जल पीकर गरजते हैं, इन्द्र से (पक्ष कटने के भय से) डरे पर्वतों का शरण भी तू ही है, कल्पवृक्षों की जन्मभूमि भी तू ही है, और तुझमें ऐश्वर्य भी जितना कुछ है (वह कहना जरूरी नहीं) परन्तु, प्रार्थना यह है कि सब उपायों से अगस्त्य मुनि की कृपादृष्टि चाहते रहिए"। इसमें चमत्कार यह है कि सवाई जयसिंहजी का समुद्र की अन्योक्ति से बढ़ाता हुआ ब्राह्मण दक्षिणी पेशवा अपने को दक्षिण दिशा के पति अगस्त्य ऋषि से मिलाता है जो समुद्र को पी गए थे। इसके उत्तर में सवाई महाराज का यह उत्तर गया—

फिर अपने घर कार्यों मे तत्पर हुए।"

अतएव यदि यह ग्रन्थ पहली सूबेदारी के समय मे बना है (सवत् १७६९—१७७४) तो ऊपर लिखे दोहे के सवत् "सतरह से यवहत्तरा" और 'उज्जैनि' का समन्वय हो जाता है। तुष्यतु न्याय से यदि यह दोहा प्रमाण न माना जाय तो भी आत्माराम कवि सवत् १७५६—१८०० के बीच मे हुए।

सवाई भूपाल की कीर्ति इतिहास मे कई प्रकार की है। अपने समय मे जैसे लोकोत्तर कार्य उन्होने किये वैसे किसी और ने नही। कही अश्वमेध और वाजपेय यज्ञ होता है, कही धर्मशास्त्र का जयसिंह कल्पद्रुम लिखवाया जा रहा है, कही लाटिन और अरबी से गणित के ग्रन्थों का अनुवाद कराया जाता है, कही 'जीच मुहम्मदशाही' सारिणी बनाकर पुर्तगाल के ज्योतिषियो की गलतियां सुधारी जाती है, कही पांच-पांच वेधशालायें बनाकर उलुगबेग समरकन्दी और अरब ज्योतिषियो के यन्त्रो के दोष मिटाये जाते है, कही भूषण कवि के शब्दो मे 'दिल्ली की ढाल' बनकर विरोधियो का मुंह तोडते समय फटे आसमान मे थेगली लगाई जाती है और कही 'दिल्ली दाहनहार' बनकर छोटे आमेर राज्य की सीमायें बढाकर राजपूताने का सबसे समृद्ध राज्य सवाई जयपुर स्थापन किया जा रहा है, कही एक सूत से नापकर ज्यामिति के क्षेत्र का-सा नगर बसाया जाता है जिसके जोड के नगर अमेरिका मे डेढ सौ वर्ष पीछे बसने लगे, कही राजपूतो के विवाह आदि की कुरीतियो और अपव्ययो के मिटाने के नियम बनाये जा रहे हैं और यो कर्नल वाल्टर की वाल्टर कृत राजपुत्रहितकारिणी सभा के उद्देश्यों को उससे पौने दो सौ वर्ष पहले पूरा किया जा रहा है।[1]

सतव्यो द्विजजातित परिभवोऽप्येतद्वच पालनात
पीत कुम्भसमुद्भवेन मुनिना किं जातमेतावता ?
मर्यादां यदि लङ्घयेद्विधिवशात तस्मिन् क्षणे वारिधि-
स्त्रैलोक्य सचराचर ग्रसति वै कस्तत्र कुम्भोद्भव ?

'ब्राह्मण जाति से अपमान भी सहना चाहिए इस वचन का पालने वाले समुद्र को यदि घडे से पैदा होनवाला (अगस्त्य) ऋषि पी गया तो इससे क्या हुआ ? यदि कभी वह अपनी मर्यादा को उलांघ जाए तो स्थावर-जगम सहित तीनो लोका को ग्रस जाय, बिचारे घडे से जन्मे हुए की गिनती ही क्या ?

परन्तु कुछ समय पीछे जयसिंहजी ने मरहठा को मालवा देने की आज्ञा बादशाह से लेकर स्वयं सिप्रा नदी में स्नान करके ब्राह्मण बाजीराव पेशवा को मालवा का भूमि-दान सकल्प कर दिया।

1 सवाई जयसिंहजी का विशेष वर्णन पढ़ना हो तो The Jaipur observatory and Its Builder, by Lieut A ff Garrett, R. E, assisted by Pandit Chandradhar Guleri, Pioneer Press, Allahabad, 1902. मे मिल सकता है जो Superintending Engineer, Jaipur State से मोल मिल सकती है

अव यहाँ पर कुछ अवतरण दिये जाते हैं जिससे आत्माराम कवि की शक्ति का ज्ञान हो जाय और पाठक जान सकें कि उसने महाकवि कालिदास की उक्तियो की मान-रक्षा कहाँ तक की है। पहले मूल श्लोक दिये जाते हैं और पीछे 'जयसिंहप्रकाश' के अनुवाद। इनको लिखने मे पदच्छेद और आजकल की लिखावट के अनुरूप परिवर्तन कर दिये गये है। और पहले तीन चार अवतरणो के साथ तुलना के लिए लाला सीताराम बी० ए०—अवधवासी 'भूप' उपनाम—का अनुवाद भी उद्धृत किया जाता है।

आस्वादवद्भि कवलैस्तृणाना कण्डूयनैर्दंशनिवारणैश्च।
अव्याहतैं स्वैरगतैं स तस्या सम्राट् समाराधनतत्परोऽभूत् ॥ (२।५)

सहित सवाद जे हैं तिनन के अगरास,
ग्याइ करि करि ते वे आगे भरिबो करै।
'रामु कवि' कहे ताको अग सहरावत रहत,
फेरि हेरि हेरि डास हरिबो करै॥
चल्यो चाहे तहाँ ताही ओर को चलति कहूँ,
रोके न अखडित यों गति धरिबो करै।
भूपति दिलीप सोई दिन दिन ऐसी भाँति,
नदिनी गऊ की नीकें सेवा करिबो करै॥ (२।५)[1]

स न्यस्तचिह्नामपि राजलक्ष्मी तेजोविशेषानुमिता दधान।
आसीदनाविष्कृतदानराजिरन्तर्मदावस्थ इव द्विपेन्द्र ॥ (२।७)

तजे प्रसिद्ध चिह्न राजलक्षि भूप सो धरें।
लई सु जानि तेज की विशेषता चितै परें॥
मनो मतग इन्द्र चित्त मत्तभाउ है सही।
प्रगट्ट दानतोय पाँति ऊपरै नहीं गही॥ (२।७)[2]

स पल्वलोत्तीर्णवराहयूथान्यावासवृक्षोन्मुखबर्हिणानि।
ययौ मृगाध्यासितशाद्वलानि श्यामायमानानि वनानि पश्यन्॥
(२।१७)

तुच्छ तालनि तें भजे उठि सकल सूकर जोर।
वास के तरु ताकि तिनके सौंह आवत मोर॥

१ कबहुँक मृदु तृन नोचि खिलावत। हाँकि माँछि कहूँ तनहि खुजावत॥
जो दिसि चलत चलत सोई राहा। यहि विधि तेहि सेवत नरनाहा॥
२ राजचिह्न यदपि सब त्यागे। तऊँ तेजवस नृप सोई लागे॥
छिपे दानरेखा के सगा। होत मनहुँ मदमत्त मतगा॥

एन बैठि रहे तहाँ जित हरित हैं तिन गात।
स्याम कानन हेत माँहीं लखत भो नृप जात॥
(२।१७)[1]

स निविश्य यथाकाम तटेष्वालीनचन्दनौ।
स्तनाविव दिशस्तस्या शैलौ मलयदर्दुरौ॥
असह्यविक्रमः सह्यं दूरान्मुक्तमुदन्वता।
नितम्बमिव मेदिन्या स्रस्तांशुकमलंघयत्॥
(४।५१।५२)

इच्छा भरि करि वास मलयदर्दुर पहार तहँ।
जामि रहे जिन तटनि दिग्ध चंदन बरसत जहँ॥
ताही दिसा उरोज तिन्हें कहि य स गिरि दोऊ।
या विधिसो विक्रम असह्य राजा रघु सोऊ॥
त्यजियउ दूर जो सिंधु तें अंसुक जाको सिथिल इमि।
लंघियउ सह्य परवत तबहिं वसुधा मनहुँ नितंब जिमि॥
(४।५४)

निद्रावशेन भवताप्यनवेक्ष्यमाणा
पर्युत्सुकत्वमबला निशि खण्डितेव।
लक्ष्मीविनोदयति येन दिगन्तलम्बी
सोऽपि त्वदाननरुचिं विजहाति चन्द्र॥
(५।६७)

नींद के निहारि बस तुम्हें ओर आपनी,
लख्यो न अनुराग तातें मानि दुख दद ऊ।
रजनी में खंडिता बधू लौं ह्वै धरी कं'लछि,
जासों जाइ मिली लह्यो आनंद को कंद ऊ।
'राम कवि' कहैं जो दिगतनि मे लबित हो,
कोन जाहि बार बार करत पसंद ऊ।
तेज के तुमार एहो रघु के कुमार कांति,
बदन तिहारे की तजत वह चन्द ऊ॥ (५।७०)

दृष्टापि सा ह्रीविजिता न साक्षाद् वाग्भि सखीनां प्रियमभ्यनन्दत्।
स्थली नवाम्भः पृषताभिवृष्टा समुद्रकेकाभिरिवाभ्रवृन्दम्॥

१ जल सन उठत वराह-समूहा। चलत रुख दिसि नभचर जूहा॥
हरी घास जहँ बैठ कुरंगा। चल्यो लखन सोई सौरभि संगा॥

करति बड़ाई नाह की सखी वचन ह्वै वाम।
आपु करि करि सकति नाहिने साजवती अभिराम॥
साजवती अभिराम राम आनंदित जो है।
ज्यों सिंचित बनभूमि नए जल बुंदनि सोहै॥
ज्यों सिंचित बनभूमि जितै केका सरसाई।
तिनहो सो निजनाह मेघ की करत बढ़ाई॥ (७।७०)

अथ भूमिपति शशाप

हस्तार्पितैर्नयनवारिभिरेव वृद्ध ॥
दिष्टान्तमाप्स्यति भवानपि पुत्रशोका
दन्ते वयस्यहमिवेति तमुक्तवन्तम्।
आक्रान्तपूर्वमिव मुक्तविषं भुजगम्
प्रावाच कोशलपतिः प्रथमापराद्धः॥
शापोऽप्यदृष्टतनयाननपद्मशोभे
सानुग्रहो भगवता मयि पातितोऽयम्।
कृष्यां दहन्नपि खलु क्षितिमिन्धनेद्धो
बीजप्ररोहजननीं ज्वलनः करोति॥
इत्थं गते गतघृण किमयं विधत्तां
वध्यस्तव? (९।७९—८१)

• पिता फिरि नैन नीर कर लीनो।
ताही समैं सराप भूपति को या विधि सों कहि दीनो॥
वृद्ध अवस्था मे भूपति हो तुमहूँ हमरी नाईं।
भाप्यो पुत्रसोक ते पैहौं भाग नास को ताईं॥
दाबैं पूंछ, तज्यो है विष को, वृद्ध मनो विषधर है।
ताके अन्त प्रथम अपराधी कहत कोसला वर है॥

एहो मुनिराज भगवान के सरूप तुम,
दियो मोको सापु सोई करी कृपा अति है।
देखी है न बालक बदन मुख सोभा तातें,
जानियत ह्वै है अब ताको उतपति है॥
'राम कवि' कहै यह उचित अरथ आगि,
इंधन समृद्ध खेत जारति जरति है।
पीछे निहचै करि दहन ताही बसुधा मे,
बीज की अंकुर अधिकाई को करति है॥

ऐसो भाँति आइ ताही मुनि के समीप
बोल्यो भूप दसरथ जाके लाज है नहीं जिये।
बंधुआ हो रावरो अरज याते करत हों
होइ कछु आयसु जो सोई अब कीजिए॥
(१४।८३—८६)

पित्रा दत्ता रुदन् राम प्राङ्महीं प्रत्यपद्यत।
पश्चाद्वनाय गच्छेति तदाज्ञा मुदितोऽग्रहीत्॥
दधतो मंगलक्षौमे वसानस्य च वल्कले।
ददृशुर्विस्मितास्तस्य मुखरागं समं जना॥ (१२।७—८)

दसरत्थ भूमि पहिलें जु दीनि।
करि अस्रुपात सुत राम लीनि॥
फिरि कह्यउ जबहि बनवास जाहु।
उठि सिद्ध भयउ हँसि महाबाहु॥
पहिले जिन मंगल चीर धरे।
फिरि है बन को बकला पहिरे।
तिनको मुखराग समान लखें।
जन वे बिसमै-जुत जासु चखें॥ (१२।७=८)

सा तामवस्था प्रतिपद्यमान स्थित दशव्याप्य दिशो महिम्ना।
विष्णोरिवास्यानवधारणीयमीदृक्तया रूपमियत्तया वा (१३।५)

त्यह त्यह अवस्थ को जु है पत्त (?)
गुन व्यापि दिसन थिरता करत्त।
मह समुद रूप हरि की समान
एतो अरु ऐसो न कछु मान॥ (१३।५)

आनन्दज शोकजमश्रु वाष्पस्तयोरशीत शिशिरो बिभेद।
गंगासरय्वोजिलमुष्णतप्तं हिमाद्रिनिस्यन्द इवावतीर्णं॥
ते पुत्रयोर्नैऋतशस्त्रमार्गानार्द्रानिवांगे सदयं स्पृशन्त्यौ।
अपीप्सितं क्षत्रकुलांगनानां न वीरसूशब्दमकामयेताम्॥
क्लेशावहा भर्तुरलक्षणाहं सीतेति नाम स्वमुदीरयन्ती।
स्वर्गप्रतिष्ठस्य गुरोर्महिष्यावभक्तिभेदेन वधूर्ववन्दे॥ (१४।३—४)

कौसिला सुमित्रा के तपत सोक आँसुन को,
मेट सुख आँसु जिन सीत कह्यो जाहिनें।

गंग सरजू को तातो नीर ताहि भेदत ज्यों,
उतरि के हिमगिरि सोत सुध काहिनें ॥
सुतन के अंग राकसनि कीन्हें घाय मनों,
आले तिन्हें परसे दया से कर दाहिने ॥
छत्रिन की वधुन को इच्छित जऊ है तऊ,
वीरसू सबद ए चहति चित माहिनें।
सुरलोकवासी दसरथ तिनकी वे रानी,
कौसिला सुमित्रा बड़े सील सनमान की ॥
तिनहू सो वदन करत भई वधू उत,
आदर बड़े सो रालि भगति समान की ॥
'राम कवि' कहें तब ऐसी भाँति आपु ही तें,
आपनी सकस जेंह बारता बखान की।
लच्छन न एक अपलच्छन अनेक भर—
ताकी कुल देस हार मोहि जानौ जानकी ॥
(१४।३—४)

उपस्थिता पूर्वमुपास्य लक्ष्मी वनं मया सार्धमसि प्रपन्नः ।
तदास्पदं प्राप्य तयातिरोषात् सोढास्मि न त्वद्भवने वसन्ती ॥
निशाचरोपप्लुतभर्तृकाणां तपस्विनीनां भवतः प्रसादात् ।
भूत्वा शरण्या शरणार्थमन्यं कथं प्रपत्स्ये त्वयि दीप्यमाने ॥
(१४।६३—६४)

फिरि यह कहियो प्रथम तुम, राजलक्षि तजि आसु ।
मोहि संग लै दिन घने, कियो आइ बनवासु ॥
सो अब लखि तुम्हें मिलो, फिरि ताही करि रोषु ।
तुव घर ते काढ़्यो हमें, न कछु रावरो दोषु ॥
फिर यह कहियो रिपि निसाचरनि
पीड़ित जे तिनकी नारि सबैं।
उनको रक्षा मे करी सकल विधि
तुव प्रसाद प्रभु पाइ तबैं ॥
ते ये तुम अबहूँ विद्यमान हो
नै सुए आनो (?) आपु चितैं।
सो मे क्यों करिके आजु
अकेली सरन कौन को जाऊँ कितै ? (१४।६४—६५)

तामभ्यगच्छद्रुदितानुसारी कविः कुशेध्माहरणाय यातः ।
निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः ॥

(१४।७०)

लेन समिध कुस जात रुदन सुनि सोय ।
बालमीकि उत आयउ कोमलजीय ॥
भील बध्यो खग देखि कियउ जिन सोक ।
होत भयउ तिनको वह जगत सलोक ॥ १४ (७०-७१)

उत्खातलोकत्रयकण्टकेऽपि सत्यप्रतिज्ञेऽप्यविकत्थनेऽपि ।
त्वां प्रत्यकस्मात्कलुषप्रवृत्तौ अस्त्येव मन्युर्भरताग्रजे मे ॥

(१४।७२)

नाक भूमि पताल के निज सकल बैरिन मारि ।
हैं जु निन्दारहित वे सांचो प्रतिज्ञा धारि ॥
तोहिं मैं बिन काज को जिन कियो है हित लोपु ।
ता बड़े भाई भरत के मे हमारो कोपु ॥ (१४।७४)

और अधिक अवतरण देने का लोभ संवरण करना चाहिए, क्योंकि लेख बढ़ गया है ।

[प्रथम प्रकाशन : सरस्वती : सितम्बर, १९१० ई०]



निबन्ध/लेख

काशी की नींद और काशी के नूपुर

घरघूमन दादा का पत्र

मैं जैसा घूमनेवाला हूँ, वैसा सोनेवाला भी हूँ। लोग आँखो से पहचानते हैं, मैं नींद और नींद के विघ्नो से पहचानता हूँ। उपनिषदो के मेधावी पण्डित की तरह आँखें बाँधकर मुझे किसी शहर मे छोड दीजिये, मैं नींद और नींद के विघ्नो से बता दूँगा, कि मैं कहाँ हूँ। इसमे कुछ आश्चर्य नही। जैसे मैं घूमने के लिए बदनाम; वैसे मेरा सोना भी अद्भुत है। किपलिङ ने सत्तावन दुर्गन्धो से रगून को पहचाना था, मेरे कान सलामत रहे और कोई शहर मेरी नींद मे विघ्न डालने का साहस करे, बस शनाख्त हो गई।

माघ महीने की चाँदनी रात है। जाडा कह रहा है कि बस आज ही पडूँ। रात के तीन बजे हैं। मैं मूसल की तरह सो रहा हूँ इतने मे जहाँ खजडी की टक टक और—

> हरि गुण गाय मगन भये तुलसी,
> मगन भये तुलसी—

का बेसुरा चीत्कार सुना कि, मैं जान गया कि यह प्रयाग तीर्थराज है। शब्दबेध तो सीखा नही, पर सिरहाने पानी का लोटा रखा था। उसे उठाकर इस जोर से फेंका कि, उस नींद के भूत वैरागी ने समझा होगा कि, उस मौके चेपलिन आ गये। मन को सन्तोष नही हुआ। यही चाहता था कि तुलसी की तरह हरि गुण गाकर वह मगन नही हो सकता तो इस हरिदास को त्रिवेणी मे मगन करने के लिए क्यो नही वालण्टीयर बनूँ। खैर हुई कि गुदडी छोडने का आलस्य न छोड सका, नही तो प्रयागवासियो की नींद का सदा के लिए बीमा हो जाता।

जेठ मे एक रात लाहौर मे बितायी थी। सोते समय रोज यही प्रार्थना करता हूँ कि, कुम्भीपाक नरक मे इधर फिर वैसी रात न बिताऊँ। बीमार को मैं यह

समझाना चाहता हूँ कि, तीन रात यहाँ सोना साँस-घोटनी रोग से कहीं बढ़कर है। निराली गर्मी थी—न तो मारवाड़ की जलाने वाली लू और न सूखी तपत—एक गीली-गीली साँसघोट गर्मी। मानो आकाश उतरकर छाती और गले को दबाकर बैठ गया हो। हवा का नाम नहीं। पसीना कपड़ों को बदन से चिपका रहा था। म्युनिसिपैलिटी के सडासों की पचमेल बास और छाती पर दुनिया भर का बोझ, इतने में स्टेशन के गधे एन्जिन ने वह किलकार मारी कि, भूकम्प हो गया। मैं अपने दिन के नाम को चरितार्थ करने दौड़ा। ऐसी गीली गर्मी! ओफ!!

ऐसे ही जहाँ दिन भर गाड़ी की खोकों में सोकर और शाल-बाल बचकर लैंडी कुत्ते आधी रात के पीछे एक स्वर हो अपने कण्ठों की कसरत दिखाते हैं और बीच-बीच में चौकीदार "ख्यो ख्यो ख्यो ख्यो हो" की टेक लगाकर धूम कर देता है, वहाँ मैं जान लेता हूँ कि, यह अमुक राजधानी है। चौकीदार की भाषा को समझने के लिए मैंने छत्तीस व्याकरण पढ़ डाले और बहत्तर बना डाले, पर उस व्यक्ताव्यक्त ध्वनि का तात्पर्य न खुला। निश्चय यही हुआ है कि कुत्तों के मलार से चिढ़कर चौकीदार अपने पंचम स्वर से उनके कोरस को मन्दा करना चाहता है और कुत्ते चक्रवृद्धि ब्याज से बदला चुकाते हैं। शायद उस शहर में सखिया नहीं बिकता है नहीं तो चौकीदार और कुत्ते—

जहाँ कैद किये हुए पिशाची की छाती की धड़कन की तरह रात भर धप-धप होती रहे और सारी पृथ्वी उस प्रकम्पन में धड़कती जान पड़े, वहीं मैं जान लूँगा कि इस पुराने पर्ला नगर में रेलवे के कारखाने ने नये प्राण डाल दिये हैं। यह धप धप पहले तो लोरी का काम देती है और फिर स्वप्नों में वह समा बाँधती है कि छाती पर बैठकर कोई हथौड़े से पत्थर तोड़ रहा है। एक रात वहाँ बिता आओ तो सात दिन कानों में से गूँज नहीं जाती।

उसी के पड़ोस में एक छोटा किन्तु नया शहर है जहाँ गधे पाव-पाव घण्टे के अन्तर से अपना शान्तिपाठ किया करते हैं। कभी एक कोने से वैशाखनन्दन जी का मधुर गान आता है, कभी दूसरे कोने से। आप समझेंगे कि, बस हो चुका, कि अचानक तीसरी ध्वनि आपके नीचे ही से आती है और आप चौंक पड़ते हैं। इन कत्थकों के गानों में पन्द्रह मिनिट का इतना पूरा अन्तर रहता है कि, शहर में घड़ियों की जरूरत नहीं। गधों के सम्वाद के दौरों की संख्या में चार का भाग दे लिया और घण्टे जान लिये। सुना जाता है कि, यहाँ की म्युनिसिपल कमिटी के प्रेसिडेण्ट रात भर स्वरों के उतार-चढ़ाव को नोट किया करते हैं और वर्ष के अन्त में सबसे अच्छे गवैये को गाजरों का एक टोकरा इनाम दिया करते हैं। गधे भी इस बात को जानते हैं और अपनी परीक्षा देने में कमी नहीं करते।

ये हैं काशी के नूपुर—बाबा व्यास ने इनका स्वाद चखा था, और बुड्ढे अश्वघोष ने इनका झणत्कार सुना था। रसिया काशिराज ने इनमें अपनी जान खोयी थी और छैला दामोदर गुप्त इनकी बदौलत अशुद्ध ही पढ़कर काशी से चला गया। अशुद्ध पढ़ा तो क्या हुआ, कुट्टिनियों की विद्या तो सीख गया और कश्मीर का मन्त्री बन गया।

ये हैं काशी के नूपुर—ये क्यों न बजें? शताब्दियों से ये बजते आते हैं और बजते रहेंगे। मेरी नींद चाहे रहे, चाहे जाय, इन्हें बजने दो।

यह क्या, नूपुर की आवाज बन्द और करधनी की झनझनाहट आरम्भ हो गयी? वहीं ऊपर के कोठे पर! ठीक है—

प्रशान्ते नूपुरारावे बुद्धयते मेखलाध्वनिः।
कस्यैषा कृत पुण्यस्य················।

बस, भैया धरधूमन, रहने भी दो। होली तो है, पर आजकल हिंदी के पत्र में हँसी मसखरी को असभ्यता समझते हैं।

[प्रथम प्रकाशन : दैनिक भारतमित्र : १९ मार्च, १९१९ ई०]

धर्म और समाज

समाज के लिए धर्म की आवश्यकता है या नहीं ? इस प्रश्न पर कुछ अपने विचार प्रकट करना ही आज इस लेख का उद्देश्य है। प्राचीन और नवीन अथवा पूर्व और पश्चिम इन दोनों के संघर्ष से यह प्रश्न उत्पन्न हुआ है। पूर्वी सभ्यता सदा से धर्म की पक्षपातिनी रही है और उसने धर्म को समाज में सब से ऊँचा स्थान दिया है। पश्चिमी सभ्यता इस समय चाहे उसकी विरोधिनी न हो, पर उससे उदासीन अवश्य है और कम-से-कम समाज की उन्नति के लिए वह उसे आवश्यक नहीं समझती। उसकी सम्मति में बिना धर्म का आश्रय लिए भी नैतिक बल के सहारे मनुष्य अपनी वैयक्तिक और सामाजिक उन्नति कर सकते है।

यद्यपि पहले पश्चिम भी धर्म का ऐसा ही अनन्य भक्त था जैसा कि इस समय भारतवर्ष। पर मध्यकाल में कई शताब्द तक वहाँ धर्म के कारण बड़ी अशांति मची रही। धर्ममद से उन्मत्त होकर समाज ने बड़े-बड़े विद्वानों और संशोधकों के साथ वह सलूक किया जो लुटेरे मालदारों के साथ करते है। ५० वर्ष तक लगातार जारी रहने वाला यूरोप का धर्मयुद्ध प्रसिद्ध ही है। इसलाम ने जो सलूक ईसाइयों के साथ किया उसको जाने दीजिए, क्योंकि वह एक भिन्न धर्म था। ईसाई धर्म की ही दो शाखाओं ने, जिनका नाम कैथलिक और प्रोटेस्टेन्ट है, एक दूसरे के साथ जैसे जैसे अत्याचार और अमानुषिक बर्ताव किये हैं, उनपर अब तक यूरोप का इतिहास रुधिर के आँसू बहा रहा है। इसलिए अब इस सभ्यता और उन्नति के युग में पश्चिमनिवासियों को यदि धर्म पर वह श्रद्धा नहीं है जो उनके पूर्वजों की थी तो वह सकारण है। यद्यपि पूर्वापेक्षा अब उनके धर्म का भी बहुत कुछ संस्कार हो गया है और शिक्षा की उन्नति के साथ-साथ जिसमें यूरोप और अमेरिका ने सब से अधिक भाग लिया है, उनके धर्म में भी सहिष्णुता, स्वतन्त्रता और उदारता की मात्रा बढ़ गई है। तथापि धर्मवाद के परिणामस्वरूप जो कड़वे फल उनको चखने पड़े हैं, उन्होंने उनको धर्म की सीमा नियत कर देने

के लिए बाधित किया, तदनुसार उन्होंने धर्म की अबाध सत्ता से अपने समाज को मुक्त कर दिया। अब वहाँ यही नही कि समाज की शासन सत्ता मे धर्म कुछ विक्षेप नही डाल सकता, किन्तु व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और सामाजिक प्रबध मे भी कुछ हस्तक्षेप नही कर सकता और बहुत-सी बातो के समान धर्म भी एक व्यक्तिगत बात मानी जाती है, जिसका जी चाहे, किसी धर्म को माने, न चाहे न माने। मानने से कोई विशेष स्वत्व पैदा नही होते, न मानने से कोई हानि नही होती।

यह तो रही पश्चिम की धार्मिक अवस्था, अब रहा पूर्व। यद्यपि पूर्व मे सर्वत्र ही धर्म का प्राधान्य है तथापि भारतवर्ष मे तो उसका एकाधिपत्य राज्य है। यद्यपि वहा की शासनसत्ता पश्चिमी लोगो के हाथ मे होने से अब उसमे वह हस्तक्षेप नही कर सकता। तथापि भारतीय समाजो मे और उनकी विविध शाखाओ मे उसका अप्रतिबन्ध अधिकार है। हम जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त चाहे किसी दशा मे रहे, कुछ करें, धार्मिक बन्धन से मुक्त नही हो सकते।

हमको केवल अपने पूजा पाठ या सस्कारो मे ही धर्म की आवश्यकता नही किन्तु हमारा हर काम चाहे वह सामाजिक हो या व्यक्तिगत, धर्म के बन्धन से जकडा हुआ है। यहाँ तक कि हमारा खाना-पीना, जाना-आना, सोना, जागना और देना-लेना इत्यादि सभी बातो मे धर्म की छाप लगी हुई है। हम हिन्दू होकर सब कुछ छोड सकते हैं पर धर्म को किसी अवस्था मे भी नही छोड सकते। हमारे पूर्वज धर्म को ही अपना जीवनसर्वस्व मानते थे और यही उपदेश शास्त्रो मे वे हम को भी कर गये हैं। मनु लिखता है—

धर्मएव हतो हन्ति धर्मोरक्षति रक्षितः।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मानोधर्मो हतोऽवधीत् ॥

प्राचीन आर्य लोग धर्म को केवल परलोक का ही साधन नही मानते थे, किन्तु इस लोक का बडे से बडा सुख भी धर्म के बिना उनकी दृष्टि मे हेय था। त्रिवर्ग मे जिसका सम्बन्ध ससार से है, धर्म ही सबसे पहला और मुख्य माना गया है। कणाद तो अपने वैशेषिक दर्शन मे अभ्युदय की नीव भी धर्म पर ही रखता है। यथा—

यतोऽभ्युदय निःश्रेयससिद्धिः सधर्म ।

अतएव हम अपने शास्त्रो को मानते हुए और पूर्वजो पर श्रद्धा रखते हुए किसी दशा मे भी धर्म की उपेक्षा नही कर सकते।

पश्चिम की शिक्षा का प्रभाव जिन लोगो पर पडा है, वे चाहे हमारे स्वदेशी बान्धव ही क्यों न हो, हम को भी यह सलाह देते हैं कि हम भी यदि इस जातीय उन्नति की दौड मे भाग लेना चाहते हैं तो धर्म को कोई ऐसी सीमा नियत कर

दें, जिससे आगे यह अपने पैर न फैला सके। उनका यह कथन है कि जब तक हमारे हर एक काम मे धर्म का पचडा लगा हुआ है, हम समय की गति के साथ नही चल सकते और न अपना कोई जातीय आदर्श बना सकते हैं। जो लोग हम को यह सलाह देते हैं, हम उनके सद्भाव मे कोई सन्देह नही कर सकते और यह भी हम मानते है कि देशहित की प्रेरणा से ही वे यह सलाह हमको देते हैं। पर हाँ यह हम अवश्य कहेंगे कि वर्तमान धार्मिक अवस्था के विकृत स्वरूप को देखकर और हमारे धर्म के वास्तविक तत्व पर गम्भीर दृष्टि न डाल कर ही यह सम्मति दी जाती है। यदि धर्म को उसके वास्तविक रूप म देखा जाय तो वह कदापि उपेक्षणीय नही हो सकता। यद्यपि विदेशियो के ससर्ग से या हमारे दौर्भाग्य से यहाँ भी धर्म का विधेय वह नही रहा, जो प्राचीन काल में था। हमे यह कहने मे कुछ भी सकोच नही है कि सभ्यता के आदि गुरु आर्यों का धर्म मतवाद से सर्वथा पृथक् है।

इस मतवाद को धर्म समझने का यूरोप मे यह परिणाम हुआ कि वह राजनैतिक और सामाजिक क्षेत्र से ही अलग नही किया गया किन्तु मानसिक और नैतिक उच्चभावो की रीति के लिए भी अनावश्यक समझा गया। उसका सम्बन्ध केवल उपासनालयो से रह गया और वह भी रविवार के दिन घटे दो घटे के लिए। बहुत से स्वतन्त्रता देवी के उपासक तो इससे भी मुक्त हो गये। हम उनकी बुद्धिमत्ता की प्रशसा करते हैं, यदि वे ऐसा न करते और हमारी तरह से अपनी विचारशक्ति को कल्पनाशक्ति के अधीन कर देते तो आज उनके देश मे विद्या और बुद्धि का यह विकास, कला कौशल की यह उन्नति और उद्योग तथा व्यवसाय का यह प्रभाव देखने मे न आता। यदि हमारे धर्म की भी ऐसी ही व्यवस्था हो और वह वास्तव मे मतवाद का प्रवर्त्तक हो, तब तो हमको भी कृतज्ञता के साथ उनकी यह सलाह मान लेनी चाहिए और यदि ऐसा नही है तो हमे धर्म का वास्तविक तत्व उन्हे समझाना चाहिए।

हम यहाँ पर कह देना चाहते हैं कि मत या सप्रदाय के अर्थ मे धर्म शब्द का प्रयोग करना भी हमने अधिकतर विदेशियो ही से सीखा है, जब विदेशी भाषाओं के 'मजहब' 'रिलीजन' शब्द यहाँ प्रचलित हुए, तब भूल से या स्पर्धा से हम उनके स्थान में 'धर्म' शब्द का प्रयोग करने लगे। परन्तु हमारे प्राचीन ग्रन्थो मे जो विदेशियो के आने से पूर्व रचे गये थे, कही पर भी 'धर्म' शब्द मत, विश्वास या सप्रदाय के अर्थ मे प्रयुक्त नही हुआ, प्रत्युत उनमे सर्वत्र स्वभाव और कर्त्तव्य इन दो ही अर्थों मे इसका प्रयोग पाया जाता है। प्रत्येक पदार्थ मे उसकी जो सत्ता है, जिसको 'स्वभाव' भी कहते है, वही उसका धर्म है। जैसे वृक्ष का धर्म 'जडता' और पशु का धर्म 'पशुता' कहलाती है, ऐसे ही मनुष्य का धर्म 'मनुष्यता' है। वह मनुष्यता किस वस्तु पर अवलम्बित है। इसमे किसी का मतभेद नही हो सकता

कि मनुष्यता का आधार बुद्धि है। बुद्धि की दो शाखायें हैं, एक कल्पनाशक्ति, दूसरी विचारशक्ति। कल्पनाशक्ति सन्देहात्मक है और विचारशक्ति निर्णयात्मक। बिना सन्देह के किसी बात का निर्णय नही हो सकता। अतएव अपनी कल्पनाशक्ति से सन्देह उठा कर पुन विचारशक्ति से उसका निर्णय करने मे जो समर्थ है, वही मनुष्य है। ससार मे सिवाय असभ्य और वन्य लोगो के और कौन ऐसा मनुष्य होगा, जिसको ऐसे धर्म की आवश्यकता न होगी, जो उसको मनुष्य बनाता है।

यह तो हुआ सामान्य धर्म, अब रहा विशेष धर्म, इसीका दूसरा नाम कर्त्तव्य भी है। मनुष्य चाहे किसी दशा मे हो, उसका कुछ-न-कुछ कर्त्तव्य होता है। यदि राजा राजधर्म का, प्रजा प्रजाधर्म का, स्वामी प्रभुधर्म का, सेवक सेवाधर्म का, पिता पितृधर्म का, पुत्र पुत्रधर्म का, पति पतिधर्म का, स्त्री स्त्रीधर्म का, गृहस्थ गृहस्थधर्म का और यति यतिधर्म का साधन न करें तो फिर ससार मे न कोई मर्यादा रहे, न व्यवस्था। ससार मे शान्ति और व्यवस्था तभी रह सकती है, जब प्रत्येक मनुष्य कर्तव्य के अनुरोध से अपने-अपने धर्म का पालन करें। अतएव इसमे कुछ भी अत्युक्ति नही कि धर्म ही ससार की प्रतिष्ठा का कारण है। धर्म के इसी महत्व को लक्ष्य मे रखकर 'तैत्तिरीयारण्यक' मे यह कहा गया है—

धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा, लोके धर्मिष्ठ प्रजा उपसर्पन्ति
धर्मेण पापमपनुदन्ति धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥

अब हम कुछ प्रमाण भी जिनमे 'धर्म' शब्द प्रस्तुत अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है, उद्धृत करते हैं। महाभारत मे धर्म का निर्वचन इस प्रकार किया गया है—

धारणाद्धर्ममित्याहु धर्मेण विधृताः प्रजा.।
य स्याद्धारणसंयुक्तः सधर्म इति निश्चय ॥

धात्वर्थ मे भी इसी की पुष्टि होती है, क्योंकि 'धृ' धातु धारण के अर्थ मे है।

यो ध्रियते दधाति वा सद्धर्मः।

जो धारण किया हुआ प्रत्येक पदार्थ को धारण करता है, वह धर्म है। अग्नि मे यदि उसका धर्म तेज न रहे फिर कोई उसे 'अग्नि' नही कहता, ऐसे ही मनुष्य यदि अपने धर्म को त्याग दे तो फिर केवल आकृति और बनावट उसकी मनुष्यता की रक्षा नही कर सकती। उपनिषदो मे जहाँ धर्मचर, 'धर्मान्नप्रमदितव्यम्' इत्यादि वाक्य आते हैं, वहाँ भी इससे कर्तव्य या सदाचार का ही ग्रहण होता है। मनु ने धर्म के धृत्यादि जो दस लक्षण बतलाये हैं और जिनको धारण करके एक नास्तिक भी धर्मात्मा बन सकता है, उनमे मतवाद का गन्ध तक नही है। गीता मे भी—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।

इत्यादि वाक्यो मे 'धर्म' शब्द कर्त्तव्य का ही सूचक है, क्योकि मनुष्य के लिए प्रत्येक दशा मे अपने कर्त्तव्य का पालन करना ही सर्वोपरि धर्म है, अपने कर्त्तव्य से उदासीन होकर दूसरो का अनुकरण करना चाहे वे अपने से श्रेष्ठ भी हो, अनधिकार चर्चा है । जब मनुष्य के आचार या कर्त्तव्य का नाम धर्म है तब यदि हमारे पूजनीय पूर्वजो ने उसको मनुष्य की प्रत्येक दशा से (चाहे वह आत्मिक हो या सामाजिक या वैयक्तिक) सम्बद्ध किया तो इससे उनका यह अभिप्राय कदापि नही हो सकता था कि उन्होंने हमको मतवाद के जाल मे फँसाने के लिए धर्म की टट्टी खड़ी की । उन्होंने तो हमारे मनुष्यत्व की रक्षा के लिए ही प्रत्येक कार्य मे इसका आयोजन किया था ।

अब प्रश्न यह होता है कि जब धर्म मत से पृथक् है तो फिर मतवाद मे या भ्रमात्मक विश्वासो मे उसका पर्यवसान क्योकर हुआ ? इसका कारण चाहे कुछ हो पर इसमे सन्देह नही कि हमारे दौर्भाग्य से इस समय हमारी धार्मिक अवस्था वह नही है जो उपनिषदो और दर्शनो के समय थी । उस समय सैद्धान्तिक भेद भी हमारे धर्म को कुछ हानि नही पहुँचा सकता था, पर आजकल आंशिक भेद को भी हमारा कोमल धर्म सहन नही कर सकता । उस समय हिन्दू धर्म इतना उदार था कि वह बौद्ध और जैन जैसे निरीश्वरवादी मतो को भी अपने क्रोड मे स्थान दे सकता था, पर आजकल का हिन्दूधर्म साकारवादी और निराकार-वादियो को मिलकर नही रहने देता । पहले का हिन्दूधर्म सदाचारी को धर्मात्मा और ज्ञानी को मोक्ष का अधिकारी (चाहे वह कोई हो) मानता था, पर आज-कल का हिन्दूधर्म अपने लक्ष्य से ही च्युत होकर या तो मतमतान्तर के शुष्क-वाद विवाद मे या पुरानी लकीर को पीटने मे अपनी शक्ति का दुरुपयोग कर रहा है । ससार के और समस्त विषयो मे हम विचारशक्ति का उपयोग कर सकते है, पर केवल धर्म ही एक ऐसा सुरक्षित विषय है कि जिसमे आँखें बन्द करके दूसरों के पीछे चलना चाहिए । यदि इसकी कोई सीमा नियत होती, तब भी गनीमत थी पर अब इस दशा मे जब कि इसकी अबाध सत्ता है, कोई भी विषय हमारे लिए ऐसा नही रह जाता, जिसमे हम स्वच्छन्द विचरण कर सकें । धर्म के नाम से अब तक हमारे समाज मे जैसे-जैसे अनर्थ और अत्याचार हो रहे हैं, उनके कारण हमारे करोडो भाई और बहन मनुष्य होते हुए पशु-जीवन व्यतीत कर रहे हैं । इस बीसवी सदी मे जबकि अन्य देशवासी राष्ट्र ही नही किन्तु राष्ट्रसघ और साम्राज्य की स्थापना कर रहे हैं, भारतवर्ष यदि समाज सगठन के भी अयोग्य है तो उसका कारण भ्रमात्मक सस्कार ही हैं ।

हम मानते है कि जैसा धर्म का दुरुपयोग आजकल भारतवर्ष मे हो रहा है, और ऐसा कही देखने मे न आवेगा । परन्तु अब प्रश्न यह है कि धर्म का प्रयोग

अन्यथा किया जा रहा है, क्या इसलिए हम धर्म को ही छोड दें ? यदि कोई मनुष्य अपनी मूर्खता से अग्नि मे हाथ जला लेता है तो क्या उसे यह उपदेश करना ठीक होगा कि वह अग्नि से कभी कोई काम न ले या कि उसे अग्नि से काम लेने की तरकीब सिखाना ठीक होगा । इसका उत्तर प्रत्येक बुद्धिमान मनुष्य यही देगा कि दूसरी बात ही होनी चाहिए ।

यद्यपि आधुनिक शिक्षा और समय के प्रभाव से आजकल धार्मिक क्षेत्र मे भी असन्तोष और हलचल मची हुई है और प्रत्येक धर्म के अग्रणी और शिक्षित पुरुष यह अनुभव करने लगे हैं कि अब इस बीसवी शताब्दी की जनता को इस प्रकाश के युग मे केवल धर्म के नाम से रूढि का दास नही बनाया जा सकता और न इस बढते हुए हेतुवाद के प्रवाह को ही रोका जा सकता है । तथापि वे —

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम् ।

इस नीति का अनुसरण करते हुए धर्म के विषय मे स्पष्टवादिता से काम नही ले सकते । इतना ही नही, बहुत से शिक्षित ऐसे भी मिलेंगे जो अपने समाज को प्रसन्न करने के लिए या उसका विश्वासभाजन बनने के लिए उसके भ्रमात्मक विश्वासो पर तर्क और विज्ञान की कलई चढाने लगते हैं । जिस देश मे नैतिक बल की यह दुर्दशा हो और जहाँ मान के भूखे शिक्षित लोग अशिक्षितो से मान-भिक्षा की याचना करें, वहाँ यदि धर्म का ऐसा दुरुपयोग हो रहा है तो इसमे आश्चर्य ही क्या है ? परन्तु प्रश्न ये है, जब तक धर्म के सूर्य मे अन्ध विश्वास का यह ग्रहण लगा हुआ है क्या हम अपने उद्देश्य और लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं ? हमारे देश के नेता राजनैतिक स्वतन्त्रता के लिए तो फडफडा रहे हैं पर यह धार्मिक परतन्त्रता जो हमें खुली हवा मे साँस भी नही लेने देती, उनकी दृष्टि मे जरा भी नही खटकती । क्या इसीलिए कि यह फाँसी हमने अपने आप लगाई है इसकी मौत मीठी है ?

हमारा वक्तव्य केवल यह है कि यदि धर्म हमारे स्वभाव या कर्त्तव्य का बोधक है जैसा कि हम अपना अभिप्राय प्रकट कर चुके हैं, तब तो वह हमसे और हम उससे किसी दशा मे भी पृथक् नही हो सकते । क्योंकि प्रत्येक पदार्थ की सत्ता उसके धर्म पर ही अवलम्बित होती है और ऐसे धर्म की आवश्यकता न केवल समाज को है किन्तु प्रत्येक व्यक्ति को है। जहाँ राष्ट्र या समाज अपने उस स्वाभाविक धर्म का पालन करें, वहाँ कोई व्यक्ति भी उसकी उपेक्षा न करे। इस दशा मे धर्म की व्यापकता या अबाधसत्ता किसी को अवाछनीय नही हो सकती और यदि यह हमारा भ्रम है और वास्तव म धर्म का अभिधेय जैसा कि आजकल माना जा रहा है, मतमतान्तर के काल्पनिक सिद्धान्त और भ्रमात्मक विश्वास हैं, तो हम नि सकोच अपने देशवासियो से यह प्रार्थना करेंगे कि जिस

प्रकार पश्चिमवासियों ने धर्म की सीमा नियत करके अपने सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक और औद्योगिक क्षेत्रों से उसका प्रतिबन्ध हटा दिया है, ऐसा ही हमको भी करना चाहिए अन्यथा ये भ्रमात्मक विश्वास अपने साथ हम को भी ले डूबेंगे।

आप डूबन्ते बामना ले डूबे जजमान।

[प्रथम प्रकाशन : प्रतिभा : जून, १९२० ई०]

काशी

काशी ! तू नित्य है, तू दुर्धर्ष है, तू अजेय है ! तू सदा के लिए हिन्दू धर्म, सभ्यता और विद्या का केन्द्र है। जब डॅमस्कस मे झोपड भी न थे, जब मिस्र के पिरैमिडो की जगह नील नदी का बालू-ही-बालू था, जब बैक्टोरिया के कुम्हारो ने अपने शराकृति लेखो के पुस्तक न पकाए थे, तब तू थी और तब तू पूजित थी ! 'तस्य भगवती अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स' उपदेश, 'देवाना पिय पियदस्सी' राजा अशोक की धर्म-लिपियाँ, भगवान् शकराचार्य का अद्वैत, तुगलको की जजिया, वीर बुक्क का वेदार्थ प्रकाशन, और चेतसिंह का कारावास—सभी तेरी गोद मे खेल चुके हैं ! जो काशी बौद्ध और जैन नीति को चुलुकित कर गई, जो मुसलमानो के दुराग्रह को बिना डकार निगल गई, जिस मे महाराष्ट्रो का चौथ का ऐश्वर्य और सिक्खों की फतह, घाट और सोने की चादर बनकर, आ चढे, जिसमे पण्डितो को क्रस्तान बनाने का डाक्टर बालटाइन का हठ क्वीन्स कालेज की उन्नति मे परिणत हो गया, जो एनीबेसेन्ट से भी एक उत्तम कालेज ले बैठी और जो रेवरेंड एडविन ग्रीव्ज से भी नागरीप्रचार करा रही है, वह काशी धन्य है। भगवती वाराणसि ! तेरी सीमा के बाहर समय और विवर्त और परिणाम टक्करें मार जावें, तेरी जादू की जमीन मे वही मर्त्य मे अमर्त्य की सदाबहार है। गगाजी के किनारे-किनारे, हिंदी के प्रधान कवि तुलसीदासजी का घाट, पुरैतिहासिक दस अश्वमेधो का घाट, देवज्ञशिरोमणि सवाई जयसिह के यत्रो के नीचे काबुलविजयी राजा मान का मानघाट, भक्त यवन का मीरघाट, विष्णु भगवान् का मणिकर्णिका घाट और महश्मशान, सैंधिया के और शिवाजी महाराज के वशधर भोसलाओ के घाट, दोनो भुजाएँ उठाकर विजेताओ की प्रबलता और हारे हुओं की मर्म कातरता दिखाने वाली काशी की अधिदेवी के समान ऊँचे मीनारों वाली मसजिद के नीचे बिन्दु माधव घाट,—कितने इतिहासो का दृश्य है, कितने परिवर्तनो का तमाशा है, कितनी भावनाओ को जगाने वाला चित्र है।

यहाँ नगे पैर चलना फैशन के डर से भाग नही गया है। वही चिल्ले के जाडे मे तडके जागना, वही कमण्डलु लिए और राजकम्बल ओढे गगातीर जाना, गुरुचरणो की धूलि से पवित्र वही एकान्त घाट, वही भगवती गगा का पावन मज्जन, वही साधारणतया तीर मे सध्यावदन, वही गीली धोती लेकर स्नानार्थियो और वलीवदो से बचते हुए भगवान् विश्वनाथ के यहाँ जल चढाने जाना, पुण्य लोभी बैलो से बचते हुए प्रेम के मधुर धक्के खाना, 'दर्शन देवदेवस्यस्पर्शन पापनाशन', वही परिक्रमा, वही सभामण्डपेश्वर, वही भगवती अन्नपूर्णा के यहाँ गोमय का कर्दम, वही बगाली चण्डी पाठ और तैलग दुर्गापाठ का सम्मिलित स्वर, वही ढुडिराज, वही ज्ञानवापी, वही भैरव— चाहे यहाँ विद्यार्थी बनकर आवें चाहे दर्शक बनकर। काशी ! तू तो सदा वैसे ही मन्दस्तिमित कृपा कटाक्षो से सब को देखती है। तेरे मे हिन्दुओ की और भारतवर्ष की एकता का वास है। एक तेरे मे देश-देश के विद्यार्थियो का समूह है जो मिलकर, बगालियो और तैलगो, मद्रासियो और कश्मीरियो मे सख्य पैदा करता है। अध्यापको, सत्रो और सगति का प्रबन्ध ठीक न होने से चाहे विद्यार्थी यहाँ आकर 'बनारसी' पने का ही पास हासिल करें, परन्तु सामग्री प्रचुर है और यदि धर्म मानकर, भिक्षा मागकर, अर्थकरी विद्याओ को छोडकर 'बुभुक्षितैर्व्याकरण न भुज्यते' पर बीसो वर्ष बिताने वाले इस दल को जातीयभाव से अनुप्राणित कर दिया जावे तो ! एक तेरे मे धर्मपरायण कल्पवासार्थ आगता विधवाओ का दल है जो प्रात काल से सायकाल और सायकाल से प्रात काल जल चढाने और जप मे लगी रहने पर भी देश-देशान्तर की समानशीलव्यसना स्त्रियो को धर्म की बहन बनाकर जातीयता का मार्ग खोल रही हैं। यदि उन्हे समझा दिया जाय कि कल्पवास का पुण्य और दुरितक्षय न केवल मदिर मदिर भटकने मे है, प्रत्युत बालिकाओ और बालको के रोगनिवारण और विद्यादान मे दया की भगिनी बनने मे भी है, तो है ! एक तेरे मे दान का वह क्रम विद्यमान है जो चारो दिशाओ के पुण्यार्थ दिए हुए धन को बिना भेदभाव के धार्मिक भारतवासी मात्र मे सत्रादिरूप से बाँटता है। यदि वह व्यथा-पुष्टो और कलह-प्रियो को न दिया जाकर आलस्य का बधक न बने, पात्रो की तरफ लगाया जाकर देश का बल बढा सके तो ? एक तेरे मे विद्वानो का वह समूह है जो प्राचीन शास्त्रो की पावनी त्रिपथगा मे अपने मैथिलत्व, दाक्षिणात्यत्व, व पजाबीपने को धो, 'शास्त्री' बनकर, देशाकल-पात्र की परवाह न करके, प्रकारता की कुक्षि मे प्रविष्ट विशेषता की नब्ज सम्हाला करता है और खाने-पीने की सुधि तक भूलकर वेद से लेकर अर्वाचीन परिष्कारो तक की मूर्ति मे शब्दब्रह्म और भगवती वीणा-पाणि की आराधना करता है। यदि इस समूह को समयानुसार, मुँह फाडकर देश का अहित चाहने वाली आपत्तियाँ और आवश्यकताएँ समझा दी जायें, यदि वह दल नियत काम कर के यूरोपीय

पण्डितो मे वेदो मे टक्कर मारने के स्थान पर उचित गवेषणा चला दे, यदि जो शक्ति अवच्छेद वा प्रकारता की चक्की मे या फर्माइशी व्यवस्थाएँ वढने मे मत्तरूप से पर्यवसान पाती है वही मरलरेखा मे चलाकर पहाड फोड सकने वाली बन सके तो ? बस, फिर क्या है, देश म भाग न जाग जायँ।

परन्तु काशी, तेरे मे वडी भारी एकदेशिता है, यह विद्या और धर्म का स्रोत तेरे मे अखण्ड होने पर भी खण्डित है, नित्य होकर भी नश्वर है। बगाल और मिथिला मे ऐसे बहुत से पण्डित कुटुम्ब मिलेंगे जो पन्द्रह-बीस पीढियो से, परपरा से शास्त्रो के पारदृश्वा विद्वान होते आए हैं। काशी की प्राचीनता से यदि हम यह नही पूछ सकते कि गौतम बुद्ध से शास्त्रार्थ करने वाले पण्डित तो बता, तो नही सही, परन्तु यहाँ एक वश मे दो पीढी भी पण्डितो की नही मिलती। यहाँ पढकर कोई पण्डित हुआ, वह या तो कही राजाश्रय मे चला गया और या कोई पण्डित राजाश्रय पाकर पढने-पढाने मे दिन बिताने यहाँ पर आया बस। यहाँ पर 'पण्डितपुत्र' मूर्खवाचक गाली है। फिर नये पण्डित हुए, फिर चले गये। इतने पण्डित-मण्डल म एक विद्वान की भी स्त्री विदुषी नही जो मण्डन मिश्र की सरस्वती की उपमा नही तो छाया तो बने। यही नही, पण्डितो का जीवन कर्कशा और अननुरूपा अर्धांगियो के क्लेश से दुखमय रहता है।

परन्तु काशी! आज तेरे मे विलक्षण भीड है। बगाली विश्वनाथ की पुरी मे अनाथ की तरह चिल्लाने आये हैं। अन्नपूर्णा की पुरी मे अन्न के अभाव का मिटाने के उपाय सोचे जा रहे है। ढुण्ढिराज के पडोस मे आपत्तियों से बचने का उपाय ढूंढा जाता है। पचकोशी के भीतर पच कोसे जाते हैं। बनारस मे रस बना रहने के लिये प्रदर्शनी लगती है। काशी मे धर्म करवट ले रहा है जिस मे उसका कुसशोधन कुरीति दोष मिलकर सुरीति पुनर्जन्म हो। सभा मण्डपेश्वर के सामने बीसो सभाओ के मण्डप बन है। भगवति! क्या ये आशाएँ पूरी होगी? 'काशीमरणान्मुक्ति' क्या आज से भारत के सब दुखो की मुक्ति मान ले? दुर्गे! क्या हमने सब दुर्ग जीत लिए? अन्नपूर्णे! क्या हमारे लिए सदापूर्ण बनोगी? ज्ञानवापी! क्या हमारे लिए तेरा जल सुधामधुर होगा, पत्रकलुषित नही? गगे! क्या हम अपनी निम्नाभिमुख गति को बदलेंगे? धर्मकूप! क्या हम कूप-पतन के लायक नही रहेंगे? भैरव! क्या आज से हम शत्रुओ के लिए भैरव बन जायेंगे? सारनाथ! क्या हम मे कुछ सार होगा? पिशाचमोचन! क्या हम कुरीतिपिशाचो से मुक्त होगे? भागीरथि! सुरधुनि! क्या हमारी गृहलक्ष्मियाँ तुम्हारी तरह जगत्पावन होगी? और हे प्राचीन और अर्वाचीन को मिलानेवाली काशी! सदा नित्य वाराणी! क्या हम तेरी तरह स्थायी, नित्य, दुर्धर्ष और पूजनीय बनेगे? क्या हमारा स्त्रियो की जडता वा अर्धांग और समयानुसार प्रतीहार न सोचने की हृदयशून्यता 'औषध जाह्नवीतोय' से न हटेंगे?

[प्रथम प्रकाशन समालोचक - जनवरी-मार्च : १९०६ ई०]

वर्ण-विषयक कतिपय विचार

कुछ दिन हुए विदेश मे मेरे एक बन्धु के साथ (जो हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि हैं) मैं सब्जी मे घूम रहा था। 'पताल' (जिसका रग लाल होता है और जिसे अँगरेजी मे 'tometo' कहते है और जिसको छत्तीसगढ़ी ब्राह्मण निषिद्ध समझते हैं) नामी फन को देखकर मैंने उनके विचार जानने के लिए कुतूहलतावश पूछा—

चलो, आज इसकी तरकारी बनावें। मेरा वाक्य समाप्त होते न होते ही वे चिल्ला उठे, छि छि शोक ! तुम समाज का सुधार करने चले हो और तुम्हारी ऐसी कृतियाँ ! इतना सुनते ही मैं हँसने लगा। उनके उद्‌गार पर मुझे बडी प्रसन्नता और हँसी छूटी। मैंने पूछा, इस तुच्छ विषय से सुधार के प्रति अपनी राय आप कैसे दे सकते हैं ? इसे खा लेने पर क्या मेरी मति भ्रष्ट हो जायगी ? उन्होने कहा—क्या इसी तरह तुम सुधरे हुए का असुधार करोगे ? क्या तुमको मालूम नही कि यह निषिद्ध फल है ? वाद विवाद मे यह प्रकट हुआ कि इससे शारीरिक या मानसिक क्षति होती है। मैंने कहा कि यह तो नितान्त असभव है क्योंकि भारत के अन्य कई भागो मे इसे खाते हैं। थोडी देर के लिए यदि यह मान भी लिया जाय कि भारत के समस्त ब्राह्मण नही खाते तो भी जो लोग खाते है, उनका शरीर वलिष्ठ क्यो है ? उनकी मानसिक क्षति क्यो नही होती ? वे बोले—ब्राह्मणो के लिए इस फल का उपयोग उचित नही। क्यो ? ब्राह्मण तो इसे खाते है ?

मित्र—खाते हो, परन्तु शास्त्र मे इसका निषेध है। ऐसी कुवस्तुओ को खाने से आचार-विचार मे मलिनता आ जाती है।

मैं—माना, हमने कि सरयूपारीण (छत्तीसगढ के) इसे नही खाते परन्तु कान्यकुब्ज तो खाते है, जिनका आचार-विचार हमारे आचारो से बढा-चढा है। इस पर मैंने एक दो उदाहरण भी दिये।

अनन्तर अपनी रक्षा के लिए उन्होंने 'रुचि' को प्रधान बनाया। मैंने भी कहा कि अवश्य खाना और पीना अपनी रुचि पर है, इसलिए खानेवालों को असुधारक मानना ठीक नहीं। सच पूछा जाय तो वही सुधारक है क्योंकि अन्ध-परम्परा को नष्ट कर वह मूल सत्य को ग्रहण करने का पाठ पढ़ाता है।

अनन्तर वर्ण-व्यवस्था की चर्चा छिड़ी। उन्होंने कहा कि ब्राह्मणों को अन्य जाति का बनाया हुआ भोजन न करना चाहिये अथवा किसी का छुआ हुआ पानी न पीना चाहिये क्योंकि वर्ण-विभाग वैज्ञानिक विचारों पर निर्भर है। इससे शरीर की हानि होती है। ब्राह्मण सर्वोत्कृष्ट जाति है। ये प्रश्न बड़े महत्त्व के हैं और इन्हीं पर कुछ प्रकाश डालना इस लेख का एकमात्र उद्देश्य है। इसके लिए हमें यह जानना चाहिये कि वैदिककाल में वर्ण-विभाग था या नहीं? या यह अभी हाल ही का है?

वैदिक युग में वर्ण-व्यवस्था अवश्य थी परन्तु वर्तमान रूप में नहीं। उस समय मुख्यतः केवल चार जातियाँ ही थीं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। इसका प्रमाण यह है—

ब्राह्मणोस्य मुखमासीत् बाहुराजन्य कृत,
उरू तदस्य यद्वैश्य. पदभ्याम् शूद्रो अजायत।[1]

इससे यह स्पष्ट है कि वर्ण-व्यवस्था का आदि कारण कार्य-निर्वाचन है। यद्यपि वेद का उपर्युक्त कथन कतिपय मनुष्यों को नीरस और मिथ्या मालूम हो परन्तु इसकी सत्यता का प्रमाण वर्तमान युग ही है। पाश्चात्य देशों को अब इसकी जरूरत दिखाई देने लगी है। वर्ण-व्यवस्था के न होने से वहाँ के राज-नैतिक और सामाजिक क्षेत्र में महाशान्ति उपस्थित है। वर्ण-व्यवस्था से अधि-कारों का बँटवारा भलीभाँति हो जाता है और सब कोई अपने उचित अधिकारों को प्राप्त कर सुचारु रूप से कार्य करते हैं।

१ (क) सदर्भ पुरुषसूक्तम् ऋग्वेद १०।९०।१०
(ख) ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्य कृत।
ऊरू तदस्य यद्वैश्य पद्भ्या शूद्रोऽअजायत ॥ ११ ॥

—शुक्ल यजुर्वेदानुसार

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्योऽभवत्।
मध्य तदस्य यद्वैश्य पदभ्यो शूद्रो अजायत॥

अथर्व० १९।६।६

(ग) अनुवाद—उसका मुख वही ब्राह्मण हो गया (इस पुरुष के मुख से ब्राह्मण हुए), उसकी भुजाएं राजन्य (क्षत्रिय) बनाई गई (बाहुओं से क्षत्रिय हुए)। जो वैश्य होकर उत्पन्न हुआ वे उसकी जाँघ थी (इस पुरुष के जो दोनो ऊरू हैं उनसे वैश्य) और उसके पादो से शूद्र उत्पन्न हुए (पैरों से शूद्र प्रकट हुए)। —सम्पादक

यूरोप म बोलशेविक दल धनी-गरीब, राजा-प्रजा सबको एक कर देना चाहता है। वह सबको समान अधिकार देना चाहता है। उसका मत है कि कोई किसी का दास होकर न रहे परन्तु प्रश्न यह है कि यदि मजदूर ही न हों तो कारखाना का काम करेगा कौन ? हमारे जूठे बर्तन कौन मलेगा ? इसके उत्तर म प्रथम यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक मनुष्य अपना अपना काम कर ले। यदि यह भी हो जाय तो कोई बुरी बात नही परन्तु इससे सहकारिता नष्ट होकर स्वार्थपरायणता आ जावेगी। हमारी उन्नति म वह बाधक है अत वर्ण-व्यवस्था की आवश्यकता है।

इस व्यवस्था के मुख्य दो कारण हैं 'जन्मना' और 'कर्मणा'। 'जन्मना' से यह अर्थ निकलता है कि पिता का धन पुत्र को मिले या उसके कोई नातेदार को और 'कर्मणा' का यह अर्थ है कि वह अपनी इच्छा और शक्तियों को देख कर किसी कार्य द्वारा अपना जीवन निर्वाह कर ले।

वर्ण की व्यवस्था करने के समय 'जन्मना' की अपेक्षा 'कर्मणा' पर अधिक जोर दिया गया था। लोग प्रधानत उसी का अवलम्बन करते थे। विश्वामित्र का ब्राह्मण होना इसका यथेष्ट प्रमाण है। फिर 'जन्मना' की उत्पत्ति क्यो हुई ? थोडी देर के लिए यह मान लिया जाय कि 'जन्मना' न हो तो क्या होगा। यही कि हम मे ईर्ष्या, द्वेष, लालच आदि दुर्गुण उत्पन्न हो जायँगे क्योकि 'जन्मना' या (ला आफ हरिडिटरी) न होने से किसी व्यक्ति या परिवार की अधिक सम्पत्ति देख कर दूसरा व्यक्ति या परिवार उस पर अधिकार जमावेगा। पिता का धन पुत्र को न मिल कर और किसी के हाथ आने लगेगा और सच्चा अधिकारी अधिकार छीननेवाले से युद्ध ठानेगा। इस तरह राष्ट्र, विप्लव और क्रान्ति का घर हो जायेगा अत 'जन्मना' की आवश्यकता वर्ण-व्यवस्था मे अनिवार्य है।

अब 'कर्मणा' को लीजिये। यदि यह न हो तो क्या होगा ? यदि सबके-सब अपने-अपने कार्य स्वय कर लें तो क्या काम न चलेगा ? क्या यह न रहे तो स्वार्थ की आग धधक उठेगी ? ईर्ष्या, द्वेष आदि दुर्गुण हर किसी मे नजर आयेंगे क्योकि फिर 'सहयोगिता' का नाम ससार से उठ जायगा। बडी बडी उन्नति, बडे बडे कार्य, जिनकी आवश्यकता प्रत्येक राष्ट्र, जाति या व्यक्ति को है, न हो पायेंगे। उन्नति और परिवर्तन रुक जायगा। जन्मना' से 'कर्मणा' प्रधान है और दोनो के सयोग से राष्ट्र का काम भलीभाँति चल सकता है।

परन्तु वर्तमान भारत मे 'जन्मना' अधिक वन्दनीय है। इससे किसी को फायदा नही। यूरोप मे तो वर्ण-व्यवस्था के न होने से अमीर को लाभ है परन्तु यहाँ वर्ण-व्यवस्था के होते हुए भी न अमीर को लाभ है और न गरीब को। इसके विपरीत फायदा है किसी अन्य राष्ट्र को क्योकि भारत मे इ– समय पश्चिमीय का अन्तरग नही तो वहिरग प्रभाव है। यह वहिरग सभ्यता अँगरेजी पढे लिखे मनुष्यो मे ही नही परन्तु वेपढ़े-लिखे और पुरानी शिक्षा पाये हुए हमारे भोले-

भाले पण्डितो मे भी पाई जाती है क्योकि आजकल यही मान मिलने का साधन हो गई है ।

इस सभ्यता को पूर्ण करने के लिए गरीबो का गला घोटा जाता और नित नये-नये छलछिद्रो का जन्म होता है । यूरोपीय मजदूरो का दल इस कारण निर्धन हो गया है । वहां के लोगो ने मदिरा पान जैसी व्यर्थ चीजो मे अधिक खर्च कर गरीबो का ग्रास छीन लिया है । फैशन से यूरोप मे केवल मजदूर दल ही की हानि हुई और धनी मालदार हो गये परन्तु भारत मे अमीर और गरीब दोनो दल ही आर्थिक हानि सहते है ।

भारत मे 'जन्मना' का प्रभाव अब अधिक होने से कई कुरीतियां दृष्टिगोचर होने लगी है । छूत-अछूत इसी का परिणाम है । इससे जाना जाता है कि अब भारत से उस आन्तरिक आत्मा का ज्ञान जाता रहा जिसकी समस्त ससार मे आवश्यकता है । इससे पारस्परिक सहयोगिता नष्ट हो गई क्योकि एक को अभिमान करते देखकर दूसरा अभिमान करने लगा है । उन जातियो को छोडकर जिनसे हमारा धार्मिक सम्बन्ध है, जैसे नाऊ, धोबी, कहार आदि शायद और कोई दूसरी जाति नही जो ब्राह्मणो का भी पकाया हुआ भोजन खाती हो । इन जातियो मे एक धागर जाति भी है जो पालकी उठाती है । ये लोग ब्राह्मण के यहां भोजन नही ग्रहण करते । ऐसी अवस्था मे उनमे शुद्ध प्रेम का होना कहां तक सभव है ?

यदि आत्मा शुद्ध हो तो समय आ पडने पर नीची जाति का बनाया हुआ भोजन ग्रहण करना भी योग्य है और यदि आत्मा शुद्ध नही है तो उसे शुद्ध बना लेना चाहिये ।

आचार-विचार करने वाले अधिकतर मनुष्य शकित होते है और उनकी आत्मा दुर्बल हुआ करती है । हां, आचार-विचार से अवश्य मन शुद्धि होती है परन्तु मन शुद्धि करने वाले आचार-विचार कुछ दूसरे ही है । वे हैं, ईश्वरभजन, यज्ञानुष्ठानादि ।

इन विचारो को यानी नीची जातियो को ग्रहण करने वाले ब्राह्मण पर यह इलजाम लगाया जाता है कि व सनातन धर्म के अनुयायी नही, क्योकि कहा जाता है कि छुआछूत मानना ही सनातन धर्म है । अच्छा, एक सयुक्त प्रान्त के और एक छत्तीसगढ के ब्राह्मण को लीजिये । हम जानते हैं कि दोनो कट्टर हिंदू, सनातन धर्म के पालक हैं और उन्हे छुआछूत का पूरा ज्ञान है, परन्तु एक सूती कपडा पहिनकर क्यो भोजन बनाता या खाता है और दूसरा क्यो कोसा या रेशम पहिन कर ? एक अपने निश्चित चौके से बाहर निकलकर बनाना अधर्म समझता है और दूसरा क्यो बाहर भी पका सकता है ? उसे ऐसे चौके आदि की आवश्यकता क्यो नही है ? ऐसी दशा मे किसको श्रेष्ठता दी जाय ? सनातन धर्म वह है जो

मनुष्य मात्र को अपना सके, मरते हुए अछूत को दवा-दारू पिलावे और समय पड़ने पर अपने ही सर पर लाद कर उसे दवाखाने में पहुँचावे। जब यह बात सनातन धर्म में नहीं तो वह सनातन धर्म नहीं। सनातन धर्म वही है, जो सनातन से चला आ रहा है और जो हमारे वैदिक भारत का भूषण था। क्या वैदिक भारत में हमारे ऋषिमुनि ऐसे धर्म-कार्यों से मुख मोड़ते थे? कदापि नहीं। यदि हमें अपनी वास्तविक उन्नति करनी है तो आधुनिक विचारहीन जाति-भेद को हमें त्याग देना, दीनों का, अन्य जातियों को अपनाना, अपनी कठोरता से मुख मोड़ना और मन की संकीर्णता त्यागकर उस भव्य कर्म-क्षेत्र में आना चाहिये, जहाँ सामाजिक जाति-भेद नहीं, मानसिक जाति-भेद नहीं और जहाँ जाति-भेद है तो कार्य-व्यवस्था के हित।

इस पर यदि कोई कहे कि जब 'जाति-भेद' नहीं तो फिर ब्राह्मणों को जनेऊ क्यों पहिनना चाहिये। उत्तर में हम यह कहेंगे कि उनका चिह्न है। जनेऊ पहिनने का उद्देश्य यह है कि लोग जान सकें कि वह ब्राह्मण है, वे उनकी पूजा कर सकें। पूजा इसलिए करें कि शास्त्र-पुराणों में उसका गान है। ब्राह्मणों की पूजा इसलिए की जाय कि उनका जीवन परोपकारमय है। यह चिह्न (जनेऊ) केवल ब्राह्मणों में नहीं, परन्तु प्रत्येक वर्ण में है, जैसे क्षत्रिय का, तलवार और विशेष प्रकार का वेश, वैश्य की चपटी या छोटी दबी हुई पगड़ी या और कुछ जिसका इस युग में लोप हो गया होगा। शूद्र का कोई निश्चित चिह्न नहीं।

अच्छा तो, अब खाने-पीने में कोई रुकावट नहीं तो अन्तर्जातीय विवाह में क्यों रुकावट डाली जाय? यह विवाद तब शुद्ध और ग्रहणीय माना जा सकेगा जबकि वर-कन्या में आगे चलकर कोई अन्तरता न पैदा कर दे और जिससे उनका जीवन नष्ट हो जाय। अन्तरता स्वाभाविक इसलिए है कि यदि ब्राह्मण की लड़की वैश्य को ब्याह दी गई तो पूजानुरक्ता या अध्यात्म-नीतियों को जानने वाली वह लड़की व्यापारिक झंझटों या नीतियों से सहज ही घबरा उठेगी। यद्यपि इसके सांसारिक बंधनों को कष्ट न पहुँचेगा फिर भी वह आन्तरिक पीड़ा को न सह सकेगी। यदि वह सती और सच्ची हिन्दू बाला होगी तो वह अपने पति का त्याग कभी न करेगी या आत्महत्या कर संसार से छुट्टी लेगी। यही हाल पुरुष का भी होगा। हाँ, ऐसा विवाह तब पवित्र और सराहनीय हो सकता है जब विवाह के पहिले भिन्न जाति के पुरुष और स्त्री में प्रेम उत्पन्न हो जाता है क्योंकि उस समय उन्हें दूर कर देना जघन्य कार्य है।

[प्रथम प्रकाशन : मर्यादा : जून, १९२० ई०]

वंशच्छेद

वग देश के एक भूतपूर्व लैफ्टिनेंट गवर्नर ने, भारतवर्ष मे मनुष्य सख्या की अधिकता से घबरा कर कहा था They breed and breed and breed और कई नवशिक्षित सज्जन जन-सख्या के विषय मे मैल्थस के सिद्धातों का अनुसरण करते हुए संतानोत्पत्ति के विरुद्ध हैं। विलायत मे इसके विरुद्ध भय हो रहा है कि उचित सतान नही उत्पन्न होती और जनसख्या घट रही है। इसमें एक कारण तो है कि शिक्षित माता, पिता अपने एकात गृह को घी पो से पूर्ण करना नही चाहते, एक या दो सतानो की भोग्य सपत्ति पर पद्रह सोलह को बिठाना नही चाहते और इससे यह होता है कि योग्य और शिक्षित लोगो का, और विशेषत शिक्षित स्त्रियो का, प्रजनन नष्ट हो गया है। अतएव कई वैज्ञानिक मनुष्य वश को उसी तरह बढाना चाहते हैं जैसे घोडो की या बैलो की नस्ल सुधारी जाती है। या जैसे पेडो को देख-देखकर कलम लगाई जाती है। औषध या वैद्यो के उपदेश केवल मार्ग ही दिखला सकते हैं, और जीवन मनुष्य जाति को एक बडे भारी अन्धकूप मे ले जा रहा है जिसमे से राजनियमो से वैद्यक शास्त्र उसे बचा सकता है। सब कही, वशज रोग, वशज मद्यपान, अधापन, बहरापन कोढ प्रभृति बढते जाते हैं। सेना के योग्य मनुष्यो की सख्या घटती जाती है और नये उप-निवेशो मे भँगते, पागल और पापी बढते जाते हैं। इसका कारण यही है कि जो अच्छी सतान उत्पन्न कर सकते हैं, वे नही करते, और अयोग्यो का जनकत्व घटता नही, किंतु बढता ही है।

पहले बालक रोगो से मर जाते थे, और जो बचते थे, 'सत्तम' रहते थे, किंतु डाक्टरी से बालरोगों से मौत तो घट गई किंतु दूध के साथ औषध का विष लेकर बालक बडे होने पर अयोग्य और क्षीण सृष्टि को बढाते हैं। सार्वदेशिक अध पात का मूल सत्य है, हमारी घ्राणेन्द्रिय पशुओं से कम हो गई है, सभ्यता से दाँत गलते जाते हैं, आँखें अनुपयुक्त होती जाती हैं, अस्थियाँ, स्त्रियो के स्तन, और विषय-

वासना घटती जाती है। परिणाम यह होगा कि हाथ गीले होते ही ज्वर आ जाया करेगा, साधारण वायु हमारे श्वास के लिए भद्दी होगी, इसकी छनी छनाई "आक्सीजन" बाँधते फिरना होगा, और बिना उसके मछली की तरह तडपना होगा। आँख को रोज साफ करना होगा, मद्य और तम्बाकू से उत्तेजना न पाकर मनुष्य विषो से काम लेंगे, सहवास असभ्य समझा जाकर प्रजनन कृत्रिम उपायों से किया जाया करेगा। इस मार्ग पर चलते-चलते हमारा जीवन वनस्पतियों का-सा हो जायेगा। इस भयकर परिणाम का भयकर उपाय डाक्टर बेंपल ने यह बताया है कि जो स्त्री बलिष्ठ संतान जनन के अयोग्य है या जो दुर्बल सतान जनने-वाले को ब्याही जा चुकी है, उसे बलात्कार से, सरकारी कायदे से, डाक्टरी उपाय से, गर्भाशय को काटकर वध्या बना दिया जाय। इस दुर्बल श्रेणी मे सभी रोगी और असमर्थ आ गए हैं। किंतु केवल अयोग्यों को वध्य करने से काम न चलेगा। इस निषेधात्मक क्रिया से वश का लोप शीघ्र होगा जब तक कि योग्यों को सतान उत्पन्न करने मे बाधित न किया जाय।

बुद्धि के व्यायामो मे लगने से शक्तिहीन होकर, कितने ही प्रजनन नही करते और कितने देशो म यह स्वय सिद्ध सिद्धात हो गया है कि कोई पत्नी बिना अपनी इच्छा के माता नही बनाई जा सकती, और पति भी नही चाहते कि कई पुत्रो के पिता बनकर उन्हे निर्धन या अशिक्षित छोड जायें, कठिनाई तो यह है कि इन सिद्धातो को प्रजनन के योग्य वश मानते है, जिससे इग्लैण्ड मे प्रति दिन पाँच सौ जन्म कम होने लग गए हैं और कही-कही बीस प्रति सैकडा जन्म घट गए है। पहले तो सिद्धात था कि सपत्ति बढने से सतति बढती है, किंतु अब सपत्ति बढने से सतति का नाश होना है क्योकि सतति होन से अपने लोभ और उत्साह को रोकना पडता है। नाडी विज्ञान के नियम से इन लोगो न पत्नीत्व और मातृत्व को पृथक् कर लिया है और जनक होकर भी वे दापत्य सुख से निवाह देते है। अर्थशास्त्र का यह नियम तो वशच्छेद करता ही है, किन्तु स्त्रियो की उन्नति और अपने अधिकारो का जानना भी इस घोर परिणाम का कारण है। वे परिवार को कम करना चाहती हैं, और वेदना को बारबार नही सहना चाहती। वर्तमान युग पीडा से घबडाता है। और यदि पुरुष उस वेदना को जानते तो स्त्रियो की इस 'हडतालो' को बुरा न कहते। किंतु उस वेदना का अनुमान करके पुरुषो ने भी स्त्रियो के उस कार्य मे सम्मति दे दी है जिससे प्रेम और पशुवृत्ति का पूरण हो जाय, किंतु मातृत्व न उठाना पडे। यद्यपि यो इन दोनो कर्मो का पृथक् करना बुरा है, किंतु सतान को पाल सकने वाले, सपन्न, अपनी शक्ति भर सतान उत्पन्न करें और असमर्थ और दुर्बल इस काम से रोके जायें तो यह न्याय है। नही तो पृथ्वी से अच्छे अच्छे वश लोप हो रहे है और हो जायेंगे और दुर्बल लोग और दीन पृथ्वी को छा लेंगे। अतएव अच्छे सामाजिको का धर्म है कि जितनी सतति

उत्पन्न कर सकें, करें किंतु उन्ही मे इसका विरोध पाया जाता है। तो, बलात्कार से वंध्यात्व का नियम चलने पर कितना बडा अनिष्ट होगा। योग्य स्त्रियां भी यदि इस डाक्टरी उपाय का परिणाम वध्यात्व जानेंगी तो वे क्या इसे पहिले न स्वीकार करेंगी ? वे इस यातना से बचने की पीडा भी सहेंगी, किंतु यह आपरेशन तो विना पीडा के होगा। अतएव विचार है कि योग्य स्त्री को वध्या करने वाले डाक्टर को दड की व्यवस्था की जायेगी। यदि डाक्टर को रुपया देकर मैं अपनी आँख निकलवा लूँ तो राजा क्या कह सकता है ? कौन जूरी यह कह सकेगी कि बिना पीडा का आपरेशन करना, प्रार्थना पर दडनीय है ? और इस नियम से ब्रह्मचारियो को भी दड मिलना चाहिए। यो अयोग्यो को बलात्कार से वध्य किया जाय, और योग्य स्वय वध्य होते जायें, तो ससार मे बचे मनुष्यो को पाँव पसार कर सोने का स्थान खूब मिल जायेगा। यो योग्यो का सतान उत्पन्न न करना भयकर है, और ज्ञान के विस्तार से अब मूर्खों और नीचो मे भी यह ज्ञान पहुँच गया कि जनक होन के बिना वासनाएँ पूरी हो सकती हैं, तो अनर्थ हो जायगा और "सत्तमो का अवशेष" जगत् पर छा जाएगा। यह सब तत्त्व Review of Reviews से लिए है।

श्वेतो की इस चिंता मे हमे भी चिंता का कारण है कि पीत और श्याम जातियाँ सतान उत्पन्न करने मे धर्म समझती हैं और वे अर्थशास्त्र या स्त्री-स्वाधीनता के चक्र मे जनसख्या घटाती नही। तब भला उनका दिन-रात बढता बोझा कौन उठावेगा ? जब ग्वाले और गडरिए कम हो रहे है तो बढती हुई रेवड को कौन सम्हालेगा ? "मुनीना च मतिभ्रम"।

[प्रथम प्रकाशन समालोचक जनवरी-फरवरी मार्च-अप्रैल, १९०५ ई०]

खेल भी शिक्षा ही है'-१

प्रकृति कितनी उजाडनेवाली है यह देखकर सबको ही विस्मय होता है,—कई जीव मरते हैं, नदियाँ कई मील मिट्टी को बहाकर ले जाती है, लडाई मे, मद्यपान मे, जुआ मे कई लोगो का सर्वनाश होता है, यह प्रकृति का 'उडाऊपन' बडा भारी कलक है। किंतु ध्यान देने से प्रतीत होगा कि यह दूषण नही, भूषण है। मृत्यु एक प्रकार की किफायत है जिससे टूटे हुए प्रयोग, प्रकृति की हँडिया मे फिर गढे जाकर बढिया रूपो को धारण करते हैं, नदियो की बहाई हुई मीलो मिट्टी समुद्र के तले जाकर अत को 'डेल्टा' के रूप मे मनुष्य जाति के लिए नये निवास और क्षेत्र बनाती है, युद्ध का 'दिव्य' वीरता प्रभृति गुणो का पैदा करनेवाला है, मद्यपान अयोग्यो को टालता है और द्यूत राज्यस्थापक, खोजी व्यापारी के कर्मों का कुछ बढा हुआ नमूना है। हानि और लाभो से बहुत कम होने पर भी उनकी जननी है।

यो ही हमारे जीवन मे 'बहुत सा भाग वृथा जाता है' यह पुकार सुनी जाती है। जीवन में हम चलते हैं, सोचते हैं, करते हैं, किंतु क्या जीवन का दो तिहाई अश देह अजन को चलाने के लिए भोज्य-कोएले के सपादन मे नही व्यतीत होता? हम जीने के लिए खाते ही है, किंतु खाने के लिए भी जीते है, खाना, शक्ति पाना, उसी शक्ति के लिए फिर खाना—इसी चक्र मे हम घूम रहे है।

दार्शनिक लोग सदा ही इस बात पर पुकारते आए हैं कि मनुष्य जाति का कितना ही समय इस जड देह को खिलाने, पहराने, सजाने मे व्यतीत होता है, किंतु अब हम जानने लगे हैं कि इस गधे की तदुरुस्ती से ही मानसिक शक्ति और आध्यात्मिक गुण प्राप्त होते हैं। तो अच्छे फल फूल पान के लिए भद्दी जडो मे जल देना

१ (सितबर, १६०३ के 'कंटेंपोरेरी रिव्यू' मे छपे डाक्टर हचेसन के लेख का सारांश) ('समालोचक'-सपादक द्वारा सक्षिप्त और परिवर्तित)

षया मूर्खता है ? यों ही बालकों का निसर्ग (पशुवृत्ति) है कि बिना प्रयोजन के कामों में, खेल में समय बिता दे, और गर्वान्ध धार्मिकों की दृष्टि में टहलना फिरना शैतान का काम है, बैठकर स्तोत्रपाठ करना जगदीश्वर का भाग है। निसर्ग बलात्कार का शत्रु है। धर्माचार्य, पाठक और रटाने वाला सब यही चाहते हैं जो बालक कभी नहीं करेगा, अर्थात् बैठकर पढना ही पढना। भला दुनिया एक-सराय है, यहाँ से दूसरी जगह जवाबदेही के लिए जाना है, तो क्या इस छोटे से जीवन को यों खो दिया जाय ? हाय रे ! अब इन अधिकारों की नही चलने पाती।

सदा से मानते आए हैं कि मन, बुद्धि और इंद्रिय सदा अच्छी बातों के बने बनाए शत्रु हैं, किंतु अब लोग जानने लग हैं कि प्रवृत्ति का हठ ही समान का बीज है, निसर्ग की बलवती इच्छा ही उस कार्य के भलेपन का लक्षण है।

[प्रथम प्रकाशन समालोचक अक्तूबर-नवम्बर, १९०३ ई०]

खेल भी शिक्षा ही है-२

'मनुष्यों ने बडी भारी मूर्खता की जो पशुवृत्ति (निसर्ग) को घृणा से देखना आरंभ किया, यह तो पशुवृत्ति है" यह कहना ही किसी काम की बुराई का सूचक हो गया, किंतु गवेषणा से देखा जाय तो पशुवृत्तियाँ, करोडों पीढियों के अनुभव का सार हैं। *हानिकारी काम के लिए निसर्ग पैदा ही नहीं हो सकता, हानिकारी* काम की ओर प्रवृत्ति रखने वाली जाति ही नष्ट हो जाती है।

व्यक्ति जीवन में भी, 'अच्छी आदतों का डालना' और कुछ नहीं है, केवल सद-सद्विवेक (भले बुरे की पहचान) शक्ति की आज्ञाओं का अनुभवानुसार पशु-वृत्ति के रूप में परिणत करना ही है। पशुवृत्ति से भूल भी हो सकती है क्योंकि सीमाओं के या पार्श्ववर्ती दशाओं के बदले जाने से पशुवृत्तियाँ हानि भी कर सकती है। किंतु पशुवृत्ति बुरी ही है यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि कई उपयोगी काम पशुवृत्ति से ही किए जाते है। इससे खेलने की इच्छा को गालियाँ न देकर उसका विश्वास करना चाहिए कि जब उसका इतना हठ है तो अवश्य ही हमारे पूर्व पुरुषों को पिछले झगडों में उसने बहुत ही काम दिया होगा। अब हम मानने लगे हैं कि प्राकृतिक इच्छाएँ बलवती हैं और काम की हैं, हम विद्यार्थी जो न

करना चाहे वही उससे कराना इसी का नाम शिक्षा है। बिना कठिन हुए पढाई ही नही, पढाई मे आनद आवे तो वह पढाई काहे की, इन बातो को नही मानते। हम शिक्षा को विद्यार्थी दिलाना नही चाहते, किंतु विद्यार्थी को शिक्षा दिलाना चाहते है।

खेलना वह शक्ति है, जिसके दर्जों का भेद, मनुष्य का उच्च पशुओ से, और उच्च पशुओ का नीच पशुओ से जो भेद है उसका द्योतक है। जन्म के साथ बाल-कत्व और परवशता एक तरफ और एक तरफ बुद्धि आरभ होती है। जो जीव खेल सकते है, वे सिखाए भी जा सकते है। बुद्धि की वृद्धि के साथ-साथ माता पिता के अधिक अधीन रहना पडता है अर्थात् अधिक बुद्धिमान जीव अधिक दिन परवश रहता है। परवश रहना ही खेलने का काल है। अर्थात् अधिक खेलनेवाले जीव ही अधिक बुद्धिमान् होते है, क्योकि खेलना उन शक्तियो की कवायद और परीक्षा है जिनके ऊपर, आगे जाकर जीवन निर्भर होगा।

दृष्टातो से समझिए। मेढक जन्मते ही अपनी रक्षा करने को समर्थ होता है, जनक उसकी संभाल नही करते इससे वह बिल्कुल नही खेलता। भोजन तलाश करना और समय पर स्त्री सहवास करना यही उसका कर्तव्य है। बस वह इन्ही दो कर्मों की गठरी है। मेढक की प्रत्येक छलाग पशुवृत्ति मात्र है, या तो भोजन पाने को या तो शत्रु से बचने को, खेलने को नही।

यही दशा मछलियो की है, यद्यपि बडी होने पर ये खेलती है अर्थात् बिना किसी काम के भी तैरा करती हैं। किंतु स्वभाव म मछलियाँ बहुत कम खेलती है इससे वह कुछ भी शिक्षा नही पा सकती इसके सिवाय कि घटी बजाने पर खाने को आ जायँ। कई मछलियाँ किनारे पर आदमी देखकर खाना मिलने की आशा से तट पर भी आ जाती हैं, हाथ पर से राम नाम की गोलियाँ भी चुन लेती है। एक सज्जन ने घटी बजाकर मछलियो को उसकी आवाज पर भोजन के लिए एकत्र करने का अभ्यास डाला। फिर घटी के लटकन मे डोरी बाँध कर उसमे कुछ बाँधकर उसे खेचने म मछलियो को घटी बजाना भी सिखाया। अब एक मछली घटी बजाती तो और भी आ जाती, किंतु भूख लगने पर घटी बजाकर इकट्ठा होना वे न सीख सकीं। याने वे 'एक पद' सयोग की शक्ति रखती है, उनका मन दो (भाव से) पदो का सयोग नही कर सकता।

अब जरा पशुओ मे नीचे भी चलना चाहिए क्योकि कई लोगो की बुद्धि मे चीटी और मधुमक्खी बहुत बुद्धिवाली होती हैं। किंतु यद्यपि चीटियो मे जाति-भेद है और कर्म-भेद है तथापि वे केवल अचेतन भारवाहक ही हैं, और जन्म से (न कि शिक्षा और ज्ञान से) उनकी प्रवृत्ति इस ओर होती है। एक चीटी दल निसर्ग से बच्चो को पालता है, दूसरा निसर्ग से अन्न ढो लाता है, तीसरा शत्रुओ से लडता है। यदि चीटियों को किसी काम मे लगा पाकर उनका पिछला हिस्सा

काट डालें तो भी बाकी हिस्सा उस काम से न हटेगा अर्थात् न खेलने के कारण उनमें अपने काम को जानने की बुद्धि नहीं है, सब काम जड़ता से किए जाते हैं। बड़े-बड़े चिउंटों से तो सर्जनों के ऐसे टाँके देने का काम लिया जाता है, अर्थात् चींटे के जबाड़ों में दोनों ओर का मांस फँसा कर उनका पिछला भाग काट दिया जाय तो अग्रभाग वैसे ही चिपटा रहेगा। पहले मानते थे कि ये एक दूसरे से बातचीत कर सकती है, क्योंकि जहाँ मिठाई पर एक चींटी पहुँची तो वहीं पचासों मौजूद! किंतु इसका कारण खाद्य पदार्थ का गंध है। चींटियाँ अपनी मित्र चीटियों को बहुत दिनों पीछे भी पहचान लेती है, और अपने निवास में आए शत्रुओं को फाड़ देती है, किंतु शत्रु का रुधिर मित्र के और मित्र रुधिर शत्रु के मल देने से वे उलटा व्यापार दिखाती हैं। मनुष्य की दृष्टि में इनका काम और परिश्रम मूर्खता है, बुद्धिमत्ता नहीं, यही हाल मधुमक्खी का है। सैकड़ों वर्षों से इनको हम आदर्श मानते आए है, किंतु बालक 'पशुवृत्ति' से ही अपने गुरुओं से अधिक जानते थे, इसी से उसने इनका अनुसरण नहीं किया।

पक्षियों में भी खेलने की प्रवृत्ति बहुत कम है। वे पक्षी जो वृक्षों पर और ऊँची जगहों पर गोल खोते बनाते है और जिनके बच्चे कमजोर होने से अधिक सँभाल के प्रार्थी होते हैं अधिक शिक्षा पा सकते है और अधिक खेलते हैं। इसके विरुद्ध भूमि पर खोता बनाने या अंडा देने वाले पक्षी जिनमें जन्मते ही बच्चों की आँख खुल जाती है और जो झट दौड़ने और खाने लगते हैं, नहीं खेलते और शिक्षा नहीं पाते।

द्वितीय श्रेणी में मुर्गे गिने जाने चाहिए। इनके बच्चे जन्म से २० मिनिट बाद ही कीड़ों पर चोंच मारते है, ये कभी नहीं खेलते, केवल कीड़ों के लिए लड़ते हैं। झटपट उनका जीवन शुरू हो जाता है और इसी से 'मुर्गी के बच्चे' यह मूर्ख के लिए गाली का शब्द है। मांसाहारियों के पंजे में कई शताब्दियों से पड़े रहने पर भी अब तक ये (मुर्गी, तीतर, पैरू, बतक) कुछ न सीख सके। पालतू मुर्गा प्रायः असंभव सी बात है, किंतु जहाँ चाहो वहाँ पालतू भेड़, बछेड़े, बछरे, सुअर तक देख लो। कौवे अधिक बुद्धिमान हैं, उच्च स्थानों में खोते बनाने वाले पक्षियों की बुद्धिमत्ता उसी क्रम से अधिकाधिक है जिस क्रम से वे अधिक खेलते हैं या नाचते हैं। सबसे उच्च दशा में तोते और मैना हैं, जो खेला करते हैं, मजाक पसंद करते हैं और इसीलिए सबमें अधिक बुद्धिमान है। हँसना बुद्धि का चिह्न भी है फल भी है।

पशुओं में आइए तो अधिक खिलाड़ी मिलेंगे। कंगारू में खेलने का उतना प्रेम नहीं है किंतु धीरे-धीरे उन्नति पद पर आकर देखते, बकरी और बिल्ली के बच्चे अपनी खेलवाड़ के लिए कहावतों में प्रसिद्ध है। बिल्ली का बच्चा अपनी बहन की पूंछ पर, या डोर के गुच्छ पर वैसे ही झपटता है जैसे कि बड़ा होने पर

खेल कूद, सोचिए तो, कितनी प्यारी है ! दोनों अपनी टाँगों को सब ओर फट-कारते हैं जिससे निश्चय हो जाय कि यह हमारी ही है । बछड़े का टक्राना उस भविष्यत् बड़प्पन का सूचक है जब वह अपने शृंग में बल से गर्वित होकर "सुरभीरनुनि सपरन" गमन करेगा । बछड़े का कूद कर ऊँचे टीले पर चढ़ जाना अपने पूर्वजों की वीरोचित प्रवृत्ति का नमूना है । जरा बंदरराज का भी ध्यान कीजिए, वे तो दिन भर खेला ही करते हैं ।

क्या हमको अपने (मनुष्य जाति के) बालकों का खेलना अच्छा नहीं मालूम देता ? उनमें भी खेल आगामी जीवन की दशा बताती है और उन्हें जीवन में योग्य बनाती है । बालक अपने पूर्वजों की नकल करता है । प्रकृति की खेलने की पाठ-शाला में जो पढ़ाया जाता है रटाई की शिक्षा उसकी भी नकल है । खेलने में बालक को विश्राम मिलता है, भूख लगती है, तन्दुरुस्ती होती है, यही नहीं, उसके मन और मस्तिष्क की भी रचना होती है । बालक २०वीं शताब्दी में नहीं जन्मता, और न महलों में जन्मता है, वह उस काल में जन्मता है, जब मनुष्य गुहावासी थे और प्रलय पर प्रलय से बचते फिरते थे । मनुष्य जाति ने जीवन का जैसे आरंभ किया था, बालक का सुकुमार मन भी जीवन का वैसे आरंभ कर, सभ्यता की उन्हीं दशाओं में होता हुआ, बड़ों का अनुकरण करता हुआ बढ़ता है । मनुष्य जाति में और मनुष्य बालक में उन्नति का क्रम पहचानने से यह स्वयं प्रकाशित होता है—पकड़ धकड़, शिकार, शांति, खेती और व्यापार ।

इस बीसवीं शताब्दी में जन्मे बालक को जो दिखाई देता है वही खाने का पदार्थ माना जाता है । कोले से लेकर खिलाने तक जो कुछ उन गुलाबी हथेलियों में आया, वही मुखारविंद में गया मानो वही खजाना है । देह के अंगों के अपने होने की परीक्षा भी मुँह में डालने से होती है । बिना कष्ट के मनुष्यों को भी पहले मुख ही अपनाएगा, पाकट तो थे ही नहीं । जहाँ रेंगकर चलना आया कि शिकार की सूझी, *माता की कैंची हो*, या पिताजी की अँगूठी, बच्चे के हाथ लगी कि मुखारविंद में ! *अब खिलौने*, पक्षी, गुड़िया, सबको पकड़ने का ही ध्यान होता है और यों बालक "शिकारी" की दशा में आ पहुँचा । साथ-ही-साथ उसे छिपना आ जाता है तकिए के पीछे, खंभे के पीछे, *माता ही के* पीछे, और कुछ भी न हो तो अपनी आँखों के *सामने हाथ ही* करके अपने को छिपा मान कर आगन्तुक पर हँसते हुए झपटना और आँखमिचौनी प्रभृति खेलना आदिम शिकारी मनुष्यों की नकल है और वन्य पशुओं से डरकर उनकी तरह ही छिपना है । साथ ही दरवाजे के बाहर 'हाऊ' गली में, जाओ तो 'भूत' रात को 'काला रीछ' अँधेरे में और कोई चौथे चोर, *मनुष्य जाति के* उस पुराकाल के स्मारक हैं ।

शिकार के साथ ही साथ लड़ाई और शांति दोनों आरंभ हो जाती हैं । लाल जो लाठियाँ लेकर बिल्ली को मारते फिरते हैं, तलवार बाँधते हैं, गुड़ियों की फौज

बनाकर किले जीतते हैं। गलियों में लड़कों के दल बन जाते हैं। पार्टी पार्टी में वहस होती है। राजा की कचहरी होती है, चोर का इसाफ होता है, साथ ही साथ म मट्टी के घर बनाए जाते हैं, रसोई की जाती है, दुकान जमती है, लेने-देने होता है घोड़ों पर सवार होकर ही फिरना होता है खेती की जाती है तोते पाले जाते हैं, कुत्ते, बिल्ली गिलहरियाँ तक पाली जाती हैं, उनमें प्रेम उत्पन्न होता है। इमारतें बनती हैं गुड़ियों के ब्याह होते हैं। और मरी गुड़ियाँ जलाई जाती हैं। यही सब कर्म करके मनुष्य जाति ने वर्तमान सभ्यता पाई है। फिर व्यापार आरंभ होता है, जैसे पैसा से जेब भरना, तुलसी के पत्तों को ही खेल म बेचना, कोई कुछ काम करने का कहे तो, 'मुझे क्या देंगे ?'' पूछना, मिठाई मिले तो चुप रहना नई टोपी मिले तो मदरसे जाना इत्यादि।

प्रकृति की पाठशाला म मनुष्य जाति ने जो १०००० वर्ष म किया है, बालक खेलने की महिमा से ८-१० वर्ष म वही करके जंगली गुहावासी से खासा व्यापारी बन गया। यहाँ पर बालक न अपनी गूढ़ शक्तियों की कवायद मात्र की। किंतु इस बात पर लोग यह आपत्ति उठावेंगे कि यों धन कमाना, चालाकी, लड़ना या शांति सीखें भी सही, किंतु मानसिक शिक्षा कहाँ हुई ? मानसिक शिक्षा की दृष्टि म तो खेल विश्राम ही है, मन एंजिन का फालतू धूम निकालने के लिए चिमनी के समान ही है।

किंतु खेल का देहगठन म जितना काम है, मस्तिष्क गठन मे भी उतना काम है। मस्तिष्क साधारण मास पिंड का विवर्त-सिद्ध उन्नत रूप मात्र है। देह की आवश्यकता के अनुसार स्नायु बनते व बढ़ते गए। मस्तिष्क देह का नौकर ही तो है। पहले पहल सृष्टि मे जब एक पदार्थ को दूसरे से संबंध करना पड़ता है तो आकर्षण बल से उस तक जाना या उसको अपने पास लाना जरूरी था। कई पास-पास के वृक्ष सरक सरक के मिलते हैं और पत्थर लुढ़क कर नीचे आ जाता है। इसी साधारण उपाय की उन्नति होते-होते कुछ जीवों को रेंगना आया और उसी के विवर्त से टाँगें बनी जिनसे जीव दूसरे पदार्थ तक जा सकता है। इसी उन्नति के साथ साथ ऊपर के मांस पिंड बढ़कर हाथ बन गए। फिर भिन्न प्रकार के पकड़ने (ज्ञान) के लिए नाक खुल गए और आँख ने तथा कान ने पकड़ने का नया उपाय पा लिया। यह सब आवश्यकतानुसार हुआ और साथ ही साथ त्वक्संवेदन और स्नायु जाल सारेप ले गया और तारघरों की तरह उन तारों का केंद्र एक मस्तिष्क तक चेतना पहुँचती है और वहाँ से मांस के बल्लों को आज्ञा मिल जाती है। या इंद्रिय चेतनाओं का ततुओं के द्वारा जाना जाकर काम करना, और काम की अधिकाई से एक केंद्र या तार महकमे के इंस्पेक्टर (मस्तिष्क) का बनाना छोटे मोटे जीवों से मनुष्य तक किस प्रकार हुआ है और खेलने ने इसमें कितनी सहायता दी है, इस बात को पाठक बहुत ध्यान देकर पढ़ें। बड़ा आनंद आवेगा।

एक प्रकार की मछियों में मस्तिष्क नहीं होता, केवल सारे देह पर ततुजाल ही बिछा हुआ होता है जिसके एक अग को छूने से स्नायु पर दबाव पडने से मछली भाग जाती है या अपने काँटे वढाकर शत्रु पर हमला कर देती है। वही ततुजाल 'जेली' मत्स्य के मुंह के चौतरफ कमरबध की तरह बध जाता है और "तारा मत्स्य" में गलेबद की तरह मुंह के ऊपर लिपटा जाकर अपनी शाखाएँ सब अगों में फैलाए रहता है।

कीडो में, सारे देह में व्याप्त ज्ञानततु की दोहरी गाँठ के साथ पीठ में जुडा हुआ वही गलेबद मुँह के पास होता है। यद्यपि देह के प्रत्येक अंग में ज्ञानततु की दो-दो गाँठें होती हैं, तो भी मुँह के पास गाँठों को अधिक काम करना पडता है इसलिए उन्नति होते-होते, प्रयोग बाहुल्य से वह गलेबद की-सी गाँठ बन जाती हैं। उनमें गधग्रहण की शक्ति होती है और रूप भी कुछ-कुछ पहचाना जाता है।

के मत्स्य में भी यही सिर पर गलेबद और पीठ पर ज्ञानततुओ का तार होता है, किंतु यहाँ गलेबद कुछ बढ जाता है। कीडो में तो उसे "नासिका-मस्तिष्क" कह सकते हैं, किंतु अब आँखो के निकल जाने से मस्तिष्क में तीन पोटलियाँ सी बन जाती हैं और इसे "नासा नेत्र" मस्तिष्क कह सकते हैं। उससे उच्च जीवो के मस्तिष्क में इतना ही विशेष है कि नेत्र पोटली और नासा पोटली मस्तिष्क में और भी प्रकट हो जाती है और उनके सिवाय ज्ञानततुसघ कुछ और भी बढ जाता है।

यहाँ से मस्तिष्क का बढना 'आरभ होता है। उस ज्ञानततु के छल्ले से मुँह तो बाहर निकल आता है और *ज्ञानततुसघ उलट कर* मेरुदड में घुस जाता है। मुँह से ऊपर ही मस्तिष्क है, उसकी पूँछ में, जो मेरुदड में प्रविष्ट है, अब न्यारी-न्यारी गाँठें नही रही किंतु एक ही संबध रेखा हो गई। मस्तिष्क में सामने ही "नासिका पोटली," बीच में "नेत्र पोटली" और बगल में "कर्ण पोटली" हुई और कटे हुए मस्तिष्क के बाकी अश के दो 'गोलार्ध' बने रह गए। इन जीवो से मनुष्य पर्यंत, इन गोलार्धों के बढने का ही विशेष है, नही तो मस्तिष्क का क्रम वही रहता है। यह गोलार्ध नासिका पोटली से विशेषत और औरो से गौणता से सहायता पाकर बढते जाते हैं। ये छोटी मछलियो में नासिका पोटली के समान, सालमन मीन में उससे द्विगुण, मेढक और छिपकली में तीनो पोटलियो से बडे चिडियाओं में मस्तिष्क से आधे, कुत्तो में प्रथम पोटलीत्रय से तिगुने, और मनुष्य में प्राय अठगुने हो जाते हैं। खाना अच्छा है या नही, यह निश्चय करने के लिए मुख के ऊपर ही नासा मस्तिष्क उत्पन्न हो जाता है, और देह के दसो भाग को अधिक खतरे रहने के कारण वही नेत्र मस्तिष्क हो गया। अब देह समाज की इस राजधानी में दो प्रतिनिधि आ गए और सब अगो के ज्ञानततुओं के प्रतिनिधि आ मिलने से उनकी समिलित शक्ति से मस्तिष्क गोलार्धरूपी पार्लमेंट स्थापित हो गई।

यही सब बातें मनुष्य की गर्भावस्था से लेकर उसी क्रम से होती हैं जिस क्रम से कि वह नीच जीवों से उच्च जीवों पर्यंत होती आई। गर्भ में रसाश के चौतरफ डोरी-सी फिर जाती है और वह डोरी छोरों पर लिपट कर बीच में धँस-कर सिर की तरफ निकलने लगती है। निकलते ही सामने नासा पोटली, आँखों से निकलने वाली डोरी से नेत्र पोटली, कानों से निकलनेवाली डोरियों से श्रोत्र पोटली बनकर इन तीनों से मस्तिष्क गोलार्द्ध निकलने लगता है और इन सबको लपेट कर इन सबसे बड़ा भाग रोक कर मस्तिष्क १०० में ८५ के अनुपात को पहुँच जाता है।

[प्रथम प्रकाशन समालोचक मार्च-अप्रैल, १९०४ ई०]

शिक्षा के आदर्शों में परिवर्तन

पहले यह माना जाता था कि विद्या कोई बाहरी चीज है जिसे गुरु पढने-वाले के हृदय म घुमडता है। पढनेवाले का हृदय कोरा कागज है और उस पर गुरु नए अक्षर और नए सस्कार अकित करता है। उसके खाली मस्तिष्क मे या पोल मन म कोई बहुमूल्य पदार्थ बाहर से भरा जाता है जैसा कि रहीम ने एक सुन्दर उपमा म कहा है

रहिमन विद्या पढन मे, बालक डीगा खाय।
तन घट अरु विद्या रतन, भरत हिलाय हिलाय॥

अथवा जैसा वैदिक काल की एक पुरानी गाथा कहती है —

यथा खनन् खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति।
एव गुरुगता विद्या शुश्रूषुरधिगच्छति॥

(जैसे कुदाली से खादते खोदते आदमी का पानी मिल जाता है वैसे सेवा करने वाले को गुरु मे स विद्या मिलती है।)

पर यह आदर्श अब बदल गया है। विद्या कोई बाहरी चीज नही है जो गुरु को बाहर स ठूँस कर भरनी पडती है। गुरु का काम शिष्य के हृदय की सोती हुई शक्तियो को जगाना है, उसके सहज और परम्परागत सस्कारो को चिताना है। पीढियो से पशुत्व और मनुष्यत्व के जो भाव उसके मस्तिष्क मे हैं उन्हे उत्तेजित करना, उनमें जो हानिकारक हो उन्हें मिटाना और जो अच्छे हो उन्ह प्रबल कर देना—ये गुरु का काम है। गुरु धोबी के गधे को जौनपुर का काजी नही बना सकता। कथा के अनुसार वह फिर रस्सी देखकर दौडा चला जावेगा। गुरु बाहर मे कुछ नहीं डालता, भीतर के अचेतन बलो को चमका देता है। गुरु का काम जिला करने वाले का, या रत्नो को घिसनेवाले का है, नई वस्तु गढनेवाले का नही। भवभूति इस सत्य को कुछ कुछ कह गया है

वितरति गुरु प्राज्ञे विद्यां तथैव, तथा जडे-
॥ च खलु तयोर्ज्ञाने शक्ति करोत्यपहति वा।
भवति च तयोर्भूयान् 'भेद' फल प्रति तद्यथा,
प्रभवति शुचिर्बिम्बोद्ग्राहे मणिर्न मृदा चय ॥

जिसकी आँखो पर पट्टी बँधी हो, उसे जैसे सडक की लीक पर छोड दिया और यह कह दिया कि इधर दहने हाथ जाना और उधर बाँए हाथ, और उपनिषदो की भाषा मे, वह 'पण्डित मेधावी गाधार देश को पहुँच जायगा।' वैसे ही गुरु मार्ग दिखा सकता है। अज्ञान-तिमिराध की आँखें वह ज्ञानाजन-शलाका से खोल सकता है, जन्माध को वह आँख नही दे सकता। विद्यार्थी अनगढ लकडी के कुदे नही होते, वे पशु होते हैं, मनुष्य होते हैं। प्रकृति उन्हे शिक्षा दे रही है। गुरु का काम केवल प्रकृति की सहायता करना है। बल्कि बालक निचले नही बैठ सकते। जो गुरु उन्हें चित्र की तरह निस्पदन बिठाकर स्थिरोपदेश बनाना चाहता है वह बडी भूल करता है। वह प्रकृति की चलती चक्की म ककर डालता है, प्रवृत्ति के स्वाभाविक रस के स्रोत को सुखाता है। चतुर गुरु वह है जो उनकी इस प्रवृत्ति को उचित मार्ग मे जोतकर वनस्पति-विज्ञान पदार्थ-परिचय और सहयोगिता की शिक्षा देता है। पहले यह माना जाता था कि सीखनेवाले सिखाया जाना नही चाहते। रीते मुँह पाठशाला म जाते हैं और छूटते ही तीर की तरह भागते हैं। खेलना वे चाहते हैं। पढना नही। खेलने से खराब होने की धमकी और पढने से नवाब होने की प्रलोभना कहावतो मे उनकी आँखो के सामने नचाई जाती थी। अब यह सब बदल गया है। खेलना बडी भारी शिक्षा है। जितने मनुष्यत्व के अग खेल मे और खुले मे सीखे जाते है उतने गुरु जी की तग कोठरी मे पट्टी और खडिया से नही। एक बात मे पहले पण्डित बनाने का यत्न किया जाता था, अब मनुष्य बनाने का यत्न आदर्श माना जाता है। यह दूसरी बात है कि आजकल की शिक्षा मे कुछ दोष बिना बुलाए आ घुसते हैं जैसे पहले की शिक्षा मे गुण अकस्मात् आ जाते थे। यहाँ केवल आदर्शो का विचार है, व्यावहारिक गुणदोष का नही। यही दावा है कि नई आदर्श प्रणाली जैसी चाहिए वैसी यहाँ चल रही है। प्रत्युत शिक्षा प्रणाली म यह देश बडी असमजस मे पडा हुआ है। न पुरानी चाल के अच्छे अश ही रहे है और न नई के गुण अभी चल सके हैं। इस लेख मे केवल सिद्धान्तो का विचार है।

विद्यार्थी पात्र (बरतन) माना जाता था। पर कुछ खोदनेवाले का सा परिश्रम करने की उससे आशा की जाती थी। ऊपर की वैदिक भाषा मे 'शुश्रूषु' पर ध्यान दीजिए। जिस समाज मे गुरु कुछ वेतन नही पाते थे, जहाँ विद्या का बेचना पाप था, वहाँ सेवा मे शिष्यो को जोतना अर्थशास्त्र के अनुसार था। गुरु

शिष्य के मन को सुधारने मे जो श्रम करता था उसका विनिमय (क्योंकि बदला अवश्य चाहिए चाहे वह माहवारी तनख्वाह हो चाहे खेती की रखवाली और चाहे समावर्तन के पीछे गुरुदक्षिणा की आशा) छात्रों की मेहनत से हो जाता था। सस्कृत का इतिहास इस सेवा के कितने ही उल्लेखो से भरा पड़ा है। कही गुरु बरसते पानी मे शिष्य को अपनी बह जानेवाली खेत की मेड बना देता है, कही वह चार सौ दुर्बल गायें सौंपकर उसे कहता है कि उन्हे बिना हजार किये जगल से मत लौटना, कही अपने वीर शिष्यो के द्वारा अपने पराजय का बदला किसी अभिमानी राजा से निकालना चाहता है और गुरुपत्नियाँ कही अपनी भूषण-प्रियता से राजमहिषी के कुडल मँगवाती हैं, कही विद्यार्थियो को गौओ का दूध पीना तो दूर रहा बछड़ो के मुँह पर लगा हुआ झाग पीने से रोकती है, कहीं रगड़कर इतनी मजदूरी लेती हैं कि विद्यार्थी पढने को प्रणाम करके हिमालय मे तपस्या करने चला जाता है और शिव जी को प्रसन्न करके जगत् भर से कहलाता है कि 'हता पाणिनिना वयम्'। हमे पाणिनी ने मार डाला। और विद्यार्थी पण्डित होकर किस प्रकार उस अपनी कठोर सेवा को प्रेम से याद करते हैं। मुरारि 'गुरुकुल क्लिष्ट' होने का अभिमान करता है और श्रीहर्ष अपनी कविता की गाँठें श्रद्धा से गुरुसेवा करनेवालो से खुलवाने की आशा करता है। पर इतना पानी भरने और लकड़ियाँ ढोने पर भी जिसे कुछ आ गया उसे आ गया, गुरु का कुछ दायित्व नही। अब सारा परिश्रम गुरु के सिर पर है। यदि विद्यार्थी न समझें तो उसका दोष है, उसे समझाने का ढग नही आता। वह बालक-मनोविज्ञान से अजान है। उसे प्रत्येक बालक के इतिहास से उसके वश-गत विचारो से, उसकी रुचियों से, जानकार होना चाहिए, जिससे वह उनका सुधार कर सके।

यह सम्भव नहीं कि हर किसी को हर कोई पढ़ा ले। तभी तो कहा गया है कि 'मातृमान्, पितृमान्, आचार्यवान् पुरुषो वेद'—जिसे माता, पिता, और पीछे आचार्य सिखावे, वही सीख सकता है। इसी से तो कहा गया है कि 'पितैवोधनमेत् पुत्रम्' पिता ही पुत्र को सिखावे। जितनी बालक की प्रवृत्तियो की जानकारी माता का और उसके पीछे पिता को होती है, उतनी बाहर के किसको हो सकती है। परन्तु सभ्यता के कारण काम करने की शक्ति इतनी बिखर जाती है कि प्रत्येक पिता अपने पुत्र को नही पढ़ा सकता और यह श्रम-विभाग का भी एक उदाहरण है कि सिखाने वालो का एक समूह पृथक् बन जाय। पुराने लोग अपने खेत मे अन्न उपजा कर अपने लिये आपही कपड़ा बुनते और लकड़ी काटने के लिये आपही कुल्हाड़ी बनाकर चौकियाँ बना लेते हों, पर अब किसान और जुलाहा, लोहार और खाती का काम न्यारा-न्यारा है। पर पढ़ाने के काम मे इतनी छीछालेदर है जितनी किसी मे नहीं। रोगी अपनी चिकित्सा आप नहीं

करता न वह चाहता है कि मेरे पुत्र की चिकित्सा अनाड़ी डाक्टर करे। अपना रुपया हम ऐसे कोठीवाले के यहाँ रखना नहीं चाहते, जो धन विनियोग के सिद्धांतों को न जानता हो। अपना मुकदमा हम स्वयं कचहरी में नहीं ले जाते और न ऐसे वकील को सौंपते हैं जो पैरवी न कर सकता हो। पर अपने बालकों की शिक्षा का भार हम या तो स्वयं उठाने का बहाना करते हैं, या ऐसे लोगों को सौंपते हैं जो डाक्टर या वकील या और कुछ बनने में अयोग्य सिद्ध होकर लड़के पढ़ाना प्रारम्भ करते हैं। जो और पेशों में सफलता नहीं पा सकते हैं उनके लिए मास्टरी का द्वार खुला है, आफिसों के क्लर्क अपने कलम रगड़ने से फुरसत के समय को लड़के पढ़ाने में लगाना चाहते हैं। और यह एक साधारण उक्ति है कि 'और कोई रोजगार नहीं हुआ तो चार लड़के ही पढ़ा कर गुजारा करेंगे'। शाहजहाँ ने भी तो अपनी कैद के दिनों में अपने सुपुत्र औरंगजेब से समय काटने के लिये पढ़ाने को लड़के माँगे थे।

विश्वविद्यालय के नए उपाधिधारियों को गुरु बनाना नाई का हाथ जम जाय इसलिये अपना सिर छिलवाना है। यों रटाई होती है, पढ़ाई नहीं। पढ़ाना भी एक कला है जिसे पूरी तरह न जाननेवाला निभा नहीं सकता। यों तो सिखाना कविता की तरह ईश्वर की देन है, सौ-सौ ट्रेनिंग स्कूलों में धक्के खाने पर भी वह योग्यता नहीं हो सकती जो 'जन्म के गुरु' की होती है, पर आजकल पढ़ाना भी पढ़ना चाहिए। पढ़ाने की परीक्षा होती है। समझाने का विज्ञान जानना पड़ता है। अच्छे पढ़ानेवालों का ढंग सीखना होता है। बालक मनोविज्ञान समझना होता है। विकासवाद के तत्त्व टटोलने पड़ते हैं। समाज-शास्त्र और प्राणिशास्त्र, ज्ञानतंतु शास्त्र और आचारशास्त्र का मनन करना होता है। यह कोई आवश्यक बात नहीं कि अच्छा विद्वान् अच्छा अध्यापक हो। कभी-कभी इसके बिलकुल विपरीत होता है। विद्वान् अपने को बालकों की बुद्धि के पलड़े पर नहीं बिठा सकता, वह चौमंजिले से खड़ा-खड़ा बालकों के क्षितिज के ऊपर देख सकता है। बालक छोटी सी झड़बेरी के फल तोड़ सकते हैं, ऊँचे आम के नहीं।

'मारना' गुरुओं का एक अमोघ शस्त्र है। जो बात समझाने से किसी शिष्य के मन में न बैठे वह मार कर बिठाई जाय। हजरत सुलेमान कह गए हैं कि 'लाठी को बचाओ और बालक को बिगाड़ो'। मनुस्मृति में शिष्य और पुत्र के मारने की मनाई नहीं है और भाष्यकार पतंजलि खड़िकोपाध्याय की चपेटिकाओं को जगह जगह याद करके एक पुराने श्लोक को उद्धृत करते हैं जिसके अनुसार चोर और क्रुद्ध गुरु के भयदायक पड़ोस से दूर रहने में ही भलाई कही गई है :

दूरादावसथान्मूत्रं दूरात्पादावसेचनम्।
दूराच्च भाव्यं दस्युभ्यो दूराच्च कुपितोद्गुरोः॥

एक और स्थान पर उन्होने गुरु के हाथो को अमृतमय कहा है, परन्तु ताड़न मे गुण और लाड लडाने मे दोष समझने की पुरानी कहावत है :

सामृतैः पाणिभिर्घ्नन्ति गुरवो न विषोक्षितैः।
लालनाश्रयिणो दोषास्ताड़नाश्रयिणो गुणाः॥

'जोशी की चोट और विद्या की पोट' वाली कहावत के बल पर गुरु की 'मूरख समझावनी' राजदण्ड से भी बढकर चला करती थी। वर्तमान शिक्षा-विज्ञान ने यह प्रतिभा भी तोड दी है। आजकल बालक को मारना एक कायरपन है, जिसका सहारा यह जानकर कि बालक लट्ठ के जवाब मे लट्ठ नही मार सकता, केवल कापुरुष ही लेते हैं। आचरण सम्बन्धी अपराधो मे शासन के लिये मारने की उपयोगिता मानी गयी है पर वह भी भय उपजाने के लिए और दण्ड की बुद्धि से पीडा पहुँचाने और बदला लेने की नीयत से नही। अधिक मार से बालक निर्लज्ज हो जाते हैं और बुद्धि के दोषो, न समझने और न याद रखने आदि पर शारीरिक दण्ड का प्रयोग अनुचित है। गुरु की आँख का दण्ड, साथियो के सामने हँसे जाने का दण्ड, गुरु के प्रसाद का पुरस्कार अब इस प्राचीन प्रथा को निर्दय और अनावश्यक सिद्ध करते जाते हैं।

यह कहा जा चुका है कि पहले पण्डित बनाने का यत्न किया जाता था, अब मनुष्य बनाने का। पहले भाषा के जानने पर अनावश्यक जोर दिया जाता था, अब विषयो पर ध्यान है। लैटिन या ग्रीक, या सस्कृत का कोश और व्याकरण की रटाई के भरोसे पढना विद्या की सीमा थी। कितने वर्ष व्यर्थ इस अलूनी सिला को चाटने मे बीतते थे। अब भाषा पढाई जाती है तो वह ज्ञान का लक्ष्य नही मानी जाती, ज्ञान का साधन मानी जाती है। भाषा 'भाषा' की तरह कान और मुख को सिखाई जाती है, तोते की तरह स्मृति को नही। न अधिकारी और अनधिकारी का भेद था। उदार शिक्षा और विशिष्ट अभ्यास मे कोई अन्तर नही किया जाता था। सस्कृत भाषा को भाषा समझ कर नही पढा जाता था, परन्तु प्रत्येक मनुष्य ही नागोजी भट्ट के सच्छेदार परिष्कारो मे उलझकर रात बिता कर फिर सवेरे जहाँ से चला वहीं लघाई के भाडे की कुटिया पर खडा मिलता था। तभी तो ज्ञानी पश्चाताप करते थे कि काल के आने पर 'डुकृज करणे' नही बचाता। जो समय शब्दो मे बीतता था, वह भावो मे लगाया जाता है। गणित, पदार्थ-विज्ञान, रसायन आदि की शिक्षा मनुष्यो मे 'क्यो' और 'कैसे' के प्रश्नो को नित्य जगाती जाती है। पहले जो आचार्य ने लिखा है वह बिना समझे ही मानना होता था, पीछे वर्षों के श्रम के बाद चाहे वह समझ मे आवे, चाहे न आवे। अब गणित के नियम सूत्र या गुर से नही सिखाये जाते पचास सवाल करके स्वयं गुर या सूत्र निकालने के लिए शिष्य तैयार किया जाता

है। स्मृति को अनावश्यक बोझ से लादा नहीं जाता, परन्तु उसे जागती हुई समझ का जेबी बटुआ बनाया जाता है। इतिहास केवल तारीखों की कड़ी या राजाओं की नामावली नहीं रहा है, वह मनुष्यों के व्यवहारों के अनिष्फल परिणामों का अनुशीलन है। भूगोल केवल नदियों और शहरों की सूची नहीं है, वह जल, स्थल और ऋतुओं के परिवर्तन और बसती के बदलने के कारणों की खोज है। एक बात में पहले हम छात्रावस्था में मुँह में भरी हुई घास की जन्म भर जुगाली करते थे, अब काम की चीजों को चुन सकने और ले सकने के लिए तैयार कर दिए जाते हैं। अपनी खोज से पाया हुआ आलू दूसरे के दिए हुए जमीकंद से अच्छा है—इस सिद्धांत के लिए छात्र तैयार किए जाते हैं। गुरु का काम साधारण और उदार शिक्षा से मन का मैल धो देना है, पीछे जोजी अपने आप जैसा रंग चाहे वैसा चढ़ा ले।

पहले जल्दी बहुत की जाती थी। आठ वर्ष की नियत अवस्था तक जिसे ब्रह्मचर्य पा सकने की प्रतीक्षा न थी उसका उपनयन पाँच वर्ष की ही उमर में किया जा सकता था। पतंजलि ने आह भरकर कहा है कि 'वेदमधीत्यत्वरिता प्रवक्तारो भवति' और मध्य समय के योरप के विश्वविद्यालयों में जितनी छोटी उम्र में डाक्टर की पदवी पाई जाती थी उतनी ही प्रतिष्ठा होती थी। यहाँ भी यह घमंड मारा जाता है कि 'अमुक ने बारह वर्ष की अवस्था में मैट्रीकुलेशन कर लिया था'। इसका फल वही होता था, जो बालविवाह का होता है। उधर बाबा जी को गोदी में नाती खिलाने का सौभाग्य मिलता है, इधर दूध के दाँत टूटते न टूटते त्रिकोणमिति होने लगती है। जब सीखने की प्रकृत अवस्था आती है तब कमर झुक और आँख धँस चुकती है। प्रकृति का पृष्ठ खुलने के बदले बन्द हो जाता है। वर्तमान शिक्षाशास्त्र समय को यों सरपट दौड़ाने की सम्मति नहीं देता। वह कहता है कि जब तक देह का पूरा विकास न हो ले तब तक मन को लादने का उद्योग न करो, नहीं तो मिठाई के भार के छींके के टूटने का शोकमय नाटक अभिनीत होगा।

एक पाठशाला का वार्षिकोत्सव था। मैं भी वहाँ बुलाया गया था। वहाँ के प्रधान अध्यापक का एक मात्र पुत्र, जिसकी अवस्था ८ वर्ष की थी, बड़े लाड से नुमाइश में मिस्टर हादी के कोल्हू की तरह दिखाया जा रहा था। उसका मुँह पीला था, आँखें सफेद थी, दृष्टि भूमि से उठती नहीं थी। प्रश्न पूछे जा रहे थे। उनका वह उत्तर दे रहा था। धर्म के दस लक्षण वह सुना गया, नौ रसों के उदाहरण दे गया। पानी के चार डिग्री के नीचे शीतता में फैल जाने के कारण और उससे मछलियों की प्राणरक्षा को समझा गया, चंद्रग्रहण का वैज्ञानिक समाधान दे गया, अभाव को पदार्थ मानने न मानने का शास्त्रार्थ कह गया और इग्लैंड के राजा आठवें हेनरी की स्त्रियों के नाम और पेशवाओं का

कुर्सीनामा सुना गया। यह पूछा गया कि तू क्या करेगा। बालक ने सीखा सिखाया उत्तर दिया कि मैं यावज्जन्म लोक-सेवा करूँगा। सभा 'वाह वाह' करती सुन रही थी, पिता का हृदय उल्लास से भर रहा था। एक वृद्ध महाशय ने उसके सिर पर हाथ फेरकर आशीर्वाद दिया और कहा कि जो तू इनाम माँगे वही दें। बालक कुछ सोचने लगा। पिता और अध्यापक इस चिंता मे लगे कि देखें यह पढाई का पुतला कौन सी पुस्तक माँगता है। बालक के मुख पर विलक्षण रंगो का परिवर्तन हो रहा था, हृदय मे कृत्रिम और स्वाभाविक भावो की लडाई की झलक आँखो मे दीख रही थी। कुछ खाँस कर, गला साफ कर नकली पर्दे के हट जाने पर स्वय विस्मित होकर बालक ने धीरे से कहा 'लड्डू'। पिता और अध्यापक निराश हो गए। इतने समय तक मेरा श्वास घुट रहा था। अब मैंने सुख से साँस भरी। उन सबने बालक की प्रवृत्तियो का गला घोटने मे कुछ उठा नही रखा था। पर बालक बच गया। उसके बचने की आशा है क्योकि वह 'लड्डू' की पुकार जीवित वृक्ष के हरे पत्तो का मधुर मर्मर था, मरे काठ की आलमारी की सिर दुखाने वाली खडखडाहट नही।

[प्रथम प्रकाशन : विद्यार्थी : १८ नवम्बर, १६१४ ई०]

अवंतिसुंदरी

अवंतिसुंदरी राजशेखर की स्त्री थी। स्त्री के वर्णन मे पति का वर्णन करना पड़ता है।

राजशेखर ने अपने को 'यायावरीय' अर्थात् यायावर ऋषि के कुल मे उत्पन्न कहा है। जहाँ-जहाँ काव्यमीमांसा मे उसने अपना मत पुराने आचार्यों से भिन्न दिया है वहाँ अर्थशास्त्र के 'इति कौटिल्य' 'नेति-कौटिल्य' के ढग पर 'इति यायावरीय' नेति यायावरीय' आदि लिखा है। धनपाल ने 'तिलकमजरी' के आरम्भ मे उसे यायावर कवि कहा है। उदयसुंदरी के कर्ता सोड्ढल ने भी उसे यायावर कहा है। उसका प्रपितामह अकालजलद महाकवि था। मालूम होता है कि उसका नाम कुछ और था, 'भेकै कोटरशायिभि ' आदि चमत्कारी श्लोक पर से, जो सुभाषितावलियो मे 'किसी दाक्षिणात्य' के नाम से दिया है और जिसमे अकालजलद पद आया है, उसका यह नाम पडा। ऐसे ही क्रीडाचद्र, चडालचद्र, आदि कवियो के नाम पड गए हैं। चेदि देश का भूषण सुरानद, तरल, कविराज आदि प्रसिद्ध कवि भी उसी यायावर कुल मे हुए थे। राजशेखर का पिता दुर्दुक या दुहिक महामत्री था और उसकी माता का नाम शीलवती था।

राजशेखर कन्नौज के राजा महेंद्रपाल का उपाध्याय था और उसके पुत्र महीपाल से भी सम्मानित था। सियोडोनी लेख के अनुसार महेंद्रपाल विक्रम सवत् ९६० और ९६४ मे और महीपाल ९७४ मे विद्यमान था। यही राजशेखर का समय है।

राजशेखर ने पहले *बालरामायण* और *बालभारत* की रचना की और 'बालकवि' उपनाम पाया। विद्धशालभजिका' (बिंधी पुतली) और कर्पूरमजरी नाटिका' (प्राकृत) भी उसकी रचना हैं। पीछे उसने 'काव्यमीमांसा' नामक अपूर्व ग्रंथ बनाया जिसका सस्करण एक ही अधूरी प्रति पर से गायकवाड-प्राच्य-

-पुस्तक-माला मे निकला है[1]। ऐसे ग्रथ को खोज निकालने और छापने का प्रभूत यश मि० दलाल, पं० अनतकृष्ण शास्त्री और गायकवाड सयाजीराव महाराज को है। हेमचद्र ने 'काव्यानुशासनविवेक' मे राजशेखर के 'हरविलास' काव्य का उल्लेख करके उसमे से दो श्लोक उद्धृत किए हैं। उज्ज्वलदत्त ने 'उणादिसूत्र-टीका' मे भी 'हरविलास' का एक आधा श्लोक उद्धृत किया है। यह 'हरविलास' महाकाव्य अभी नही मिला। सभव है कि 'सूक्तिमुक्तावली' मे जो कई कवियो की प्रशसा के श्लोक दिए हैं, वे इसी काव्य के उपक्रम के हो अथवा 'काव्य-मीमासा' के अनुपलब्ध अश मे से हो।

'काव्यमीमासा' मे भुवनकोश नामक भूगोल विषयक बड़े ग्रथ की रचना का भी उल्लेख है। उज्ज्वलदत्त ने एक आधा श्लोक राजशेखर के नाम से दिया है जिससे मान सकते हैं कि उसने कोई कोश भी बनाया हो।

चारण जाति के मगन मोतीसर[2] जब चारणो को बढावा देते हैं तो उन्हें 'अवरी का केड' अर्थात् अवरी (यायावर) के वशज कहते हैं। यायावर एक प्रकार के वानप्रस्थ ऋषि या ब्रह्मज्ञानी गृहस्थ होते थे जो सदा चलते ही रहते थे, उनका नियत स्थान न था। सम्भव है कि चारण उन्ही यायावरो मे से हो। राजशेखर ने काव्य मीमासा मे कवियो के दस दर्जे गिनाए हैं। काव्यविद्यास्नातक, हृदय-कवि, अन्यापदेशी, सेविता, घटमान, महाकवि, कविराज, आवेशिक, अविच्छेदी और सक्रामयिता। जो सब भाषा, सब प्रबध और सब रसो मे स्वतन्त्र हो वह 'कविराज' कहलाता है। राजशेखर 'कर्पूरमजरी' मे अपने को 'कविराज' कहता है।

इस राजशेखर की स्त्री अवतिसुदरी थी। वह चाहुआण (चौहान) कुल की थी। ब्राह्मणो की क्षत्रिय स्त्री होना कोई विरल बात नही है। एक ही ब्राह्मणो की ब्राह्मण स्त्री से सतान ब्राह्मण और क्षत्रिय स्त्री की सतान के क्षत्रिय होने के कई प्रमाण हैं, जैसे राजा बाउक के लेख मे प्रतीहारो की उत्पत्ति। 'कर्पूरमजरी नाटिका' का पहला अभिनय उसी की इच्छा से हुआ था।[3]

वह बड़ी विदुषी थी। 'काव्यमीमासा' मे तीन जगह उसका मत पति ने उद्धृत किया है, जिससे मालूम होता है कि उसने काव्यशास्त्र पर कोई ग्रथ लिखा होगा।

१ इस सस्करण की भूमिका में राजशेखर विषयक बातें अच्छी तरह सगृहीत है। टामस की कवीन्द्रवचनसमुच्चय की भूमिका में भी हैं।

२ ना० प्र० पत्रिका, भाग १ अक २ पृष्ठ १३३, टिप्पणी २२

३ चाहुआणकुलमौलिमालिया राअसेहरकइंदगेहिणी।
भत्तुणो किदिमवंतिसुंदरी सा पउंजइदुमेदमिच्छइ। —(कर्पूरमजरी .-११)

(१) "कविता का 'पाक' क्या है ? वामन के मतवाले कहते हैं कि कवि ऐसे पद बैठावे जो बदले न जा सकें, वही 'शब्दपाक' है। इस पर अवंतिसुंदरी का मत है कि यह तो अशक्ति हुई, पाक नहीं। एक वस्तु पर महाकवियों के अनेक पाठ भी पाकवान् होते हैं, इसलिये रसोचित सूक्ति होना ही पाक है। उसने कहा भी है—गुण, अलंकार, रीति, उक्ति, शब्द, अर्थ इनके गाँठने का क्रम जैसे विद्वानों को अच्छा लगे, वही मेरे मत में 'वाक्यपाक' है। कहनेवाला भी हो, अर्थ भी हो, शब्द भी हो, रस भी हो, तो भी कुछ और चीज बाकी रह जाती है जिसके बिना वाणी मधु नहीं टपकाती।" (पृष्ठ २०)

(२) "अर्थ चाहे रस के अनुगुण हो या विगुण, काव्य में कविवचन ही रस उपजाते या बिगाड़ते हैं, अर्थ नहीं।" पाल्यकीर्ति का मत है कि वस्तु का रूप कैसा ही हो, रसीलापन तो कहने वाले के अधीन है। जिस अर्थ को रागी सराहेगा, उसीको विरागी धिक्कारेगा और मध्यस्थ उससे उदासीन रहेगा। अवंतिसुंदरी कहती है कि वस्तु के रूप का स्वभाव नियत नहीं है, वह तो विदग्ध के कहने के ढंग के अधीन है, उससे जाना जाता है। वह कहती है कि काव्य में उक्ति के वश से गुण या अगुण होते है, वस्तुस्वभाव कवि के किसी काम का नहीं, चंद्रमा की स्तुति करनेवाला उसे 'अमृतांशु' कहता है और धूर्त उसकी निंदा करता हुआ उसे 'दोषाकर' (रात करनेवाला, और दोष+आकर) कह डालता है।" (पृष्ठ ४५-४६)

(३) काव्य की चोरी पर राजशेखर ने बहुत लिखा है। अंत में सिद्धांत किया है कि 'न तो बनिये अचोर हो सकते हैं और न कवि अचोर, वही बिना बदनामी के गुलछर्रे उड़ाता है जो छिपाना जाने[1]।

इस विचार में पूर्वपक्ष किया है कि चोरी न सिखानी चाहिए, क्योंकि समय बीत जाने पर मनुष्य की और चोरियाँ हट जाती है, किंतु वाक्चौर्य पुत्र-पौत्रों तक भी नहीं हटता।[2]

इस पर अवंतिसुंदरी कहती है—"इस (दूसरे कवि) की प्रसिद्धि नहीं, मेरी है, इसकी प्रतिष्ठा नहीं, मेरी है, इसका संविधानक (प्लाट) अक्रम है, मेरा क्रमयुक्त है, इसके वचन गिलोय के जैसे, मेरे अंगूर के ऐसे, यह भाषा-विशेष का आदर नहीं करता, मैं करता हूँ, इसके (रचना के) जाननेवाले मर गए, इसका कर्त्ता देशांतर में है, यह बीती बात को बाँधने या अशुद्ध अथवा क्रोधयुक्त रचना

१ नास्त्यचौर कविजनो नास्त्यचौरो वणिग्जन ।
स नन्दति विना वाच्य यो जानाति निगूहितुम् ॥
२ पुंस कालातिपातेन चौर्यमन्यद् विशीर्यति ।
अपि पुत्रेषु पौत्रेषु वाक्चौर्य न विशीर्यति ॥

पर अवलंबित है, इत्यादि कारणों से शब्द या अर्थ के चुराने में मन लगावें" (पृ० ५७)

अवंतिसुंदरी ने प्राकृत कविता में आनेवाले 'देशी' शब्दों का एक कोश बनाया और उसमें प्रत्येक शब्द के प्रयोग के स्वरचित उदाहरण दिए। हेमचंद्र ने अपनी 'देशीनाममाला' में दो जगह (१।८१, १।१२५) अवंतिसुंदरी के मतभेद का उल्लेख करके उसकी उदाहरण कविता उद्धृत की है।

(१) 'इंदमहं'-हेमचंद्र का अर्थ कुंवारी का पुत्र, अवंतिसुंदरी का अर्थ—कुमार अवस्था, जैसा कि उसीने उदाहरण दिया है[1]—

उवहसए एराणि इंदो इंदीवरच्छि एताहे।
इंदमहपेच्छिए तुह मुहस्स सोहं णिअच्छंतो॥[2]

(२) ओहुर=खिन्न (हेमचंद्र), झुका या लटका हुआ (अवंतिसुंदरी), जैसा कि उसीने उदाहरण दिया है—

खणमित्तकलुसिआए सुलिया सवयल्लरोसमोत्थरिअं।
भमरभरोहुरयं पकय व भरिमो मुंह तीए॥[3]
किं त पि हु वीसरिअं णिक्किव जं गुरुअणस्स मज्झम्मि।
अहिधाविऊण गहिओ त ओहुरउत्तरीआए॥[4]

ऐसी प्रौढ़ नायिका के पति कि स्त्रीशिक्षा के विषय में क्या विचार होने चाहिए? "पुरुषों की तरह स्त्रियाँ भी कवि हों। संस्कार तो आत्मा में होता है, स्त्री या पुरुष के विभाग की अपेक्षा नहीं करता। राजाओं और मंत्रियों की बेटियाँ, वेश्याएँ, कौतुकियों की स्त्रियाँ, शास्त्रों में निष्णात बुद्धिवाली और कवि देखी और सुनी जाती हैं"। (काव्यमीमांसा, पृ० ५३)

[प्रथम प्रकाशन. नागरी प्रचारिणी पत्रिका भाग-२, अंक-१, १९२१ ई०]

१ यदुराहृरति स्म।
२ हँसी करता है, इन्द्राणी को (भी) इंद्र, हे कमलनयनी, अब, हे जवानी से भरी हुई, तेरे मुख की, शोभा को, देखता हुआ।
३ क्षण मात्र में ही रूठी हुई (नायिका) का, बिखरे बालों की बेल से छिपा हुआ, भौंरों के बोझ से झुका हुआ कमल-सा, मानते हैं, मुख, उसका।
४ क्या, वह, भी, हो, भूल गया, निर्दय!, जो, गुरुजनों के, मध्य में, दौड़कर, पकड़ा था, तू, (मुझ) लटकते हुए दुपट्टे वाली ने?

पुरानी पगड़ी

संस्कृत वैयाकरण लोग पगडी के अर्थ मे 'उष्णीष' शब्द लाते है जिसका अर्थ 'गर्मी का मारनेवाला' होता है। शब्दार्थ से अवश्य ही यह सिर मे लपेटने की चीज होनी चाहिए। यह कई रग की होती होगी, क्योकि जो अभिचार (शत्रुमारण आदि) के यज्ञ हैं उनकी विधि मे आता है कि 'ऋत्विज् लोग लाल उष्णीष पहनकर काम करते हैं' (लोहितोष्णीषा ऋत्विज प्रचरन्ति)। यजुर्वेद (शुक्ल) की सहिता मे (३८।३) गौ के बांधने की रस्सी की प्रशसा मे कहा है कि 'तू अदिति का रस्सा है, इन्द्राणी का उष्णीष है।' इससे सिद्ध हुआ है कि स्त्रियो का उष्णीष भी कोई लम्बी, बांधने की, लपेटने की चीज होती होगी, ओढने की नही। सभव है कि स्त्री पुरुष दोनो का उष्णीष एक सा होता हो, जैसा पुराने ईरानियो के यहां होता था। इस मत्र की व्याख्या मे 'शतपथ ब्राह्मण' मे कहा है—'इन्द्राणी इद्र की प्रिय पत्नी है उसका उष्णीष विश्वरूपतम है' (१४ २ १ ८)। राजसूय प्रकरण म जहां अभिषेक और शस्त्रधारण के पहले राजा को वस्त्र पहनाए जाते हैं[1] वहां शरीर से सटा हुआ एक तार्प्य नामक कपडा पहनाया जाता है। श्रौतसूत्र और उसके भाष्यो मे तार्प्य का अर्थ तृपा नाम के घास का बना हुआ, बुनते समय तीन बार घी या जल पिलाया हुआ वस्त्र, या वल्कल, या तीन बार घी मे भिगोया हुआ वस्त्र दिया है। जो हो, उसकी प्रशसा मे लिखा है कि 'तस्मिन् सर्वाणि यज्ञरूपाणि निष्यूतानि भवन्ति' (शतपथ, ५-३-५-२०) जिसका अर्थ इसके सिवा कुछ नही हो सकता कि उस पर सब यज्ञ की तसवीरें, या यज्ञपात्र, वेदि आदि की तसवीरें सुई से काढ़ी हुई होती हैं। इसके स्वारस्य से इद्राणी के उष्णीष के विशेषण 'विश्वरूपतम' का यही अर्थ करना पडेगा कि सबसे अच्छे चित्रोवाला, सबसे अच्छे कसीदेवाला, सबसे बडी सुन्दरतावाला। यह नही

१ इसी ग्रथ म 'राजसूय' निबध पृ० ७२—सपादक

कह सकते कि वह पजाबियो के सालू की तरह पूरा कसीदे का बना हुआ होता था, या राजपूताने की सुगडी की तरह रग-बिरगा ।

जो हो, राजसूय मे तार्प्य पहनाए पीछे एक पांडव पहनाया जाता था जिसका अर्थ बिना रँगी ऊन का कबल होता है। तीसरा कपडा अधीवास या सब कुछ ढकनेवाला लबा चोगा है। चौथा वस्त्र हमारा पहचाना हुआ मित्र उष्णीष है। इसे सिर पर लपेटकर दोनो छोर आगे की ओर लटकाकर धोती की मोरी मे दोनो ओर खोंस लिए जाते थे, या नाभि के पास ही खोसे जाते थे। (कात्यायन श्रौतसूत्र १५-५-१३, १४) इस प्रकरण के ब्राह्मण का अनुवाद यह है—"फिर उष्णीष को समेटकर आगे इकट्ठा करता है, इस मन्त्र से कि 'तू क्षत्र की नाभि है', इससे जो क्षत्र की नाभि है उसे ही यो इसमे (यजमान मे) धरता है। कुछ लोग सब ओर लपेटते हैं, यह कहते हुए कि यह इसकी नाभि है, सब तरफ ही यह नाभि जाती है, सो ऐसा नही करना चाहिए, आगे ही इकट्ठा करे, आगे ही तो नाभि होती है" (शतपथ ५, ३, ५, २३, २४)। इससे जान पडता है कि उस समय भी पगडी लपेटने की दो चालें थी, परन्तु दोनो सिरे कमर तक अवश्य लाये जाते थे ।

किरीट शब्द भी सिर के ढकने की चीज के अर्थ मे आता है। यह वैयाकरण पाणिनि से पुराना है, क्योकि उसने उसे अर्धर्चादि गण (२।४।३१) मे पढा है। यदि यह सदेह किया जाय कि गणपाठ मे शब्द समय-समय पर बढ़ाए गए हैं तो उणादि सूत्र ४।१८४ ('कृतॄकृपिभ्य कीटन्') से यह शब्द बनता है जिसमे व्यासकार के मत से 'तिरीट' वाला 'तु' धातु भले पीछे जोडा गया हो तो भी किरीट का कृ तो पुराना मानना पडेगा। उणादि सूत्र पाणिनि से पहले के है। मुकुट शब्द इतना पुराना नही है ।

हिंदुस्तान मे सबसे पुरानी मूर्तियाँ जो कही मिली हैं वे भरहुत के स्तूप की भित्तियों पर हैं। उनका समय ईसा से पहले तीसरी शताब्दी माना गया है। वहाँ के चित्रो मे पुरुष बहुत सुदर साफा बाँधे हुए बनाए गए हैं। विशेष करके कनिंघम के ग्रंथ 'स्तूप आफ भरहुत' मे प्लेट २१ के चित्र ३ मे नागराज चक्रवाक और प्लेट २४ के चित्र २ और ३ देखिए। इसमे साफा या फेंटा बहुत सुदर लपेटो से बाँधा गया है और सामने एक मुरेठा या गेंद-सी बनाई गई है। यदि श्रौतसूत्र मे साफ न कहा गया होता तो इन चित्रो को देखकर शतपथ ब्राह्मण के 'आगे समेटकर इकट्ठा' करने का अर्थ ऐसा मुरेठा बनाना ही समझ मे आता। उस समय स्त्रियो का वेश कैसा था यह उसी के प्लेट २३ मे सिरीमा देवता के चित्र से जान पडेगा। इसमे एक छोटा रूमाल सिर पर लपेटा हुआ है। बौद्ध जातक ग्रथो मे लिखा है कि धनवानो की सुदर-सुदर पगडियाँ सजाना और बनाना नाइयो का काम था ।

चीनी यात्री हुएन्सांग, जो हिंदुस्तान मे ईसवी सन् की सातवी शताब्दी के पिछले भाग मे आया था, यहाँ के लोगो के बारे मे लिखता है कि लोग सिर पर टोपी या मुकुट पहनते हैं और उनके साथ फूलो की माला या जडाऊ सरपेच। व्रात्यो की टेढी पगडी के लिए देखिए पत्रिका, भाग १, पृ० ७६,७७ मे मेरी टिप्पणी।[1]

[प्रथम प्रकाशन नागरी प्रचारिणी पत्रिका : १९२२ ई०]

१ दे०—इस ग्रंथ के पृ० ११८ पर 'तिर्यङ् मद्यमुष्णीषम्'।—संपादक

पंच महाशब्द

(१)

गोसाईं तुलसीदास जी के 'रामचरितमानस' में, 'बालकांड' में, राम की बरात के जनक के द्वार पर पहुँचने के वर्णन में लिखा है कि—

पंच सबद धुनि मंगल गाना। पट पाँवड़े परहिं बिधि नाना॥

यहाँ पर साधारण लोग तो, 'पंच सबद' का अर्थ पाँच मंगल गीत, या पाँच देवताओं के स्तोत्र, या पाँच मंगल बाजे करते हैं किंतु काशीनरेश की अनुमति से बनाई हुई 'रामचरितमानस' की एक टीका में लिखा है कि—

तंत्री, ताल, सुझाँझ पुनि, जानु नगारा चार।
पंचम फूँके से बजे, पाँच शब्द परकार॥

कनड़ी भाषा के ग्रंथ 'विवेकचिंतामणि' में लिंगायत ग्रन्थकार ने पंचमहाशब्द के बाजों के नाम यों गिनाए हैं—शृंग, तमट, शंख, भेरी और जयघंटा।[1]

प्राचीन शिलालेख और ताम्रपत्रों में स्वतंत्र राजाओं, सामंतों, मंडलेश्वरों और कभी-कभी राज्य के बड़े अधिकारियों के नाम के साथ 'समधिगतपंचमहाशब्दः' यह उपाधि मिलती है। कहीं-कहीं जिस अधीश्वर की कृपा से पंचमहाशब्द मिले हों उसका नाम भी दिया होता है, जैसे 'श्रीमहेंद्रपादप्रसादासनावाप्तपंचमहाशब्द' या '(अमुक)—प्रसादावाप्तपंचमहाशब्द.'। इससे जान पड़ता है कि अपने यहाँ पाँच (विशेष बाजे बजवाना बड़े राजाओं का चिह्न समझा जाता था और सामंत तथा अधिकारी अपने यहाँ उन्हें तब तक नहीं बजा सकते थे जब तक कि अधिराज प्रसन्न होकर उन्हें 'पंचमहाशब्द' का सम्मान न दे देते थे। यह भी एक प्रकार का रुतबा था जैसे कि मुगल बादशाहों के यहाँ से माही मरातिब (मछली के झंडे

१ इंडि० एंटि० जिल्द १२, पृ० ९६

चीनी यात्री हुएन्सांग, जो हिंदुस्तान मे ईसवी सन् की सातवी शताब्दी के पिछले भाग मे आया था, यहाँ के लोगो के बारे मे लिखता है कि लोग सिर पर टोपी या मुकुट पहनते हैं और उनके साथ फूलो की माला या जडाऊ सरपेच। व्रात्यो की टेढी पगडी के लिए देखिए पत्रिका, भाग १, पृ० ७६,७७ मे मेरी टिप्पणी।[1]

[प्रथम प्रकाशन : नागरी प्रचारिणी पत्रिका : १९२२ ई०]

१ दे०—इस ग्रथ के पृ० ११८ पर 'तिर्यङ् नद्धमुष्णीषम्'।—सपादक

अर्थ नौ प्रकार के बाजों का एक साथ बजना कहा है किंतु फारसी कोशों के अनुसार नौबत एक ही बड़े वाद्य का नाम था। पाँच दफा बजने के विषय में यह लिखा है कि सिकंदर जुल करनैन के समय तक तो नौबत तीन ही दफा बजती थी। उसने चौथी बार बजाया जाना आरंभ किया। एक समय सुलतान सञ्जार अपने शत्रुओं से भाग रहा था। चार नौबत बज चुकी थी। उसने शत्रुओं को यह धोखा देने के लिए कि सुलतान सञ्जार मर गया पाँचवी नौबत बजवा दी। शत्रु इस चकमे मे आए। तबसे उसने पाँच नौबत बजवाने की चाल चला दी। नौबत का अर्थ समय, परिवर्तन, भी होता है। नौबत बजने पर पहरा बदला करता था।

इलियट ने पचमहाशब्द का अर्थ पाँच दफा बाजे बजवाना स्थिर करने के लिये चद के 'पृथ्वीराजरासो' के १९वें पर्व मे पद्मावती के पिता पद्मसेन के वर्णन मे से निम्नलिखित छद का बीम्स का अनुवाद उद्धृत किया किंतु ग्राउज[1] ने तुलसीदास की चौपाई और उसकी टीका उद्धृत कर पचमहाशब्द का अर्थ ठीक बतलाया और लिखा कि चद का अर्थ सदिग्ध है, वहाँ पाँच स्वरो या बाजो से अभिप्राय है या उनके पाँच बार बजने से यह ठीक नही कहा जा सकता।

घन निशान बहु सद नाद सुर पच बजत दिन।
दस हजार हय चढ़त हेम नग जटित तिन॥

के० बी० पाठक महाशय[2] ने रेवाकोट्याचार्य नामक जैन ग्रथकार से एक अवतरण देकर सिद्ध किया कि पचमहाशब्द का पाँच बार बाजे बजवाना अर्थ नही हो सकता। अतएव वही अर्थ ठीक है जो 'रामचरितमानस' की टीका मे दिया है।

(२)

यह लिखा जा चुका है कि पाँच प्रकार के कोई बाजे बजाने का सामान, जो बड़े राजा की ओर से छोटे सामत या अधिकारी को मिलता था, वही 'समधिगतपंचमहाशब्द' उपाधि से सूचित किया जाता था। वे पाँच बाजे कौन होते थे इसकी परिसख्या मे भेद है। केवल नाम-गणना मिलती है, कोई वैज्ञानिक विभाग नही। अमरकोश मे चार तरह के बाजो का उल्लेख है[3]—तत (तना हुआ) जैसे वीणा, सैरध्री, रावणहस्त, किन्नरी, आदि, आनद्ध (ठेका बँधा) जैसे मुरज, दर्दुर, करट आदि, सुषिर (छेदवाला) जैसे वशी आदि, घन (ठोस) जैसे कास्यताल

१ इडि० एटि० जिल्द ५, पृ० ३५४
२ इडि० एटि० जिल्द १२, पृ० ९६
३ अमरकोश १।६।४। और क्षीरस्वामी का अमरकोशोद्घाटन, ओक का सस्करण पृ० ३१

आदि। क्षीरस्वामी की टीका अमरकोशोद्‌घाटन मे इस प्रसग की भरत की परिभाषा भी उद्धृत की है। 'प्रबधचितामणि' मे एक जगह 'पच-शब्द बजानेवालो को सोना बाँटकर फोडकर' म्लेच्छो से युद्ध करते समय वलभी के राजा शिलादित्य के घोडे के चमकाए जाने का उल्लेख है।[1] उसकी अनुवाद की टिप्पणी मे टानी ने प्रोफेसर जेचरे के हवाले से साधु-कीर्ति की शेषसग्रहनाममाला नामक कोश की पूना की एक हस्तलिखित प्रति से पचशब्द का यह लक्षण उद्धृत किया है[2] जहाँ बाजो के पाँच वैज्ञानिक विभाग बताने का यत्न किया है—

आहत अनाहत दण्डकराहतम् ।
घाताहत कसालादि कण्ठाद्य पट्टादिकम् ।
वीणादिक च भेर्यादि पचशब्दमिद स्मृतम् ॥

यह तो हुआ, किंतु कश्मीर के इतिहास म पचमहाशब्द का और ही अर्थ मिलता है जो इससे पुराना है। वहाँ पचमहाशब्द का यही अर्थ होता है कि पाँच राज्य के अधिकार जिनके नाम के पहले 'महा' शब्द हो।" इस अर्थ म 'समधिगतपचमहाशब्द' मत्रिया, प्रधानो और कामदारो के लिये आ सकता है, सामत या स्वतत्र राजाओ के लिये नही। यद्यपि उनम से एक महाशब्द राजा या रानी के लिये भी आया है। ये पचमहाशब्द ओहदो या पदो के सूचक थे और वे पाँच प्रकार के बाजो के।

कहते हैं कि पहले कश्मीर का राजप्रबध इतना अधूरा था कि वहाँ सात ही प्रकृतियाँ (राज्याग) थी—धर्माध्यक्ष, धनाध्यक्ष, कोषाध्यक्ष, सेनापति, दूत, पुरोहित और ज्योतिषी। व्यवहार, धन आदि से राज्य की यथावत् वृद्धि नही हुई थी इसलिये सामान्य देश की तरह राज्य चलता था। राजा जलौक ने अठारह कर्मस्थान (महकमे) बनाकर युधिष्ठिर की-सी स्थिति कर दी।[3] युधिष्ठिर की-सी स्थिति कहने का यही अभिप्राय है कि महाभारत, सभापर्व, म जो अट्ठारह 'तीर्थ' या अधिकारी कहे हैं[4] उन सब के अधिकार स्थापित किए। पीछे जब

१ शास्त्री का सस्करण पृ० २७६
२ टानी का अनुवाद, पृ० २१४
३ राजतरगिणी १।११८-१२० मेवाड मे कमठाण=कर्मस्थान=इमारत का महकमा।
४ महाभारत सभापर्व अध्याय ५, श्लोक ४१ मे नारद ने युधिष्ठिर से प्रश्न किया है कि—
कच्चिदष्टादशान्येषु स्वपक्षे दश पञ्च च ।
त्रिभिस्त्रिभिरविज्ञातैर्वेत्सि तीर्थानि चारकैः ॥
उसकी टीका में इन तीर्थो का विवरण दिया है—
मत्री पुरोहितश्चैव युवराजश्च भूपति ।
पचमो द्वारपालश्च षष्ठोन्तर्वेशिकस्तथा ॥

कश्मीर के राजा ललितादित्य मुक्टापीड ने[1] कान्यकुब्ज देश के राजा यशोवर्मा[2] को हराया तब उन दोनो मे सधिपत्र लिखा जाने लगा। उसमे लिखा गया कि 'यशोवर्मा और ललितादित्य की सधि'। इस पर ललितादित्य के साधिविग्रहिक[3] मित्रशर्मा से नही रहा गया। उसने आपत्ति की कि पीछे नाम लिखे जाने से विजेता होने पर भी मेरे स्वामी का अपमान होता है। राजा ने इसे बडी बात समझी, यद्यपि लबी लड़ाई से थके हुए सेनापतियो को यह हुज्जत बुरी लगी। राजा ने पहले के अट्ठारह कर्मस्थानो के ऊपर और पाँच बनाकर उसे उनका अधिकार दे पच महाशब्दो का पात्र बनाया।[4] वे पाँच पद ये थे—महाप्रतीहार-पीडा[5] (राजा की पेश-गाह मे लोगो की सूचना देना और मिलाना), महासधि-विग्रह (इलाके ग़ैर), महाश्वशाला (घुडसाल की प्रधानता), महाभाण्डा-गार (खजाने की प्रधानता) और महासाधनभाग[6] (प्रधान कार्यकारी)। ये पाँच पद प्रतिष्ठ मात्र ही हैं, वस्तुत. अट्ठारह कर्मस्थानो मे अंतर्भूत हो जाते हैं।[7]

पीछे शाही आदि राजपुरुषो को भी यह पद मिलने लगे।[8] कश्मीर के राजा जयापीड ने या तो स्वय 'महाप्रतीहारपीडा (ठा ?)धिकार' पाया या अपनी

कारागाराधिकारी च द्रव्यसचयकृत्तथा।
कृत्याकृत्येषु चार्थाना नवमो विनियोजक ॥
प्रवेष्ना नगराध्यक्ष काव्यनिर्माणकृत्तथा।
धर्माध्यक्ष सभाध्यक्षो दण्डपालस्तिपचम ॥
षोडशो दुर्गपालश्च तथा राष्ट्रान्तपालक।
अटवीपालकान्तानि तीर्थान्यष्टादशैव तु ॥

१ कल्हण के अनुसार इसका समय ई० स० ७०० से ७३६ तक आता है। इसी ने बादशाह हिउन्त्सग के राज्यकाल में चीन म दूत भेजा था।

२ वाक्पति यशोवर्मा का राजकवि था और उसने गउडवहो में यशोवर्मा की गौड राजा पर जीत का वर्णन प्राकृत कविता मे किया है। यशोवर्मा (इ-च फोन-मो) ने सन् ७३१ मे अपने मत्री सेङ्‌-पो ता को चीनी दरबार मैं भेजा था। भवभूति भी इसी के यहाँ था। (राजतरगिणी ४।१४४)

३ सधि और विग्रह (मेल और झगडे) के अधिकारी, फारेन मिनिस्टर।

४ राजतरगिणी ४।१३७ से १४२

५. पीडा क्या है ? प० दुर्गाप्रसादजी ने महाप्रतीहारपीठ (आसन) पद की कल्पना की है जो उचित है।

६ साधनभाग पुलिस हो सकती है।

७ अष्टादशानामुपरि प्राक् सिद्धाना तदुद्भवे।
कर्मस्थाने स्थिति प्राप्ता तत प्रभृति पचभि ॥ राजतरगिणी ४।१४१

८. वही, ४।१४३

रानी कल्याणदेवी को यह अधिकार दिया।[1] उसी राजा के मंत्री जयदत्त ने जयपुर कोह में मठ बनाया था[2] जिसे 'पंचमहाशब्दभाजन' कहा गया है। राजा चिप्पट जयापीड की बाल्यावस्था में उसकी माता जयादेवी के भाइयों में बड़े उत्पलक ने 'पंचमहाशब्द' ग्रहण किए, और बाकी कर्मस्थान दूसरे मामाओं ने।[3]

[प्रथम प्रकाशन : नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग-१, सन् १९२० ई०]

१ महाप्रतीहारपीडाधिकार प्रतिपद्य ॥ : कल्याणदेवी (वीं ?) दाक्षिण्यादक रोदधिकोन्नतिम् ॥ राजतरंगिणी ४।४८५, पहला अर्थ पं० दुर्गाप्रसादजी का पाठ है, दूसरा स्टाइन का।

२ राजतरंगिणी ४। ५१२

३ वही ४।६८०

महर्षि च्यवन का रामायण

महाकवि अश्वघोष[1] ने अपने प्रसिद्ध काव्य

१ तिब्बती और चीनी बौद्ध ग्रंथों से छः अश्वघोषों का पता चलता है, किंतु अश्वघोष सम्राट् कनिष्क का समकालिक था। वह साकेतक अर्थात् अयोध्या का निवासी था और आचार्य पार्श्व के शिष्य पूर्णयशस् ने इसे बौद्धधर्म में दीक्षित किया था। जब कनिष्क ने, जिसकी राजधानी पुरुषपुर (पेशावर) थी, मगध के पाटलिपुत्र पर आक्रमण किया तब वह वहाँ से अश्वघोष को ले गया। पीछे पार्श्व आचार्य से कनिष्क ने बौद्ध आगमों का अध्ययन किया और धार्मिक शंकाओं की निवृत्ति के लिये अपने राज्य के अन्तर्गत कश्मीर में कुंडलवन नामक स्थान पर बौद्ध आताओं का संघ कराया। वसुमित्र इस संघ का प्रधान और अश्वघोष उपप्रधान हुआ। उसी संघ में महाविभाषा नामक बौद्ध धर्म की व्याख्या की रचना की गई।

राजतरंगिणी में हुष्क, जुष्क और कनिष्क नामक तीन बौद्ध धर्मानुयायी तुरुष्क राजाओं का कश्मीर में साथ-ही-साथ राज्य करना लिखा है किंतु वहाँ उनका गोनंद तृतीय और अभिमन्यु के भी पहले, अर्थात् राजतरंगिणी के क्रम के अनुसार ईसवी सन् से लगभग १२०० वर्ष पहले, राज्य करना कहा गया है जो माननीय नहीं। कनिष्क का बसाया हुआ कनिष्कपुर भी कश्मीर में कहा गया है जो डाक्टर स्टाइन के मत से बारहमूला से श्रीनगर को जाती हुई सड़क और वितस्ता (विहाट) नदी के बीच का वर्तमान कानसीपोर है। (राजतरंगिणी १।१६८-१७२)

तुरुष्क या यूहचि राजाओं में कुजुल कडफिसिस और उसके पुत्र वेम कडफिसिस के पीछे कनिष्क आता है। उसका पुत्र हुविष्क था और उसका वसुदेव या वसुष्क। ये कनिष्क, हुविष्क और वसुष्क की तीन पीढ़ियाँ राजतरंगिणी के कनिष्क, हुष्क और जुष्क हो सकती हैं। इन सबके सिक्के मिले हैं। कनिष्क का राज्यारंभ सन् ७८ ई० में और उससे ही शक संवत् का चलना मानने के पक्ष में कई लोग हैं। इस विषय में बहुत वाद-विवाद है किंतु ईसवी सन् की पहली शताब्दी के उत्तरार्ध से दूसरी के मध्य तक कनिष्क का काल कभी-न-कभी मानना ही पड़ता है। चतुर्थ बौद्ध संघ जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है, ई० स० १४० के लगभग हुआ था।

सुभाषितावलियों में कुछ श्लोक अश्वघोष के नाम से मिलते हैं, और अमरकोश की टीकाओं में कुछ उदाहरण, जो बुद्धचरित और सौंदरनंद से लिए हैं। चीनी और तिब्बती

बुद्धचरित[1] मे एक प्रसग पर लिखा है कि 'वाल्मीकि के नाद ने वह पद्य उपजाया जो च्यवन महर्षि नही बना सके थे।' इस पर प्रोफेसर ल्यूमँन ने लिखा कि इस प्रकार के उल्लेख से यह अनुमान करना कि वैदिक ऋषि च्यवन का बनाया हुआ कोई रामायण गद्य मे था और वह वाल्मीकि की पद्यमय रचना के प्रचलित होने पर लुप्त हो गया, बडे साहस का काम है। ल्यूमँन का यह कहना था[2] कि हवा ही चल गई कि च्यवन का रामायण वाल्मीकि के पहले था। नन्दर्गिकर ने अपने रघुवश के सस्करण की भूमिका मे यह माना है[3] कि च्यवन-रचित रामायण

भाषाओ में अश्वघोष के बहुत से ग्रथो के अनुवाद मिलते हैं। वहाँ के बौद्ध साहित्य की परीक्षा से जाना जाता है कि अश्वघोष मातृचेट शूर आर्यशूर सब एक ही महाकवि के नाम हैं। सम्राट कनिक (कनिष्क) के नाम मातृचट का एक पत्र कानकलेख भी मिला है। अश्वघोष के प्रधान ग्रन्थ ये हैं—(१) बुद्धचरित काव्य (२) सौंदरनद=महामहोपाध्याय प० हरप्रसाद शास्त्री ने इसे नेपाल से प्राप्त कर बिब्लोथिका इडिका मे छपवाया है। इसमें बुद्ध के अपने भाई नद के पास जाकर उसे पत्नी सुदरी के प्रमपाश से छुडाकर वैराग्यमार्ग मे लाने का बडा ही सुदर वर्णन है (३) वज्रसूची—इसम जन्म से जाति मानने का खडन है, (४) शारिपुत्र प्रकरण—इस नाटक का खड तुरफान की खोज मे मिला था। डाक्टर लूडर्स ने इसे छपवाया है (५) जातकमाला (६) सूत्रालकार (७) कइ सौ स्तोत्र। और भी कई ग्रथ हैं। बौद्ध साहित्य में अश्वघोष मातचेट अथवा आर्यशूर का बडा ऊँचा स्थान है। सस्कृत साहित्य में उसका विवेचन नई खोज का फल है।

१ इसम बुद्ध के जन्म गृहत्याग तपस्या सिद्धि आदि का बडा उत्तम वर्णन है। इस महाकाव्य का चीनी अनुवाद ईसवी सन की पाँचवी शताब्दी मे धर्मरक्ष ने किया और तिब्बती अनुवाद सातवी या आठवी शताब्दी मे हुआ। सस्कृत मूल पाठ की प्रतियाँ नेपाल से मिली हैं। वहाँ पडित अमृतानद ने उसकी खडित प्रति को कई श्लोक और चार सर्ग अपनी ओर से जोडकर नेवारी सवत् ७५० (ईसवी सन् १८३० ई०) मे पूर्ण किया। डाक्टर कावेल ने एनेकडोटा आक्सेनसिया मे इसका अतिअप्रामाणिक सस्करण निकाला है। चीनी अनुवाद और अमृतानद के सशोधित (!) पाठ का अनुवाद बील ने 'सेक्रेड बुक्स आफ दी ईस्ट' में छपवाया है। चीनी अनुवाद सारमात्र है तिब्बती अनुवाद पूर्ण अक्षरानुयायी और प्रामाणिक है डाक्टर वैजल ने उसका अनुशीलन किया है। बबई विश्वविद्यालय के पाठकों के लिए नदर्गिकर ने बुद्धचरित के पाँच सर्गों का सस्करण छापा है जिसकी भूमिका मे लिखा है कि एक नई प्रति उन्हे पजाब के बतिया नगर से (?) मिली है।

कालिदास को विक्रम सवत् के चलानेवाले विक्रम के यहाँ माननेवाले लोग बुद्धचरित मे बुद्ध को देखने के लिए आनेवाली नगरवासिनी स्त्रियो के शृगार और हडबडी के वर्णन में रघुवश तथा कुमारसभव के वैसे ही वर्णनो की छाया देखते हैं किंतु कालिदास का समय गुप्तकाल में माननेवाले अश्वघोष के वर्णन को कालिदास का उपजीव्य मानते हैं। अश्वघोष की कविता बहुत ही ओजस्विनी और मधुर है।

२ विएना ओरिएटल सोसाइटी का जर्नल, जिल्द ७ पृष्ठ १६७

३ रघुवश के सस्करण की भूमिका, पृष्ठ १००

था, और भी कई लोग ऐसा मानने लग गए हैं। अतएव यह विचार करना अनुचित न होगा कि बुद्धचरित में उस उल्लेख से यह अनुमान कहाँ तक निकल सकता है।

बुद्धचरित के उस प्रसंग की विस्तारपूर्वक आलोचना करने का एक और भी कारण है। पिछले हजार-दो-हजार वर्षों से हिंदू सभ्यता में धर्म के नाम पर यह कुसंस्कार घुस गया है कि पहले जो कुछ हो गया वैसा अब नहीं हो सकता, अब गिरने के दिन हैं, चढ़ने के नहीं। प्रचलित धर्म और समाज के शोकसंगीत की टेक यही है कि न पहले का-सा समय है, न राजा, न ऋषि, न विद्या और न संपत्ति। वर्तमान आंदोलनों में भी आगे उन्नति करने की प्रवृत्ति को दबाकर यह रोग बढ़ता जा रहा है कि प्राचीन समय फिर लौट आवे तो हम निहाल हो जायें। जिस बुद्धि ने हिंदू-सभ्यता की जड़ों में अवसर्पिणी काल और कलियुग के तेल की सिंचाई की है उसने बड़ा अनर्थ किया है, सारे समाज को उत्साहशून्य बना दिया है। और देशों में पिता पुत्र से यह आशा करता है कि वह मुझ से सब बातों में बढ़कर हो, पर यहाँ वह यही कहता है कि हमारी चाल निबाह लोगे तो बहुत है, हम से बढ़कर क्या हो सकते हो। जहाँ पलने से लेकर बैकुण्ठी तक यही मनहूस रौर मचा रहता है कि जो पीछे गया अच्छा था, आगे आवेगा वह बुरा-ही-बुरा होगा, वहाँ उन्नति की क्या आशा की जा सकती है? यह बारहमासी आत्मग्लानि, यह निराशामय आत्मवंचना, यह दुर्भाग्यजनक आत्मधर्षण, पहले न था। पहले लोग अपने को पूर्वजों की बराबरी का समझते थे और यह असंभव नहीं मानते थे कि हम उनसे बढ़कर हो सकते हैं। कम-से कम उनपर यह निराशा का उन्माद और जन्म-भर का सियापा तो नहीं चढ़ा था कि हम गिरते ही जायेंगे। कम-से-कम आर्यसुवर्णाक्षीपुत्र साकेतक आचार्य आर्यभदंत अश्वघोष ने तो इस विषय पर बहुत ही स्पष्ट लिखा है। उदाहरणों की प्रचुरता में, भाषा के अनुपम लालित्य में, उत्साह के उद्दीपन में, उसका कथन इतना ओजस्वी, इतना मधुर और इतना रमणीय है कि उसका पूरी तरह मनन करना चाहिए।

कपिलवस्तु में महाराज शुद्धोदन के मायादेवी के गर्भ से तथागत बुद्ध का जन्म हुआ है। राजा चिंता में मग्न है कि देखें यह बालक कैसा निकले। इस पर ब्राह्मणों ने उसे दृष्टांत कहकर विश्वास दिलाया। आश्वासन दिया, अभिनंदन किया, तब राजा ने मन से अनिष्ट शंका छोड़ दी और वह अत्यंत प्रसन्न हुआ। ब्राह्मणों ने क्या दृष्टांत दिए थे?—

> यद् राजशास्त्रं भृगुरङ्गिरा वा न चक्रतुर्वंशकरावृषी तौ।
> तयोः सुतौ तौ च ससर्जतुस्तत्कालेन शुक्रश्च बृहस्पतिश्च॥
> सारस्वतश्चापि जगाद वेदं नष्टं पुनर्यं ददृशुर्न पूर्वे।
> व्यासस्तथैनं बहुधा चकार न यं वसिष्ठः कृतवान्नशक्तिः॥

वाल्मीकिनादश्च ससर्ज पद्यं जग्रन्थ यन्न च्यवनो महर्षिः।
चिकित्सितं यच्च चकार नात्रिः पश्चात्तदात्रेय ऋषिर्जगाद ॥
यच्च द्विजत्वं कुशिको न लेभे तत्साधन सूनुरवाप राजन्।
वेला समुद्रे सगरश्च दध्रे नेक्ष्वाकवो यां प्रथमं बबंधुः ॥
आचार्यकं योगविधौ द्विजानामप्राप्तमन्यैर्जनको जगाम।
ख्यातानि कर्माणि च यानि शौरेः शूरादयस्तेष्ववसा बभूवुः ॥
तस्मात्प्रमाणं न वयो न कालः कश्चित्क्वचिच्छ्रैष्ठ्यमुपैति लोके।
राज्ञामृषीणां च हितानि (चरितानि ?) तानि कृतानि पुत्रैरकृतानि पूर्वैः ॥[1]

भावार्थ—भृगु और अंगिरा[2] वंश के चलानेवाले ऋषि थे, उन्होंने जो राजशास्त्र[3] नहीं बनाया वह उनके पुत्र शुक्र और बृहस्पति ने समय पाकर बना दिया। पहले ऋषियों को जिसका दर्शन भी नहीं हुआ था उस नष्ट वेद को सारस्वत ऋषि ने (फिर) कह दिया।[4] व्यास ने वेद का (शाखाभेद -) विस्तार किया जो

१ बुद्धचरित, कावेल का संस्करण, सर्ग १, श्लोक ४६-५१
२ भृगु का पुत्र भार्गव (शुक्र), अंगिरा का पुत्र आंगिरस (बृहस्पति) 'अंगिरा बृहस्पतिपिता भृगु शुक्रपिता' (गणरत्नमहोदधि, एग्लिंग का संस्करण, पृष्ठ ११)
३ बृहस्पति और शुक्र के नीतिशास्त्र प्रसिद्ध हैं। 'उशना वेद यच्छास्त्रं यच्च वेद बृहस्पतिः।' महाभारत शांतिपर्व में लिखा है कि बृहस्पति ने एक लाख श्लोकों का नीतिशास्त्र बनाया और फिर उशनस् (शुक्र) ने उसे संक्षिप्त किया। इनके मत और कहीं-कहीं इनकी गाथाएँ भी महाभारत में हैं। कौटिल्य ने भी इनके मत उद्धृत किए हैं। प्रचलित शुक्रनीति और नए मिले हुए बृहस्पति सूत्र पीछे के ग्रन्थ हैं। ये दोनों राजनीति के पुराने आचार्य मनुष्य—ऋषि थे, कथाओं में देवताओं और असुरों के गुरु हो गए।
४ महाभारत, शल्य पर्व, में कथा है कि एक समय दुर्भिक्ष पड़ने पर और सब ऋषि पेट पालने के लिए भटकते फिरे, वेद भूल गए। केवल अंगिरा और सरस्वती का पुत्र अपनी माता के प्रसाद से उसके तट पर प्रतिदिन एक मछली खाकर वेद को जीवित रख सका। समय बीतने पर उस युवा ऋषि ने वृद्ध ऋषियों से गुरूचित सम्मान पाकर उन्हें फिर वेद पढ़ाया। यों सारस्वत सबका गुरु हुआ। 'अध्यापयामास ऋषीन् शिशुरांगिरसः कविः। पुत्रका इति च प्राह ॥ न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बंधुभिः। ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान्। (मनुस्मृति २।१२१४) यथांगिरा रागपरीतचेताः सरस्वतीं ब्रह्मसुतः सिषेवे। सारस्वतोऽस्मात्तनयस्तु सोऽस्य नष्टस्य वेदस्य पुनः प्रवक्ता ॥ (सौंदरनंद काव्य)

आसीदब्रह्मसरः सुधामहृचर—र्पाढात्तत।
प्रावर्तिष्ट सरस्वती सुरनदी गभीरनीरा भुवि।
सा तीरे तपसि स्थितं व्रतवती देवी दधीचिं मुनिं
तस्मादाप सुतं वशिष्ठसदृशं सारस्वतं नामतः ॥ २ ॥
तत्रानावृष्टिरासीज्जगति तनुतरं ब्राह्मणे द्वादशाब्दं
तस्यामासान्न वृष्टिं कथमपि तपसा देवराजप्रसादात्।

न उसके पडदादा वसिष्ठ से हुआ और न पितामह शक्ति[1] से। वाल्मीकि के नाद[2] ने वह पद्य उत्पन्न किया जो च्यवन महर्षि न गाँठ सके थे, अत्रि को जो चिकित्सा नही आती थी वह उसके पीछे आत्रेय[3] ऋषि ने कही। कुशिक को जो ब्राह्मणत्व प्राप्त नही हुआ उसका साधन, हे राजा, उसके पौत्र विश्वामित्र[4] ने

> वेदा * न शान् स्मृतिपथविमुखान्ब्राह्मणान् भक्तिभाजो
> भूय सारस्वतो य श्रवणरससुख पाठयामास सम्यक् ॥ ३ ॥
> सरस्वती पत्तननामधेये सारस्वतास्तस्य सुता बभूव ।
> श्रुतिस्मृतीहासपुराणविज्ञा यज्ञप्रधाना शिवसन्निधाना ॥ ४ ॥

(ग्वालियर राज्य के सुरवाया स्थान में सोमधर के पुत्र ईश्वर की कराई वापी की प्रशस्ति स० ११४१ कार्तिक सुदि ५ बुधे, एक फोटो से)

१ वसिष्ठ—शक्ति—पराशर—व्यास। 'विव्यास वेदान् यस्मात्स वेदव्यास इतयते' (महाभारत)। वेद के शाखाभेद के बारे मे पौराणिक मत यह है कि व्यास ने सुमन्तु, जैमिनि, पैल और वैशंपायन नामक शिष्यो को एक-एक वेद बाँट दिया, उन्होने अपने शिष्यो को शाखाएं पढाई, नही तो पहले सारा वेद एक ही था (भागवत १२।६, विष्णुपुराण ३।३-४)

२ वाल्मीकि ने एक व्याध को क्रौंच पक्षियो के जोडे मे से एक को तीर से मारते देख, जो शोक का नाद किया था वही आदिकाव्य की श्लोकमय रचना का बीज हुआ। (वाल्मीकि-रामायण १।२) 'शोक श्लोकत्वमागत' (वही १।२।४०)

३ चरकसहिता का वक्ता आत्रेय ही है, अध्याय अध्याय मे 'इति ह स्माह भगवान् पुनर्वसुरात्रेय' मिलता है।

४ विश्वामित्र क्षत्रिय थे, तपस्या से ब्राह्मण हुए। उन्हे ब्राह्मण न मानना ही विश्वामित्र और वसिष्ठ के वशो मे द्वेष का कारण हुआ जिसकी कथा ऋग्वेद (३।५३, ७।३२) से लेकर सभी पुराणों तक चली आई है। महाभारत, आदिपर्व १६१ आदि, रामायण १।५१-६५)

विश्वामित्र ऋषि तो बन गये किंतु पूछ खानदानी ऋषियों की होती थी। यज्ञ मे जब होता का आवाहन करते थे उस समय कई इकट्ठे हुए हो तो भी उनमें से 'ऋषे। आर्षेय। ऋषीणा नपात्।' (शुक्लयजु २१।६१) अर्थात ऋषि ऋषिपुत्र और ऋषिपौत्र कहकर योग्य ही को बुलाते थे। बृहस्पति के पुत्र कच और शुक्र की कन्या देवयानी के प्रेम की कथा में भी कच के परपरागत ऋषि होने की ही प्रशसा है। (ऋषे पुत्र तमथो वापि पौत्र कथ न शोचयमह न रुद्याम्—महाभारत, आदिपर्व, ७०।५२) कम से-कम निरतर ऋषि-वश में पैदा न होने से व्याकरण के तद्धित-प्रत्यय तो नहीं हो सकते थे (पाणिनि ४।१।१०४)। इसलिए विश्वामित्र ने तपस्या न केवल इसलिए की कि मैं ऋषि हो जाऊं किंतु फिर भी इसलिए की कि ऋषि का बेटा और ऋषि का पोता कहलाऊं। (विश्वामित्रस्तपस्तेपे नानृषि स्यामिति। तत्र भवानृषि सपन्न। [redacted] पुनस्तपस्तेपे नानृषे पुत्र स्यामिति। तत्र भवान् गाधिरपि ऋषि सपन्न। स पुनस्तपस्तेपे नानृषे पौत्र स्यामिति। तत्र भवान्कुशिकोऽपि ऋषि सपन्नः—पाणिनि ४।१।१०४ पर पातजल महाभाष्य) और गाधि और कुशिक को भी ऋषि बना लिया। यह वृद्धकुमारी-न्याय की सी बात हुई। एक वृद्ध कुमारी ने इन्द्र से वर माँगा कि मेरे पुत्र कासे की थाली में बहुत घी, दूध और भात खावें, [redacted] उसने पति, पुत्र, गो, अन्न सब एक ही वाक्य में गिन लिया (अथवा वृद्धकुमारीवाक्यवदिद द्रष्टव्य। तद्यथा वृद्धकुमारी इन्द्रेणोक्ता

पाया। सगर ने समुद्र पर वेला बाँधी (समुद्र का तीर नियमन किया) जो उसके पहले इक्ष्वाकु वंशी नहीं कर सके थे।[1] योग विधि में ब्राह्मणों का गुरु बनना औरों के भाग्य में नहीं बदा था, वह जनक[2] ने पाया। कृष्ण के जो लोकोत्तर कर्म प्रसिद्ध हैं उन्हें करने में उसके पूर्वज शूर[3] आदि असमर्थ थे। इसलिए न तो अवस्था प्रधान है न काल लोक में कोई कभी श्रेष्ठ हो जाता है राजाओं तथा ऋषियों के कई हितकारक कार्य हैं जो पुरखाओं से न हो सके और उनके पुत्रों ने कर दिखाए।

कैसा उत्साहवर्धक वर्णन है ! 'कृतानि पुत्रैरकृतानि पूर्वैः' !!

इन सारे उदाहरणों को विचारकर देखते हैं तो जान पड़ता है कि इनमें उन महत्व के कार्यों का उल्लेख है जो पूर्वजों से न बन पड़े और उनके वंशधरों ने कर दिखाए। इससे यह परिणाम तो निकाल सकते हैं कि च्यवन वाल्मीकि का पितामह या पूर्वज था किंतु यह नहीं कह सकते कि च्यवन ने गद्य या पद्य में रामायण लिखा था।

प्राचीन काल में वाल्मीकि रामायण के अतिरिक्त रामकथा के विषय के

वरं वृणीष्वेति सा वरमवृणीत पुत्रा मे बहुक्षीरघृतमोदनं कांस्यपात्र्यां भुञ्जीरन्निति। न च तावदस्याः पतिर्भवति कुतः पुत्राः कुतो वा गावः कुतो धान्यम्। तत्रानया एकवाक्येन पतिः पुत्रा गावः धान्यमिति सर्वं संगृहीतं भवति एवमिहापि (पाणिनि ८।२।३ पर पातंजल महाभाष्य)

१ महाभारत वनपर्व १०५।१०६ (समाप्तयज्ञः सगरो पुत्रत्वे कल्पयामास समुद्रं वरुणालयम् १०७।६७) भागवत ८।८।६। (सगरश्चक्रवर्त्यासीत्सागरो यत्सुतैः कृतः ८।९।५)। भागवत की वंशावली में सगर इक्ष्वाकु से ३१वाँ पुरुष है।

२ यदवनो जीवदानं च चकार भगवान्नृपः। चकार जनको योगी वैधसं देहमजनम् (ब्रह्मवैवर्त पुराण १।१६।१६)॥ जनक के ब्राह्मणों को योग सिखाने की कथा विष्णु पुराण में भी है (आज दैनिक पत्र रविवार ता० १६।२।२० की संख्या में बाबू भगवान दास का लेख)। शतपथ ब्राह्मण में कथा है कि जनक श्वेतकेतु आरुणेय सोमशुष्म सात्ययज्ञि और याज्ञवल्क्य तीनों से अधिक अग्निहोत्र की जानकारी दिखाकर और याज्ञवल्क्य को यह कहकर कि तू भी इतनी इतनी बातें नहीं जानता रथ पर बैठा आगे चला गया। इस पर उन दोनों ऋषियों ने कहा कि यह राजन्यबंधु (घृणावाचक शब्द, क्षत्रिय के लिये) हमसे बढ़कर बोल गया, इसे ब्रह्म विचार के लिये ललकारें क्या ? तब याज्ञवल्क्य ने उन्हें समझाया कि हम ब्राह्मण ठहरे यह राजन्यबंधु, यदि इसे जीत लिया तो बड़ाई क्या और कहीं हार गये तो हमें लोग कहेंगे कि क्षत्रिय से हार गए। वे मान गए। उन्हें यों समझाकर याज्ञवल्क्य जनक के पीछे रथ दौड़ाकर गया। जनक ने पूछा कि अग्निहोत्र सीखने आया है ? याज्ञवल्क्य ने कहा 'हाँ सम्राट'। तब जनक ने उसे उपदेश देकर कहा कि इससे परे कुछ नहीं है। फिर जनक ब्राह्मण हो गया। (शतपथ ६।२।१—१०)

३ शूर वसुदेव के पिता थे।

और भी पुराण, इतिहास, काव्य आदि रहे होंगे जिनमे वाल्मीकि-रामायण की कथा से कहीं-कहीं भेद भी था। महाभारत की रामकथा मे ही वाल्मीकि-रामायण से कुछ भेद हैं[1]। कालिदास, भास और कुमारदास के काव्यो मे रघुवश की परपरा वाल्मीकि मे भिन्न है, पुराणो मे भी भिन्न हैं[2]। पतञ्जलि के महाभाष्य मे 'एति जीवन्तमानन्द' यह उदाहरण का टुकडा दो जगह[3] आया है, और यह वाल्मीकि-रामायण मे भी है[4]। किंतु यह साधारण कहावत है, यह नही कह सकते कि भाष्य मे वाल्मीकि-रामायण से ही उद्धृत की गई है[5]।

१ महाभारत वनपर्व, २७४-२९१। देखो पत्रिका भाग २, पृ० १२७

२ नागरी प्रचारिणी पत्रिका, नवीन सस्करण, भाग १ पृ० १०१ टिप्पण ६

३. पाणिनि १।३।१२ और ३।१।६७ पर महाभाष्य

४ कल्याणी बत गाथेय लौकिकी प्रतिभाति मा। एति जीवन्तमानन्दो नर वर्षशतादपि (सुन्दरकाड ३४।६) युद्धकाड में यही श्लोक 'प्रतिभाति माम' पाठांतर से है (युद्धकाड १२६।२)

५ महाभाष्य के टुकडों से यह अनुमान करना कि महाभाष्य के पहले वे ग्रंथ विद्यमान जिनमें वे टुकडे अब श्लोकरूप से मिलते हैं बड़े खतरे में पडना है। 'व्यक्तवाचा समु च्चारणे (पाणिनि १।३।४८)' के महाभाष्य में उदाहरण दिया है—वरतनु सप्रवदन्ति कुक्कुटा। यह शाकटायन के उणादि सूत्रो की उज्ज्वलदत्त रचित टीका मे भी है रायमुकुट कृत अमरकोश की टीका पदचन्द्रिका मे यह टुकडा 'भारवि' का कहा गया किंतु भारवि के किरातार्जुनीय मे यह खड या इसका पूरा श्लोक नही है। (भडारक की सन् १८८३-४ की रिपोर्ट मे पंडित दुर्गाप्रसादजी का परिशिष्ट)। क्षेमेंद्र ने अपन औचित्य-विचार चर्चा में 'अयि विजहीहि दृढोपगूहन त्यज नवसगमभीरु वल्लभे (मम) अरुणकरोद्गम एष वर्तते वरतनु संप्रवदति कुक्कुटा' यह पूरा श्लोक कुमारदास क बताया है किंतु 'जानकीहरण मे इसका पता नहीं। 'छदोमजरी' मे यह श्लोक भारवि क कहा गया है। वर्धमान के 'गणरत्नमहोदधि' मे इस श्लोक का प्रथम चरण दिया (एगलिंग का सस्करण, पृष्ठ १६)। व्यास की एक पोथी में पूरा श्लोक मिलता (बगेंड्र रिसर्च सोसाइटी का सस्करण, पृष्ठ २३५, टिप्पण)। काशिका की टीका 'पद मजरी' मे पूरा श्लोक यो दिया है—अपनय पादसरोजमकत शिथिलय बाहुलतां गला दाम्। क्व च वदनेशुकमाकुलीकृत वरतनु सप्रवदति कुक्कुटा (शेषगिरि की रिपोर्ट, स १८९३-९४, पृ० १७-१८) तो क्या पतञ्जलि को कुमारदास या भारवि के पीछे का ठ राया जाय? असल तो यह है कि भाष्य के उदाहरणो की समस्यापूर्तियाँ पीछे की ग हैं, भाष्य मे किसी उस समय प्रचलित काव्य का प्रतीक दिया है जो या तो स्वत काव्य हो, या भट्टिकाव्य का-सा उदाहरणमय काव्य हो।

ऐसे ही 'अनुवादे चरणानाम् (पाणिनि २।४।३)' के महाभाष्य मे 'उदगात्कठकाला प्रत्यष्ठात्कठकौथुमम्' दिया है। वही वहीं की काशिका मे भी उद्धृत है। भट्ट भीमक रावणार्जुनीय काव्य मे यह अर्ध श्लोक है। तो क्या महाभाष्यकार भट्ट भीमक से अर्वाचीन हैं? बात तो यह है कि भाष्यकार ने किसी अपने समय के उदाहरणमय का से यह खड उद्धृत किया, रावणार्जुनीयकार ने भी उसे ज्यों का-त्यों भाष्य उद्धृत क लिया।

महाभाष्य मे एक जगह रामकथा के सबध के दो श्लोक मिलते हैं[1] जो वाल्मीकि-रामायण मे नही है, सभव है कि वे किसी और रामकथाविषयक काव्य मे से हो, यह भी संभव है कि किसी भट्टिकाव्य के ढग के प्राचीन उदाहरण-मय काव्य मे से हो, क्योकि इनमे उपसर्गसहित √स्था के प्रयोग के दो भिन्न अर्थों का[2] विवेचन किया गया है।

यो रामकथा-संबंधी अनेक प्राचीन काव्यो के होते हुए भी वाल्मीकि के रामायण के पहले च्यवन का रामायण था ऐसा मानने का कोई कारण अश्वघोष के उद्धृत प्रतीक मे नही है।

[प्रथम प्रकाशन · नागरी प्रचारिणी पत्रिका · १९२१ ई०]

भाष्यकार से पहले भी भट्टिकाव्य के भैया या दादा काव्य बन चुके थे जिनसे भाष्यकार ने जहाँ तहाँ उद्धृत किया है (स्तोष्याम्यहं पादिकमौदवाहिं इत्यादि)। इसी 'एति जीवन्तमानन्द' को लीजिए। वैयाकरण काशिकाकार तो कदाचित् अपने शास्त्र के सकेत को जानते थे कि भाष्यकार ने यह अवतरण कहाँ से दिया है काशिका की कुछ प्रतियो में तो वही रामायणवाला श्लोक दिया है, और कुछ में इसका पाठ यह है—एति जीवन्तमानन्दो नर वर्षशतादपि। जीव पुत्रक मामैव तप साहसमाचर। इसके अर्थ से मालूम होता है कि यह रामायण का नही है, कोई पिता ससार से दुखी होकर तपस्या के लिए जाते हुए पुत्र को रोक रहा है जैसे मैना ने पार्वती को रोकना चाहा था। यों ही पाणिनि २।२।२४ पर महाभाष्य में यह उदाहरण दिया है—

सुसूक्ष्मजटकेशेन सुनताजिनवाससा।

इसका काशिका की एक प्रति मे तो पूरा पाठ है—

सुसूक्ष्म०—। समन्तशितिरन्ध्रेण द्वयोर्वृत्ती न सिध्यति।

इससे तो जान पड़ता है कि यह किसी व्याकरण के उदाहरणकारिकामय ग्रथ से है, किंतु दूसरी प्रति का पाठ है—

सुसूक्ष्मजटकेशेन मलिनाजिनवाससा।
पुत्री पर्वतराजस्य कुतो हेतोर्विवाहिता॥

इससे जान पड़ता है कि यह किसी शिवपार्वतीपरिणय या शिवपार्वती के पुराने 'ब्याहले' का श्लोक है।

कई श्लोक महाभारत, मनुस्मृति और धम्मपद में, कई महाभारत और रामायण में एक ही मिल जाते है, वहाँ कहना कठिन है कि किसमें किससे लिया गया है।

१ उदाम्नस्करणे (पाणिनि १।३।२९) पर—

बहूनामप्यचित्तानामेको भवति चित्तवान।
पश्य वानरसैन्येऽस्मिन्यदर्कमुपतिष्ठते॥
मैवं मस्था सचित्तोऽयमेषोऽपि हि यथा वयम्।
एतदप्यस्य कापेयं यदर्कमुपतिष्ठति॥

२. उपतिष्ठति—सामने खड़ा होना है, उपतिष्ठते—पूजा करता है।

आत्मघात

आत्मघात करना महापाप माना जाता है। आत्मघातियो के लिये आशौच, जलदान, पिंडदान आदि उत्तर कर्मों का, पातकियो की तरह, निषेध किया गया है[1]। गौतम-स्मृति मे इस निषेध के वचन मे आत्मघात की प्रचलित रीतियाँ बताई गई है—'प्राय, अनाशक, शस्त्र, अग्नि, विष, उदक, उद्‌बधन, प्रपतन'[2]। 'प्राय' का अर्थ भूखा रहकर मरना होता है[3], वही अर्थ 'अनाशक' का है, इसलिये यहाँ पर गौतम के टीकाकारो ने प्राय का अर्थ महाप्रस्थानगमन अर्थात् शरीर-त्याग पर्यंत हिमालय की यात्रा करना, जैसा पाडवो ने किया था[4], किया है। अनाशक=अनशन=भूखा रहकर मरना। शस्त्र, अग्नि, विष, उदक (=जल) स्पष्ट हैं। उद्‌बधन गले मे फाँसी लगाकर मरना और प्रपतन (=भृगुपतन) ऊँचे पहाड़ पर से कूदकर प्राण देना है। किंतु पति के साथ सती के सहमरण को पातक नही माना है[5] और असाध्यरोगी और असमर्थों के आत्मघात को उतना

१. व्यापादयेद् वृथात्मानं स्वयं योऽग्न्युदकादिभि ।
विहितं तस्य नाशौचं नाग्निर्नाप्युदकादिकम् ॥ (कूर्मपुराण)

२ प्रायोऽनाशकशस्त्राग्निविषोदकोद्‌बधनप्रपतनैश्चेच्छताम् (गौतम)

३. अहं च प्रतिशामामि न गमिष्याम्यहं पुरीम्।
इहैव प्रायमासिष्ये श्रेयो मरणमेव च ॥ (वाल्मीकिरामायण ४।५३।१२)

४. महाप्रस्थानिक=महाप्रस्थानयात्री।

५. ऋग्वेदवादात्साध्वी स्त्री न भवेदात्मघातिनी (ब्रह्मपुराण)
यहाँ पर ऋग्वेदवाद से अभिप्राय 'इमा नारीरविधवा सुपत्नीराञ्जनेन सर्पिषा संविशन्तु। अनश्रवो अनमीवा सुरत्ना आरोहन्तु जनयो योनिमग्रे, (मडल १०।१८।७) मन्त्र से है। यहाँ पर 'योनिमग्ने' पाठ से सतीदाह का समर्थन किया जाता था किंतु प्राचीन पाठ 'अग्रे' है। वैदिक काल मे कभी-कभी सतीदाह होता था जैसा कि और कई सभ्य, असभ्य जातियो मे था। हेराडोटस ने थ्रेसी, सीथियन और हेरुली जातियों के दृष्टात दिए हैं

बुरा नहीं कहा गया है[१] ।

ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं कि राजाओ अथवा अन्य जनो ने अग्नि मे या गगा आदि पुण्य नदियो मे प्राण दे दिए। रामायण मे जहाँ दशरथ कौसल्या को मुनिकुमार के शब्दवेधी बाण से मारे जाने पर अधमुनि के शाप की कथा कह रहे है वहा मुनिदपती का दुख से चितारोहण कहा गया है[२] । राजा शूद्रक अग्नि मे जलकर मरा था[३] । चदेल राजा यशोवर्मा का पुत्र धगदेव गगा मे डूबकर मरा था[४] । गुजरात का सोमेश्वर (आहवमल्ल) सोलकी एकाएक दाहज्वर चढने तथा नैरोग्य होने की आशा न होने से दक्षिण की गगा समान तुंगभद्रा नदी में जल-समाधि लेना निश्चित कर मत्रियो की सम्मति से वहाँ गया और शिव की आराधना करते-करते जल-निमग्न हो परलोक को गया[५] । सामोली के गुहिल शीलादित्य के समय के स० ७०३ के शिलालेख से जाना जाता है कि जेतक महत्तर वैवस्वत के दूतो को आता हुआ देखकर किसी सिद्धायतन मे अग्नि मे प्रविष्ट हुआ[६] । बल्लालसेन रचित 'अद्भुतसागर' की भूमिका मे लिखा है कि गौडेंद्र (बल्लालसेन) ने शक संवत् १०६० (ई० स० ११६८) मे इस ग्रथ का प्रारभ किया किंतु समाप्त होने को पूर्व ही पुत्र (लक्ष्मणसेन) को गद्दी पर बिठाकर, ग्रथ पूर्ण करन का भार उसपर डाल, गगा मे अपने दान के जल के प्रवाह से यमुना का सगम बनाकर, वह स्त्रीसहित स्वर्ग को गया और उसके पुत्र लक्ष्मणसेन के उद्योग

और बोनहोल्ड मे जर्मनो के, किंतु यह पूर्णतया प्रचलित न वहाँ था न यहाँ। वैदिक काल मे यह रीति प्राचीन हो चली थी (इय नारी पतिलोक वृणाना निपद्यत उप त्वा मर्त्य प्रेतम्। धर्मं पुराणमनुपालयती,—अथर्ववेद १८।३।१) और स्त्री को प्रेत के पास केवल लिटाकर दस्तूर पूरा कर लिया जाता था, फिर देवर उसे हाथ पकड़कर उठा लेता था (उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोक गतासुमेतमुप शेष एहि। हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेद पत्युर्जनित्वमभि स बभूथ,—ऋग्वेद १०।१८।७ अथर्व १८।३।२, अथास्य भार्यामुप सवेशयति। उत्थापयति,—बाधायन गृह्यसूत्र १।७।७ से १।८।३-४)। वैदिक आर्यो में सती-दाह साधारणत नहीं होता था। विष्णुस्मृति मे भी 'मृते भर्तरि ब्रह्मचर्यं तदारोहण वा' म जीवित रहकर ब्रह्मचर्य को मुख्य और सहमर को गौण कहा है।

१ वृद्ध शौचस्मृतेर्लुप्त प्रत्याख्यातभिषक्क्रिय । आत्मन घातयेद् यस्तु भृग्वग्न्यनशनाम्बुभि । तस्य त्रिरात्रमाशौच (आदिपुराण), गच्छेत महापथ वापि तुषारगिरिमादरात् ·· सर्वेन्द्रियविमुक्तस्य स्वच्छापाराक्षमस्य च । प्रायश्चित्तमनुज्ञातमग्निपातो महापथ । (ये वाक्य निबन्धों से लिए गए ।) अनुष्ठाना सर्वस्य दानप्रस्थस्य जीर्यत । भृग्वग्निजलसपातैर्मरण प्रविधीयते (रघुवश १।८१ पर मल्लिनाथ की टीका मे उद्धृत)

२ वाल्मीकि, अयोध्याकाड ६४।५६, रघुवश ६।८१

३ मृच्छकटिक नाटक, प्रस्तावना ।

४. एपि० इ डि० जिल्द १, पृ० १४६, श्लोक ५५

५ विक्रमाकदेवचरित, सर्ग ४ श्लोक ४६-६८

६ इसी सख्या मे पहले ।

से अद्भुतसागर पूर्ण हुआ[1]। लाहौर के राजा जयपाल ने भी वृद्धावस्था में मुसलमानों से हारकर लज्जित होकर अग्नि में जलकर प्राणत्याग किया था[2]। प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिल भट्ट ने 'यदि वेदाः प्रमाणं' कहकर पूर्वपक्ष में भी वेद की प्रामाणिकता में शंका करने की नास्तिकता के प्रायश्चित्त में तुषाग्नि में जलकर प्राण दिए थे यह कथा प्रसिद्ध है।

इससे जान पड़ता है कि कई लोग आत्मघात को पाप और "अँधेरे से घिरे हुए असुरों के लायक लोकों"[3] में पहुँचानेवाला जान कर भी इन कारणों से उसको स्वीकार करते थे—(१) किसी असाध्य दुःख या रोग के क्लेशों से बचने के लिये, (२) किसी ऐसी लज्जा से बचने के लिये जिसको मिटाने की उन्हें आशा न हो, (३) वीरों के लायक शस्त्र से मृत्यु पाने का मौका न पाकर, (४) किसी बड़े अपराध के प्रायश्चित्त के लिये। इन सबका कारण यही है कि वीर लोग—सभी देशों में और सभी कालों में—खटिया पर पड़कर मरने से युद्ध में मरना अच्छा मानते आए हैं और कीर्ति नष्ट होना मरने से भी कष्टकर समझते रहे हैं।

महाभारत, कर्णपर्व, में भीष्म, द्रोण, कर्ण आदि का हराया जाना और मरण सुनकर धृतराष्ट्र संजय से कहते हैं—

संजय! यदि मैं ऐसे दुःखों से नष्ट नहीं होता तो अवश्य मेरा अटूट हृदय वज्र से भी कड़ा है। संबंधी, जातिवाले, और मित्रों का यह पराजय सुनकर मेरे सिवा ऐसा मनुष्य कौन है जो प्राण न छोड़े? मैं विष खाना, आग में जल मरना, पहाड़ के शिखर से कूदना (स्मृतियों का भृगुपतन) हिमालय में गलने जाना, पानी में डूब मरना, या भूखे रहकर मरना अच्छा मानता हूँ, परंतु संजय! कष्टमय दुःखों को नहीं सह सकूँगा[4]।

१ अद्भुतसागर की भूमिका, पं० गौरीशंकर ओझा, सोलंकियों का इतिहास, प्रथम भाग, पृ० ६५ टिप्पण, प्राचीन लिपिमाला, द्वितीय संस्करण, पृ० १८४ ५, टिप्पण २

२ तारीख यमीनी, इलियट, जिल्द २ पृ० २७

३. असुर्या नाम ते लोका अंधेन तमसाऽऽवृताः ॥
ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥ (यजुर्वेद ४०।३)

उपनिषदों के भाष्यकारों ने यहाँ पर 'आत्महन' को ब्रह्मज्ञान में ध्यान न लगाकर इंद्रियपूजा में लगे हुए लोगों के अर्थ में लिया है परंतु भवभूति ने उत्तररामचरित में जनक के मुख से इसका अर्थ 'आत्मघाती' ही कहलवाया है।

४ इदुर्गीर्यद्यह दुःखेन विनश्यामि संजय।
वज्राद्दृढतरं मन्ये हृदयं मम दुर्भिदम् ॥
ज्ञातिसंबंधिमित्राणामिमं श्रुत्वा पराभवम्।
को मदन्यः पुमाँल्लोके न जह्यात्सूत जीवितम् ॥
विषमग्निं प्रपातं च पर्वताग्रादहं वृणे।
महाप्रस्थानगमनं जलं प्रायोपवेशनम्।
न हि शक्ष्यामि दुःखानि सोढुं कष्टानि संजय ॥ (भारत, कर्णपर्व, ५।३०-३

होली की ठिठोली, वा एप्रिल फूल

अनुकरणशीलता मे भारतवासी पीछे नही रहेगे। अच्छे गुणो का अनुकरण तो उनके अनुष्ठान की पहली सीढी है, परन्तु व्यर्थ या अनर्थक बातो के अनुकरण मे ही हमारी सब शक्तियाँ पर्यवसान पा जाती हैं। सभ्यता के मद मे होली की समयानुमोदित ठठोली का अपाकरण चाहते हुए भी हम लोग 'एप्रिल फूल' की नई प्रथा को अपना रहे है और न्यू ईयर्स डे पर कार्ड या डाली भेजने का रिवाज तो इतना बढ गया है कि अपना वर्षारंभ हम लोग पचागो मे ही पढते हैं। हिंदी के एक सर्वज्ञ मासिक पत्र ने तो अबके खास एप्रिल एडिशन निकाल दिया है। किसी सार्वजनिक विशेष बात पर या धर्म, इतिहास या जाति की उन्नति पर, सवादपत्र अपनी विशेष सख्या निकाला करते है। प्रयाग के 'हिंदुस्थान रिव्यू' ने काग्रेस पर काग्रेस-नबर और नेशनल नबर निकाले हैं और अवध की अग्रेजी राज्य मे प्रविष्ट होने की जुबिली पर अवध-नबर निकाला है। 'जमाना' अकबर के राज्य के ३०० वर्ष पीछे उसके स्मरणार्थ अकबर-नबर मे निकला था। परन्तु इस पत्र की धर्म-सरक्षणार्थैव प्रवृत्ति जन्माष्टमी या रामनवमी नबर न निकाल सकी, रामानुज नबर की कल्पना भी न कर सकी, और अप्रैल-एडिशन मे परिणत हो गई। धन्य ! इनके लिए ससार ही एप्रिल है, सारा जीवन ही पहली एप्रिल है और उसका परम लक्ष्य एप्रिल के दुलहे बनाना ही है। एप्रिल का समकक्ष भारत-वर्ष मे वैशाख मास है न ? अतएव फूल फूल कर, कुद कुदकर एप्रिल मे ही अपनी जयती मनाने वाले इस पत्र को इस वर्ष की होली का नायक Lord of Misrule कहना चाहिए। होली के उपहार इन्ही को सपूर्ण रूप से अर्पण करने चाहिए। यो सर्वप्रधान आसन उन्हे देकर दूसरा आसन एक उचकनप्रिय वीर को दिया जाता है। ये काटने के लिए आरे और जलाने के लिए आग तो हैं, पर गढने के लिए हथौडा नही हैं। इनने एक मनुष्य को एक श्लोक "पसद आवे" के लिए लिख भेजा है, वह प्रेम से एक के बदले मे तीन हाजिर करता है—

उत्तरङ्गो महानक्रवक्रोक्तिचक्रभीषणः ।
शब्दोदधिः सुदुर्गम्यो दुस्तरोऽकृतबुद्धिभिः ॥
येषां सद्गुरुकर्णधारभजनं प्रज्ञावहित्राणमोऽ-
भ्यासश्चानुगुणो मरुत् प्रतिदिनं शब्दागमाम्भोनिधौ ॥
पारं यत्नवशादवाप्य नितरां रत्नानि लभ्यानि तै-
र्दूरात्तीरगतेस्तु दर्शनभिया सोदद्विभराप्यानि किम् ॥
नो चक्षुषापि कलिता किल कौमुदी यै-
र्भाष्यादिदीपनिवहोऽधिगतो न वा यैः ।
येषां च पाणिनिमतार्क समागमो मो ।
तेषां तमःप्रचय एव न चास्य शांतिः ।

(तारानाथ तर्कवाचस्पति ==:)

नीचे उनकी मनस्तुष्टि के लिए थोडे से वाक्य वाईवल से उद्धृत किए जाते हैं। वाईवल से इसलिए कि उन्हे वैदिक साहित्य के प्रचड पडित नापसंद हैं। उनका वर्तमान आचरण इन वाक्यो मे खूब प्रकाशित होगा। लोगो ने उनको उन्ही की नाप से नापा है, उन्ही के आइने मे उनका मुँह दिखला दिया है। इस पर आप सह नही सके। वार-वार नही कह कर 'मन भावे मुँड हिलावे' की चाल पर, 'प्राड् मामेति' भर्तृहरि के श्लोक के अनुसार (पूरा श्लोक इम्वा तक की गलतियो के भय से नकल नही किया गया) प्रलाप ही करने लग गये। जो औरो को मजाक मे 'सहस्राक्ष' कह देता है उसे उनके 'सहस्रजिह्व' कहने पर आँखें नही दिखानी चाहिए। जो औरो के व्यर्थ निंदा के सिद्धात के ठट्ठे मे एक स्वतन्त्रता विषयक पुस्तक लिखने दौडता है, उसे अपनी समालोचनाओ को तो उचित और औरो के कथन को चरखा कातती बुढियो के गीत नही मानना चाहिए। जो चिढकर पुरानी सेवाओ को और शेप झगडे की सहायता को याद कर सकता है, वह यह भी सोच देखे कि उस 'प्राग्रमन्यमना हठेन पठिनी' को श्री हर्ष क्या कहते जो वश के भूषण और ज्ञानदाता खडन-खडखाद्यकार का ठट्ठा उडाता है? जितना अनुपात आपके समालोचकों और आप मे है, क्या उतना भी आप अपने मे और श्री हर्ष मे मानेंगे? जो यह कह सकता है कि हरिश्चंद्र अपने ही निकाले हुए मार्ग के मुसाफिर से रुष्ट नही होते, वही क्यो अपने ही पथ के पथिक को 'मूर्खस्य पच चिह्नानि' और 'कुत्सापूर्ण नि.सार वर्णना' कहता है? परन्तु क्या करें—"दुनिया मे उपदेश एक ऐसी चीज है जो अपने लिए नही बल्कि औरो के लिए ही बनाई गई है।"

भगवान् करे इस दो-चार के युग की आठ आँखें सदा दोष खोजने मे सलामत रहें। तब पितर ने उस पार आ कहा, "हे प्रभु! मेरा भाई कै वेर मेरा अपराध करे और मैं उसको क्षमा करूँ? क्या सात वेर लौं।" यीशु ने उससे कहा, "मैं तुमसे

प्रतिनिधि : क्षमा कीजिए, पण्डित जी, आप तो बहुत साफ हिंदी बोलते हैं ? क्या सगीत आपके यहाँ वंश-परम्परा से चला आया है ?

मि० पुलस्कर : हाँ, मैं पहले भी युक्तप्रांत मे बहुत रहा हू, और अब व्याख्यान आदि के देने से हिंदी ही बोलनी पडती है । महाराष्ट्र मे कोई ही ब्राह्मण ऐसा होगा जिसको वश-परम्परा से भजन-कीर्तन न आता हो या कुछ-न-कुछ सगीत न आता हो। हमारे पितामह गदर के दिनो मे उत्तर भारत मे ही थे और 'आमचे वडील' हरिकीर्तन करते थे । मैंने दस वर्ष तक प्रैक्टिस किया, किन्तु वास्तव ज्ञान महात्मा गुरुदेव की कृपा से ही हुआ । उन्ही की कृपा से मैंने कुछ···

प्रतिनिधि : "हाँ, आपने क्या इस विद्या मे नये आविष्कार भी किये हैं ? और इसके नोटेशन का जो आपका नया क्रम है, वह आप ही का है ?

मि० पुलस्कर : "हाँ, मेरा अपना अपना ही है ।" विष्णुराव ने कहा "मैंने प्राचीन ऋषियो के ग्रथो पर ही चलकर सब कुछ जाना है । द्रुतगत अणुद्रुत पहले भी था, अणु अणुद्रुत, और अणु अणु अणुद्रुत मेरी समझ है । ऐसे ही इन चिह्नो को देखिए । इनसे सरगम का नया ही रूप हो गया है और पढने-पढाने मे बडी सुगमता हो गई है । देखिए, इस पुस्तक (सगीत बाल-बोधक) मे तिस्र आदि नाम भी हमारे ही निकाले हैं । यह बात आप कहीं न पाइएगा ।

प्रतिनिधि : क्या महाराजा शौरीन्द्रमोहन टागोर का क्रम आपने देखा है ? उसके विषय मे आपका क्या मत है ?

मि० पुलस्कर : वह अंग्रेजी नोटेशन का अनुकरण और केवल बीस-पच्चीस रागो पर ही चलता है । उसमे यह बात नही कि साठ-साठ पेज तक एक ही राग का विस्तार चले । हमे इसके लिये नये टाइप भी बनवाना पडे हैं ।

प्रतिनिधि : तो अब पजाब मे आपका काम कैसे चल रहा है ?

मि० पुलस्कर : चार वर्ष मे जो कुछ हुआ है उससे भविष्यत् की अच्छी आशा होती है । पहले लोग हमे कहा करते थे कि लडको को बिगाडते हो । धीरे-धीरे सभी सभ्य सज्जन आने और मानने लगे हैं । गुप्तदान भी बहुत कुछ आ जाता है । इतना व्यय किसी-न-किसी तरह चलता ही है । एक मकान के लिए जमीन भी मिल गई है । अपना प्रेस भी खोल लिया है जिसमे 'सगीतामृत-

प्रवाह' हिंदी मासिक पत्र छपता है। हमारी वर्कशाप मे हार-मोनियम, तम्बूरी प्रभृति बनाए जाते हैं और उनकी बिक्री से अब सब खर्च निकालकर विद्यालय को १५०/-, २००/- प्रतिवर्ष बच जाता है।

प्रतिनिधि : क्षमा कीजिए, हारमोनियम बनाने में आप विलायत से क्या-क्या मंगाते हैं और यहां कितना बनाते हैं?

मि० पुलस्कर : प्राण विलायती होता है, शरीर यहां का बना होता है। प्राण यहां बनावें तो एक पर्दे मे २/-, २/- लगते हैं, पूरा पड़ता नहीं। हां, इन तीन महीनों की छुट्टियों में हम या प्रोफेसर और विद्यार्थी घूमने को निकलते हैं। कोई यूं देता है तो कोई यूं, नहीं तो गा-बजाकर लेते हैं। हम लोग इसमें से कुछ भी रुपया नहीं लेते, चाहे जहां से पावें। हमने नार्मल का उप-देशक क्लास खोला है और संगीत-विशारद की उपाधि भी इस वर्ष से देना चाहते हैं। बस, पंजाब में लोग हमें जान गए हैं और काम भी चलता है।

प्रतिनिधि : मैंने सुना था—आप लोग आनरेरी काम करते हैं?

मि० पुलस्कर : नहीं, हम लोग रईस या जागीरदार तो हैं ही नहीं। अन्न-वस्त्र तो वहीं से लेना पड़ता है। हमारा आनरेरीपना समझो तो यही है कि हम कहीं नौकरी नहीं करेंगे। रजवाड़ों मे हमें ३००/-, ४००/- मासिक मिल सकता है। कई प्रोफेसर भी १५०/-, २००/- पा सकते हैं।

प्रतिनिधि : तो आपका मिशन क्या है? और अभी तक पंजाब में आपको क्या करना है? क्या आपका संगीत की युनिवर्सिटी खोलने का भी विचार है?

मि० पुलस्कर : मिशन दो प्रकार के होते हैं। मिसरी का मिशन और कड़वा मिशन। हमारा मिसरी का मिशन है। जो एक दफा जान जाएगा वह अवश्य हाथ बढ़ाएगा। जब वेश्या म्लेच्छा आदि के साथ मिसरी कुपथ्य थी तभी लोगों ने उसे न छोड़ा, तो यह तो सुपथ्य है, लोग चाहे कुछ कहें पर उनके कान नहीं मानते, वह हैं खींच ही लाते हैं। पंजाब में गाँव गाँव में हमारे शिष्य हैं और वहाँ-वहाँ उन्होंने हमारे क्रम से, हमारी पुस्तक से पढ़ना शुरू किया है। हमारे साथी ही जाकर परीक्षा लेते हैं। जालंधर, होश्यारपुर मे इस बात में सफलता हुई है। हमें बड़ी भारी आवश्यकता एक बड़ा मकान बनाने की है।

फिर परमेश्वर की कृपा और लोगों की सहायता से स्थान-स्थान में संगीत पाठशाला बनकर हमारे विद्यालय से सम्बद्ध हो जाए, इसमें क्या कठिनता है? हमारा उद्देश्य यह है कि ब्राह्मण जाति इस विद्या से घृणा न करे जिससे उसमें इस सुकुमार और मनोहर विद्या का प्रचार हो और भारतवर्ष का पुराना गौरव लौट आवे। सम्भव है कि अभ्यास से मल्लार से मेघ आना और दीपक से दीपक का जलना प्रभृति—

प्रतिनिधि : क्या इनको इस शक्ति में आपका विश्वास है?

मि० पुलस्कर : भगवद् भजन में सब शक्ति है। उन शक्तियों के जानने से देश का दुःख दूर हो जाएगा।

प्रतिनिधि : पंजाबियों की संगीत की योग्यता के विषय में आपका क्या मत है? क्या उनका मस्तिष्क और जातियों की अपेक्षा अधिक अनुकूल है। सुना है—बंगालियों ने अन्तःपुर और बाहर संगीत का अच्छा प्रचार किया है?"

मि० पुलस्कर : पंजाबियों में कई शताब्दियों में संगीत के संस्कार दूर हो गए हैं, तो भी परिश्रम से वे और जातियों से अच्छे हो जा सकते हैं। बंगदेश में मैं स्वयं कभी गया नहीं परन्तु यह कह सकता हूं कि हम बंगालियों ने कभी जेब से सहायता नहीं दी है।

प्रतिनिधि : अच्छा, जाने दीजिए, परन्तु 'भूखे पेट भजन नहीं होई' देश कंगाल है। इसमें शिल्प या राजनैतिक आन्दोलन को ही समय नहीं मिलता और न रुपया। ऐसे समय में विश्राम के कार्य संगीत को इतना ध्यान देना लोगों को रुचता है?

मि० पुलस्कर : जो भक्त हैं, भावुक हैं, सहृदय हैं, वे आटे में नमक और रुपये में पैसा हमें ही देते हैं। जो नहीं हैं, वे या तो रुपया गाड़ छोड़ते हैं या दुर्व्यसनों में डाल कर भी देश की दीनता की दुहाई दिया करते हैं। संगीत से प्रसन्न होकर भगवान् सब कुछ दे देंगे। कई दुर्व्यसनी बालक हमारे यहाँ रह कर उत्तम चरित्र के बन गए हैं। रही राजनीति, सो कभी आजमा देखिए। आपके व्याख्यान का अधिक प्रभाव होता है या हमारे तानारीरों के एक जातीय गीत का। 'सर्वारम्भास्तण्डुलप्रस्थमूला।' यदि हमारे विद्यालय की पुस्तकों का एक-एक सेट भी प्रत्येक भद्र पुरुष ले ले तो कल हम स्वयंभर (*Self Sporting*) हो जाएं।

प्रतिनिधि राजपूताना के दौरे मे आप दरबारों से मिलकर यह प्रबन्ध क्यों नहीं करते कि उनके गुणीजनखाने या स्तुतिपाठकों मे आपके उत्तीर्ण परीक्षा-छात्र रहें जिससे निरर्थक और उत्पात की गजलो से तो देश बचे। मदिरों मे भी, 'दिलदार यार प्यारे' की जगह आपके यहाँ के जातीय गीत और भजन गवाये जायें न ?

मि० पुलस्कर हाँ, यह बहुत अच्छा होगा। कृष्नगढ महाराज न दो विद्यार्थी मेरे यहाँ भेजने का वचन दिया है। मीराज और मधोल राज्य ने भी विद्यार्थी भेजे हैं। परन्तु राजपूताना के दरबार इतने दुर्भेद्य हैं कि उन तक मेरी गति ही नही होती। अब मैं उदयपुर जाऊँगा और ता० १६ अक्टोबर को विद्यालय खुलेगा। तब तक जो हो जाए सो हो जाय।

प्रतिनिधि : अब के काशी में राष्ट्रीय महासभा होने वाली है। क्या आप वहा जातीय गीतों मे पुरुष और रमणियो से गान का प्रबन्ध नहीं कराएँगे ?

मि० पुलस्कर : कांग्रेस के कार्यकर्ताओ से हम समय और स्थान मागेंगे और यदि अनुकूल हुआ तो एक या अधिक प्रोफेसर और विद्यार्थी वहाँ भेजेंगे। रमणियो का तो—।

प्रतिनिधि : क्यों ? क्या देश की दुर्दशा मे पुरुष लगे रहें और गृहलक्ष्मिएँ दाक्षिणात्य और बंगदेश की रमणियो की तरह इस सरस्वती की वीणा को न उठावें ?

मि० पुलस्कर · नही, जालधर कन्या महाविद्यालय मे हमारे ही क्रम से शिक्षा दी जाती है। मैं भी यही चाहता हूँ कि गृहलक्ष्मियाँ इस सुकुमार शिल्प को ले ले। बगदेश मे तो मैं भी कभी गया नही, पर इधर अभी यह बात दूर है।

प्रतिनिधि : थियोसोफी से आपका क्या सम्बन्ध है ? उसके विषय मे आपका क्या मत है ?

मि० पुलस्कर मुझे अपने काम से फुरसत नही मिलती। मैं यही चाहता हूँ कि इसी मे ४८ वा ७२ घण्टे का अहोरात्र हो जाए। सब बातों मे जो अपने अनुकूल अश हो वह मनुष्य से ले लेना, और हमे किसी से कुछ वास्ता नहीं। न उनके महात्माओ से हमारा काम है।

प्रतिनिधि : पजाब में हिंदू-मुसलमान और हिन्दू-सिक्खों के झगडे का क्या आपके विद्यालय पर कुछ प्रभाव पड़ा है ?

मि० पुलस्कर नही, प्राय ७५ उच्चकुलो के मुसलमान हमारे यहाँ से पढ गए हैं। परन्तु वे पूरा नही सीखते। कुछ कम ही सीखकर चल देते हैं। इसका कारण यह है कि हम गजलें तो सिखाते नही और 'गाइए गणपति जगवदन' घर जाकर बोलने मे उन्हें शर्म आती है। परन्तु मैंने कहा न, कान हमारे यहाँ बिना आए नही मानते। सिक्ख भी हमारे यहाँ पढते हैं परन्तु उनका और हिन्दुओ का झगडा मिटने वाला नही है क्योंकि उसमे राजनैतिक अभिसंधि है। हाँ, आजकल बगाल मे जो स्वदेशी आन्दोलन चला है शायद इससे कुछ वर्षों मे यह मिट जाय।

प्रतिनिधि : स्वदेशी आन्दोलन ! आपका काम भी स्वदेशी है।

मि० पुलस्कर हाँ, हार्मोनियम को लोग सबसे सरल और उपयोगी समझते हैं। परन्तु तुम्बरु ठीक है। अजी, हम तो शहनाई प्रभृति को मिला जुलाकर खासा बैण्ड, फौजी बैण्ड बना दें, पर करें क्या ?

प्रतिनिधि : क्या आपको आशा है, पजाब मे हिंदी चल जाएगी ?

मि० पुलस्कर सरकार कचहरियो मे न करे तो दूसरी बात है। नही तो साधारण व्यवहार मे एक दिन उर्दू को हिंदी निकाल देगी। हमारी हिंदी पुस्तको का द्वितीय सस्करण होता आया परन्तु उर्दू बिकती नही।

प्रतिनिधि : अच्छा, कोई नया जातीय गीत तो लिखाइए—'सारे जहाँ से अच्छा, हिन्दोस्ताँ हमारा' तो मैंने सुना है।

मि० पुलस्कर वह नही, यह नया लीजिए। इसका नोटेशन 'सगीतामृत-प्रवाह' की नवम् सख्या में छपा है—

राग खम्माज

भारत हमारा देश है हित उसका निश्चय चाहेंगे।
और उसके हित के वास्ते, हम कुछ-न-कुछ कर जाएँगे॥
भारत की दु स्वप्न अवनति पर, क्यो न अश्रु बहाएँगे।
और उसके मिटाने के लिए हम कुछ-न-कुछ कर जाएँगे॥
भारत हमारी मातृभूमि उसका ऋण हम पर बहुत।
उसके शोधन के लिए हम कुछ-न-कुछ कर जाएँगे॥
धन-विद्या और धर्म से उन्नति भारत की हो।
इस उन्नति के मार्ग मे हम कुछ-न-कुछ कर जाएँगे॥

[प्रथम प्रकाशन समालोचक सितम्बर १६०५]

टिप्पणियाँ

मनोरंजक श्लोक-१

(राजाओं की चिट्ठियाँ)

महाराष्ट्र राज्य के संस्थापक शिवाजी महाराज के विरुद्ध जब मुगल सम्राट् औरंगजेब की तरफ से लड़ाई के वास्ते शाइस्ता खाँ आया, तब, ऐसा सुना जाता है, कि उसने यह श्लोक लिख कर शिवाजी के पास भेजा—

वानर ! त्वं वने स्थायी पर्वतस्ते सदाश्रयः।
वज्रपाणिरहं साक्षात् शास्ता स्वयमुपागतः॥

अर्थात् हे वानर ! तुम वन में रहते हो और पर्वत ही तुम्हारा आश्रय है। पर्वतों के पक्षों को काट डालनेवाला साक्षात् वज्रपाणि इन्द्र ही, शासन करनेवाला (शास्ता, शाइस्ता खाँ) बन कर, मैं तुम पर चढ आया हूँ।"

शिवाजी ने इसका जो उत्तर दिया उसका तात्पर्य यह है कि पर्वत में रहनेवाले, और वन के आश्रित वानर हनुमान ने बालकपन ही में इन्द्र को पराजित किया था, और इन्द्र के दमन करनेवाले रावण को खूब नाच नचाया था। मुसलमानी सेनापति की ओर से संस्कृत श्लोक का लिखा जाना चमत्कारजनक है।

दिल्ली के मुगल बादशाहों के अन्तिम काल में आम्बेर (जयपुर) के महाराज सवाई जयसिंह अपने राज्य को बढाते चले जाते थे, और मालवा की सूबेदारी भी करते थे। उस समय पेशवा राज्य के नायक बाजीराव ने, उन्हें अन्योक्ति में यह श्लोक लिखवा भेजा—

पीत्वा गर्जन्त्यपस्ते दिशि दिशि जलदा-
स्त्वं शरण्यो गिरीणां
सुत्रामत्रासभाजां त्रिदशविटपिनां
जन्मभूमिस्त्वमेव।
ऐश्वर्यं तच्च तादृक् त्वयि सलिलनिधे !
किन्तु विज्ञाप्यमेतत्

सर्वोपायेन मैत्रावरुणिमुनिकृपा-
दृष्ट्यः प्रार्थनीया ।

"हे समुद्र! मेघ तुम्हारा ही जल पीकर सब कहीं गरजते हैं, इन्द्र से डरे हुए पर्वतों के शरण भी तुम्हीं हो, कल्पवृक्षों का जन्म भी तुम्हीं से है और ऐश्वर्य भी तुम्हारा वर्णन से बाहर है। परन्तु विज्ञापना इतना ही है कि सभी उपायों से अगस्त्य मुनि (समुद्र को पी जानेवाले) की कृपादृष्टि की प्रार्थना करते रहना"।

इसका उत्तर यह गया—

क्षन्तव्यो द्विजजातिरिति परिभवो-
ऽप्येतद्वच पालनात्
पीतः कुम्भसमुद्भवेन मुनिना
किं जातमेतावता ?
मर्य्यादा यदि लङ्घयेद्विधिवशात्
तस्मिन् क्षणे वारिधि-
स्त्रैलोक्यं सचराचरं ग्रसति वै,
कस्तत्र कुम्भोद्भवः ।

"समुद्र के द्वारा इस वचन के पालन किये जाने के कारण, कि ब्राह्मण से हार जाने पर भी उसे क्षमा ही करना पड़ता है, यदि घड़े से पैदा होने वाले मुनि ने उसे पी लिया तो क्या हुआ? यदि समुद्र (प्रलयकाल की तरह) अपनी मर्यादा को उलांघ जाय तो वह सारे संसार का ग्रास कर सकता है, बेचारे कुल्हिया से जन्मे हुए मुनि की क्या कथा?"

यह रूखा उत्तर देकर भी उक्त महाराज ने सुनते हैं, मालवा की सूबेदारी का पट्टा बादशाह से पेशवा के नाम लिखवा, सिप्रा में स्नान करके 'ब्राह्मण' पेशवा को मालवा का दान कर दिया।

[प्रथम प्रकाशन : सरस्वती अगस्त, १९०४ ई०]

मनोरंजक श्लोक-२

ताम्रपत्रों और शिलालेखों में जो राजाओं की प्रशस्तियाँ लिखी मिलती हैं उनमें प्रशस्ति लिखने वाले कवि अपनी-अपनी बुद्धि से अपने आश्रयदाता के वंश

को बहुत ऊँचा वर्णन करते हैं। यदि वश मे कुछ न्यूनता हो तो उसको तो छिपाते हैं ही, परन्तु और उसी समय के वंशो से उसको उत्कृष्ट दिखाने का भी यत्न करते हैं। अपने वश के उत्कर्ष को दिखाने के लिए दूसरो के वश की निंदा भी किया करते हैं। परन्तु एक कवि की अनूठी वर्णना बिना राग-द्वेष की, बिना निन्दा की और बहुत ही मनोरम है।

राजा अन्नवेम का एक दानपत्र शक सवत् १३०० का वनपल्ली (गोदावरी जिला, मद्रास) मे मिला है। ये राजा शूद्र जाति के रेड्डी थे। प्रशस्ति के निर्माता त्रिलोचनार्य अपने आश्रयदाता के वर्ण का यो वर्णन करता है[1].

> तत्र चतुर्थो वर्णः शौरे. पदपद्मसम्भवो जयति।
> यस्य सहजा स्रवन्ती त्रिभि. प्रवाहै पुनाति भुवनानि॥

भगवान् विष्णु के चरण-कमल से उत्पन्न चतुर्थ वर्ण की जय हो जिसकी सहोदर भगिनी गगा अपने तीन प्रवाहो से तीन श्लोको को पवित्र करती है।

चमत्कार यह है कि जो लोग ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रा को भगवान् के मुख, बाहु, ऊरु और चरण से क्रमश उत्पन्न हुआ मानते है और चतुर्थ वर्ण को नीच समझते है वे ये भी मानते है कि लोकपावनी गगाजी भी उसी भगवान् के चरण के अगुष्ठ से निकली हैं। कवि गगा को शूद्र वर्ण की बहन बनाकर चुपचाप बिना दूसरो की निन्दा किये, दूसरो ही के शब्दो मे अपने आश्रयदाता के वश का उत्कर्ष दिखा गया।

[प्रथम प्रकाशन · सरस्वती नवम्बर, १९१० ई०]

मनोरंजक श्लोक-३

प्रसिद्ध विद्वान् बालभट्ट से किसी ने पूछा कि आजकल आपका पुत्र क्या करता है। बालभट्ट अपने कुपुत्र के आचरणों से दु खी थे। बोले :

> पक्षिमत्स्यमृगान् हन्ति। परिपन्थ च तिष्ठति।
> वातेन जीवति। अधुना। न वशः। पूर्ववत्स नः॥

१ एपिग्राफिया इण्डिका . मार्च, १८९४, पृष्ठ ५९

अर्थात्—पक्षि, मत्स्य और मृगो को मारता है, कुमार्ग पर चलता है, लुच्चे-लुगाडो के साथ रहता है, अब वह पहले की तरह हमारे वश नही ।

इस श्लोक के छः टुकडे हैं [जैसा कि चिह्नो (।) से दिखाया गया है] और वे छहो पाणिनि की अष्टाध्यायी के सूत्र हैं। सूत्रो को जोडकर ही श्लोक बना दिया गया है ।

[प्रथम प्रकाशन सरस्वती नवम्बर, १९११ ई०]

मेढकों की टर्रं

इस पत्र की किसी गत सख्या मे पडित बालचन्द्र शास्त्रीजी ने तुलसीदासजी की—

दादुर धुनि चहुँ ओर सुहाई । बेद पढ़हिं जिमि बटु समुदाई ॥

इस उक्ति से श्रीमद्भागवत के नीचे लिखे हुए श्लोक की समानता दिखाई है—

श्रुत्वा पर्जन्यनिनाद मण्डूका व्यसृजन्गिरः ।
तूष्णीं शयाना. प्राग्यद्वद् ब्राह्मणा नियमात्यये ।

इस सम्बन्ध मे पाठको को यह जानकर विनोद होगा कि मेढक के टर्राने की उपमा ब्राह्मणो के वेदपाठ से देने की चाल बहुत पुरानी है । यहाँ तक कि ऋग्वेद के मण्डूकसूक्त (मण्डल ७ सूक्त १०३) मे भी यह बराबर मिलती है । वहाँ मेढको को 'साल भर तक व्रत मे नियम से रहने वाला' (संवत्सरं सशयानाः ब्राह्मणा व्रतचारिणः) कहा गया है । इससे भागवत के श्लोक के 'श्याना' और 'नियमात्यये' को मिला देखिए । आगे चलकर 'बेटा जैसे बाप के पीछे-पीछे बोलता है' (पितर न पुत्रः) वैसे मेढको का बोलना बताया गया है। 'इनमे से एक दूसरे की बोली का अनुवाद करता है, जैसे गुरु की बोली को चेला' (अन्यो अन्यस्य वाच शाक्तस्येव वदति शिक्षमाणः) 'भरे हुए तालाब के चौतरफ अतिरात्र सोमयाग मे ब्राह्मणो की तरह बोलते हुए' ('ब्राह्मणासो अतिरात्रे न सोमे सरो न पूर्णमभितो वदन्तः) 'सालाना यज्ञ करते हुए सोमयाजी ब्राह्मणो की तरह' (ब्रह्मवासः सोमिन. ब्रह्म

कृण्वन्तः परिवत्सरीणम्) ये बोलते हैं और इनमे से कुछ पसीजते हुए अध्वर्यु याज्ञिको की तरह छिपे हुए सामने आते हैं (अध्वर्यवो धर्मिण सिष्विदाना अविर्भवन्ति गुह्या न केचित्) नियम से बहुत काल तक चुप रहकर फिर नियत समय तक बोलना और बार-बार एक स्वर से बोलना इन्ही सादृश्यो को लेकर यह उपमा चली है और वेद, पुराण और भापा-कविता तीनो मे अमर हो गई है। अवश्य ही वेद-पाठियो का इसमे कोई अपमान नही विचारा गया। व्यर्थ बोलने को भी मेढको के टर्राने की उपमा दी गई है। जैसे वेद मे "ऋपि अपने शत्रुओ के विपय मे कहते हैं कि "मैं तुम्हारा सर्वस्व लेकर तुमसे ऊँचा हो जाऊँ और तुम्हारे सिर चढ बैठूँ और तुम मेरे पैरो तले से यो बोलो जैसे मेढक पानी मे से।"

[प्रथम प्रकाशन वेंकटेश्वर १८ मार्च, १९१०]

काकपद

लिखते-लिखते यदि कुछ अक्षर छूट जाते हैं तो उन्हे पक्ति के ऊपर लिख दिया करते हैं। जहाँ यह 'टूटक' जोडी जाने को होती है, वहाँ एक चिह्न कर दिया करते हैं। आजकल की लिखावट मे यह काम इस ∧ चिह्न से लिया जाता है, जिसे अगरेजी मे 'केरेट' कहते हैं। प्राचीन पोथियो मे यह चिह्न V अथवा ≡ पाया जाता है। सस्कृत मे इसका नाम 'काकपद' अर्थात् 'कौवे का पाँव' है। यह नाम सादृश्य पर रखा गया है। सस्कृत के प्रौढि कवि, लिखने-पढने की साधारण बातो के आधार पर भी बडी ही रसमयी उक्तियाँ कहा करते थे। श्रीहर्ष ने सूर्य तथा चन्द्रमा के आसपास घेरा देखकर यह उक्ति की कि जैसे पण्डित लोग व्यर्थ या अशुद्ध अक्षरो को न काटकर उनके चारो ओर हरताल से एक कुण्डल या घेरा बना दिया करते हैं वैसे ही नल के तेज और यश के आगे सूर्य-चन्द्र को व्यर्थ समझकर विधाता उनके चारो तरफ कुण्डल खीच देता है। काकपद के विपय मे दो उक्तियाँ इस लेख मे दी जाती है -

'स्तुतिकुसुमाजलि' का कर्त्ता जगद्धर भट्ट अपने दादा गौरधर के विपय मे लिखता है—

> प्रमादनिर्माय पुरातनः कविर्यमग्निमश्लोकमवश्यमग्रतः।
> विमृश्य पङ्क्तेरुपरि द्विजन्मनां न्यवीविशत्काक पदाकितं पुनः॥ (३६।२)

कादंबरी और दशकुमारचरित के उत्तरार्ध

पहले एक लेख मे (पत्रिका भाग १, पृ० २३५-३७)[1] कादवरी के उत्तरार्ध के कर्ता, बाण के पुत्र, पुलिंदभट्ट के विषय मे लिखा जा चुका है। बूलर ने उसका नाम भूषणभट्ट लिखा है किंतु कोई प्रमाण नही दिया। उस लेख मे डाक्टर स्टाइन के अनुसार जिस कश्मीर की पुस्तक का हवाला दिया है वह शारदाक्षरो मे भूर्ज पत्र पर लिखी हुई है और उसका लेख-काल शक सवत् १५६६ (ई० १६४७) है। सूक्तिमुक्तावलि मे धनपाल कवि कृत एक श्लोक विशिष्ट-कवि-प्रशसा मे है जिसमे बाण और पुलिंद का नाम साथ देकर श्लेष से दिखाया है कि बाण की कादबरी का 'सधान' पुलिंद ने किया—

केवलोऽपि स्फुरन् बाणः करोति विमदान् कवीन्।
किंपुनः क्लृप्तसधानपुलिंदकृतसन्निधिः॥

जम्मू के पुस्तकालय मे, स्टाइन की सूची के अनुसार, एक दशकुमारचरित की पोथी भूर्जपत्र पर सवत् १८३३ की लिखी हुई है, जिससे जाना जाता है कि दशकुमारचरित का शेषाश (उत्तर-पीठिका) पद्मनाभ ने पूर्ण किया था। संभव है कि वह भी दडी का पुत्र हो क्योकि दूसरी एक प्रति के वर्णन मे यह सवेदन दिया है—'अत्र दडिन एव कर्तृत्व न तु तत्पुत्रस्य'।

[प्रथम प्रकाशन : नागरी प्रचारिणी पत्रिका : १९२१ ई०]

अधिक संतति होने पर स्त्री का पुनर्विवाह

भास्कर मिश्र सोमयाजी का बनाया हुआ एक 'आपस्तवध्वनितार्थकारिका' नामक निबंध है। ग्रन्थकार के पिता का नाम 'वादिमुन्दर-ठाकुर-कुमारस्वामी-सूरि' है और ग्रथकार की उपाधि 'त्रिकाडमंडन' होने से ग्रन्थ भी 'त्रिकाडमडन' कहलाता है। इसमे सोमयाग के विषय मे कई श्रौतसूत्रो के वचनो का पूर्वापर विचार करके आपस्तब सूत्रानुसार मीमासा की है। कई धर्मशास्त्र-निबधो मे इसकी कारिकाएँ उद्धृत हैं इससे ग्रन्थ पुराना है। कहते हैं कि भास्करमिश्र हेमाद्रि

1 दे०—इस ग्रथ में पिछला लेख 'कादबरी के उत्तरार्ध का कर्ता' पृ० ३०२ सपादक।

से लगभग २०० वर्ष पहले हुआ[1]। इसकी एक टीका 'विवरण' नाम की है, परन्तु उसके कर्त्ता और समय का पता नहीं।

त्रिकाण्डमंडन में एक जगह लिखा है कि हिमालय में बकरा बोझा ढोने के काम आता है[2]। उसकी टीका में एक और जगह एक और बड़ी अद्भुत बात लिखी है। लिखा है कि यदि किसी स्त्री के बीस सन्तान हो जाय तो अपने कुल के भले के लिए उसका पुनर्विवाह कर देना चाहिए, ऐसी स्मृति है[3]। ऐसा किस स्मृति में है?

[प्रथम प्रकाशन नागरी प्रचारिणी पत्रिका,
भाग-१, अंक-२, श्रावण, १९७७ वि० १९२० ई०]

श्रीश्रीश्रीश्री

बीकानेर के महाराज अनूपसिंहजी, आमेर (जयपुर) के सवाई जयसिंह जी की तरह, अद्भुत पुरुष हुए हैं। उन्होंने सन् १६६९ से १६९८ ई० तक राज्य किया। औरंगजेब की ओर से उन्होंने दक्षिण में राजगढ़ के राजा को परास्त किया, सन् १६८७ में गोलकुंडा विजय किया और मद्रास हाते के बिलारी जिले के अडोनी स्थान में बादशाह के काम पर ही रहकर देह त्याग किया। यों चिर काल तक दक्षिण में रहकर उन्होंने विद्वानों से मित्रता की और संस्कृत ग्रन्थों का संग्रह किया।

बीकानेर के विशाल संस्कृत-पुस्तकालय में कई वैदिक पुस्तकों की पुष्पिका में लिखा हुआ है कि नासिक के अमुक विद्वान् ने यह पुस्तक महाराज अनूपसिंह जी की प्रीति से भेजी। इस प्रकार उन्होंने इस अमूल्य पुस्तकालय की स्थापना की। वे स्वयं भी संस्कृत के विद्वान् थे। कई पुस्तकों पर लिखा हुआ है कि यह पुस्तक महाराजकुमार अनूपसिंह जी की है जिससे सिद्ध होता है कि कुमारपद में भी वे संस्कृत के प्रेमी और पढ़नेवाले थे।

जिन पुस्तकों पर उनका नाम 'महाराजकुमार' की उपाधि के सहित लिखा

१ रा० गो० भण्डारकर, रिपोर्ट, सन् १८८३ ४, पृ० २७-२८
२ छागोऽपि संभवत्येवद् वहत्येन हिमालये (बिब्लो० इंडि० संस्करण) पृ० ६१
३ स्मर्यते विंशतिप्रसूताया पुनर्विवाह ।
यदा त्रिंशतिधापत्यप्रसूयेतांगना जन ।
पुनर्विवाह तस्यास्तु कुर्यात्स्वकुलशान्तये ॥ इति वही पृ० २०२

है उनमे कहीं-कही उनके नाम के पहले 'श्री४' लिखा है जो एक नई बात है। हिंदी के एक पुराने दोहे के अनुसार (जिसका समय निश्चित नहीं हैं) श्री लिखने का यह क्रम है—

श्री लिखिए षट् गुरुन को, स्वामि पंच रिपु चारि।
तीन मित्र द्वै भृत्य को, एक पुत्र अरु नारि।।

इसका मूल वररुचि कृत 'पत्रकौमुदी' का यह श्लोक कहा जाता है—

षट् गुरोः स्वामिनः पञ्च द्वे भृत्ये चतुरो रिपौ।
श्रीशब्दानां त्रयं मित्रे एकैकं पुत्रभार्ययोः॥

यद्यपि 'पत्रकौमुदी' वैयाकरण वररुचि (कात्यायन) की बनाई नहीं हो सकती तो भी अनूपसिंह जी के समय से तो प्राचीन ही है। फिर होनहार राजा के नाम के पहले 'श्री४' क्यो ? यह कई पुस्तकों मे है। जैसे 'खण्डप्रशस्ति' की प्रति में—

॥ पु० [पुस्तक] महाराजकुंवार श्री४ अनूपसिंह जी रो छै ॥

अब यह प्रश्न उठता है कि क्या राजपूताना मे महाराजकुमार के नाम के पहले 'श्री४' लिखने की रीति के प्रमाण और भी कहीं हैं ? है तो क्या उस समय 'रिपु चारि' वाला संकेत प्रचलित न था ? तो क्या स्वामी की 'श्री५' मे से महाराजकुमार को छोटा समझकर एक कम करने से ही चार की संख्या स्थिर की गई थी ? अथवा यह कौटिल्य के अर्थशास्त्र के इस सिद्धांत की गूँज है कि—

'कर्कटकसधर्माणो जनकभक्षः राजपुत्राः' ?

(राजपुत्र कॅकडे की तरह पिता के खानेवाले होते हैं)।

कौटिल्य ने राजपुत्रों की सम्हाल, उनसे बचने और उन्हें उपद्रव के लिये असमर्थ बनाए रखने के विषय मे बहुत कुछ लिखा है।

[प्रथम प्रकाशन : नागरी प्रचारिणी पत्रिका :
भाग-१, अंक-२, श्रावण १९७७ वि० १९२० ई०]

निदर्शन पर सम्मति

जयपुर आकर मैंने श्रीयुत मनसाराम जी की लेखमाला को आद्यन्त पढा। कालिदास की निरकुशता पर जो कुछ द्विवेदी जी ने लिखा है वह भी मैंने ध्यान से पढा है।

मेरे मत मे जिन लोगो का यह तर्क है कि कालिदास की समालोचना ही नही हो सकती तो यदि हो भी सकती है तो पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी जी उसके करने के उपयुक्त पात्र नही हैं, वे लोग बडी ही भूल करते हैं। उनके मत का कोई भी साहित्य-प्रणाली का अभिज्ञ समर्थन नही करेगा और मुझे यह देखकर हर्ष हुआ है कि मनसाराम जी की प्रौढ पाण्डित्यपूर्ण लेखमाला मे इस बात की सूचना नही है और न यही कहना ठीक है कि द्विवेदी जी ने कालिदास का अपमान करने की ओर अपनी सर्वज्ञता स्थापन करने को लेख लिखे हैं। महाकवि का मान, यदि कोई ऐसे यत्न भी करे तो, उनमे हिल नही सकता और न लोग इस बात के लिए तैयार हैं कि महाकवि की महिमा को उठाकर उस जगह द्विवेदी जी का अपने हाथो रगा चित्र स्थापन कर दें। द्विवेदी जी ने कही भी ये दावे नही किये हैं। उन्होने स्थान-स्थान पर अपनी शालीनता दिखायी है। महाकवि की ओर अपनी भक्ति प्रकट की है और बारबार कहा है कि यह लेख वाग्विलास मात्र समझा जाए। इन लेखो को पढने से लोगो को कालिदास की कृति के अनुशीलन की ओर रुचि हुई है, और नही तो श्रीयुत मनसाराम जी के लेखों के निमित्त कारण होने से ही द्विवेदी जी के इन लेखो को महत्व देना चाहिए।

कालिदास की कविता मे जो दूषण द्विवेदी जी ने उद्भावन किये है वे सब दूषण ही हैं इस पर मतभेद हो सकता है। वे सब दूषण द्विवेदी जी की अपनी पूजी है ही नही। मम्मट और क्षेमेन्द्र, दक्षिणावर्त और नन्दर्गीकर जिस मार्ग पर चले हैं उस पर चलने के लिए द्विवेदी जी को क्यो रोकना चाहिए और उसी पर चलने के लिए मनसाराम जी की ओर क्यो क्रोध करना चाहिए? प्रत्येक साक्षर व्यक्ति को अधिकार है कि कवि के काव्य की आलोचना करे, प्रत्यालोचना करे। जिसका जैसा हृदय होता है वह वैसा ही भाव कवि की कविता मे देखता है। कोई काव्य आज तक निर्दोष या पूरी तरह निर्गुण नही मिला। इन दोनो वाग्विलासो से मैं यह तात्पर्य निकालता हूँ कि महाकवि के कुछ लेखों मे द्विवेदी जी ने प्राचीन लक्ष्यलक्षणकारको की शैली पर चलकर उन दोषो का समाधान किया है और सिद्ध करने का यत्न किया है कि वे दोष द्विवेदी जी की दृष्टि मे ही हैं, महाकवि की रचना मे नही। न तो द्विवेदी जी को ही हम कुछ कह सकते हैं कि उन्होने मम्मट, क्षेमेन्द्र आदि की प्रणाली पर क्यो पैर रखा और न द्विवेदी जी मनसाराम जी को कह सकते हैं कि आप मेरी लीक पर क्यो चले हैं। हाँ, यह मुझे सखेद कहना पडता है कि द्विवेदी जी के लेख मे हास्य-परिहास की मात्रा कम होने पर भी मनसाराम जी की लेखमाला मे ताने-तिश्ने की मात्रा अधिक है—व्यक्तिगत टिप्पणियो के छीटे भी है। यह भी देखा जाय तो, हिन्दी मे गड्डलिका प्रवाह हो गया है। मनसाराम जी ने अवश्य ही बिहारी-विहार के समालोचक और स्मर्तव्यशेष आत्माराम की परिपाटी का अनुगमन किया है।

वही क्यो ? हिन्दी-कालिदास की आलोचना लिखते समय द्विवेदी जी ने जो चाल चली थी और सतसई-सहार मे पर्मसिह शर्मा ने जो प्रथा आश्रयण की थी उनके देखते मनसाराम जी की कृति कुछ विस्मयकारक नही है। समालोचना मे कुछ छेडछाड कुछ छीटे देना एक प्रकार की स्वीकृत चाल-सी हो गयी है। अमरु महाकवि के 'अमरुशतक' मे किसी कवि ने थोडे-से क्षेपक मिला दिये है। उस पर टीकाकार ने खूब चोट उडायी है। एक पद्य मे नायक अपनी नायिका के विषय मे कहता है कि जब से प्रेम-पिपासित उसका अधर पिया तब से मेरी तृष्णा बढती ही जाती है, क्यो न हो उसमे ऐसा ही लावण्य है। लावण्य का अर्थ सुन्दरता (नमकीनपन) भी है। लवण ज्यादा खाने से प्यास बढती है यह इसका चोज है। टीकाकार इस पर कहता है कि खूब ! यह शायर शायद साभर नमक की खान का खोदने वाला मजूर है, उसे नमक की प्यास ही सूझती है। अतएव यदि इन हास-परिहासो को छोड दें और उनकी उपेक्षा करें तो हम मनसाराम जी के लेखो मे पाण्डित्य, गवेषणा, तलस्पर्श, कविता के भावावबोध की ज्योति और वादजन्य वितण्डा तीनो के करने की शक्ति पाते हैं जिससे उनकी लेखमाला बडे महत्त्व की हो गयी है।

द्विवेदी जी ने कालिदास के कुछ काव्यो पर जो उट्टड्कनाएँ की हैं उनकी भी गुजाइश है और उन पर मनसाराम जी ने जो पुनरुट्टड्कना की है उनकी भी गुजाइश है। न द्विवेदी जी ही अदूरदर्शी हैं और न मनसाराम जी ही जले हुए बेसमझ है। द्विवेदी जी के कई आक्षेप मनसाराम जी की व्याख्या से कट गये हैं। (जैसे विटप और विटपि वाला) और कई पर उनके व्याख्यान से एक प्रकार का प्रकाश पडा है जो उनकी वास्तव अवस्था को स्पष्ट दिखाता है। द्विवेदी जी के बडे-से-बडे मित्र भी यह न कहेगे कि सब आक्षेप यथार्थ हैं, वे ये कहेगे कि आक्षेप करने का हक द्विवेदी जी को जरूर है। मनसाराम जी के मित्रो को भी यह कहने का साहस नही है कि आधी के सामने मेघ की तरह द्विवेदी जी के सभी आक्षेप उड गये हैं। यही क्यो न दोनो पाण्डित्यधुरीणो के लेखो को पढकर प्रत्येक मनुष्य *साहित्यवेत्ता सहृदय मनुष्य—महाकवि के लेख विशेषो पर भिन्न-भिन्न मतविशेष* स्थापन करेगा। यदि मनसाराम जी की लेखमाला को पढकर कोई यह गमक निकाले कि द्विवेदी जी अनभिज्ञ और हठी हैं तो वह उतना ही दोषी है जितना द्विवेदी जी की लेखावली को पढकर कालिदास को अकवि समझने वाला। मैं दो उट्टड्गनाओ पर अपना मत लिखता हूँ।

१ द्विवेदी जी ने काक के सीताजी के स्तनान्तर के नखो से विकरण करने के प्रसग को जुगुप्सित कहा है और महाकवि की पौरोभाग्यवाली उत्प्रेक्षाओ को और भी जुगुप्सित कहा है। उन्होंने तुलसीदास के लेख से अश उद्धृत किया है कि तुलसीदास ने चरणविदारण की चर्चा की है और वाल्मीकि-रामायण से तो श्लोक

कहा है कि तेरी परीक्षा के लिए मैंने इतनी बातें बनायी थी। इधर कालिदास ने अपनी शकुन्तला को इन कुवाच्यो से बचाने के लिए राजा को बहुत ही मृदुभापी और धर्मभीरु बनाया है और राजा को जानबूझकर स्त्रीपरित्यागी होने के कलक से बचाने के लिए दुर्वासा के शाप की ओर शक्रावतार तीर्थ म अँगूठी खो जाने की कथा गढी है। यह कोई न कहे कि ये कथाएँ कालिदास के मस्तिष्क से प्रसूत नही हैं, उसने पद्मपुराण से ली हैं, सिद्धात यह है कि पद्मपुराणकार ने ही कालिदास की रची-रचायी आख्यायिका को अपने यहाँ उतार लिया है।

*अस्तु जैसे कालिदास ने दुष्यन्त और शकुन्तला के उस ग्रामीणपने को दबा*कर यह सुन्दर चित्र बना दिया, जिसकी प्रशसा म जर्मन पण्डित मरता मरता गीत गाता रहा वैसे ही हम उससे यह आशा करते हैं कि सीता जी के स्तनो पर काक के चिह्नो पर—यदि वे सच्चे भी होते—वह पर्दा डाल देता। परन्तु उसने यह नही किया, यही नहीं उलटी पौरोभाग्य वाली उत्प्रेक्षा लगा दी जो दुराचारी दुष्यन्त के भविष्यत् दण्ड के लिए उपयुक्त होने पर भी औचित्य से कोसो दूर है।

परन्तु यह मेरा मत है। औरो का मत यह हो सकता है कि इतना बडा पाप बिना कराये जयन्त को इतना बडा दण्ड क्यो दिलाया जाता ?

२ अस्तु, अब 'प्रियोपतरसेऽप्ररोप्ठे' वाली बात को लीजिए। उस पर जो कुछ द्विवेदी जी ने लिखा है उससे मैं सहमत नही हू। उसे मेरी तुच्छ मति मे केवल शुष्क लक्कडतोड प्रौढवाद कहना चाहिए। उसमे Puratan—पते की बातों को पढकर उस वृद्ध सामवेदी का स्मरण आ गया जिसने यह श्लोक कहा था कि—

> सामगायन पूत मे
>
> ओष्ठिष्टमधर कुरु।
>
> उत्कण्ठितासि चेद् भद्रे
>
> *वाम कर्णं ददास्व मे* ।।

और जहाँ गृह्यसूत्रो की और धर्मसूत्रो की दुहाई द्विवदी जी ने दी है वहाँ पर वात्स्यायन प्रणीत कामसूत्र का यह खण्ड याद आया कि—

रतिचक्रे प्रवृत्ते तु नैव शास्त्र न च क्रम ।

सक्षेप मे, मै यह कह सकता हूँ कि मनसाराम जी की आलोचना योग्यता और गवेपणा को लिए हुए है और जगह जगह पर पाण्डित्य दिखला रही है और महावीरप्रसाद जी ने जो कालिदास की निरकुशता पर कुछ लिखा है उस पर अब्रह्मण्य अब्रह्मण्य चिल्लान की जरूरत नही।

[प्रथम प्रकाशन भारतमित्र ८ जुलाई १९११ ई०]

चरित-साहित्य

आचार्य सत्यव्रत सामश्रमी

असमसाहससुव्यवसायिन
सकललोकचमत्कृतिकारिण ।
यदि भवन्ति न वांछितसिद्धयो
हतविधेरयशो न मनस्विन ॥ (शकुकस्य)

यदि भारतवर्ष का अँगरेजी राज्य, बृटिश सेनापतियो की वीरता, हिन्दुस्तानी सिपाहियो की तलवार, पहले शासको के अन्यायो से दुखी भारतवासियो की सहानुभूति—इन तीन कारणो से भारतवर्ष मे जम सका है तो सर्वत्र व्याप्त और पूरी तरह दृढ होने मे एक चौथा कारण बगाली क्लर्कों और कासिदो की योग्यता भी है। जान कपनी और उसके पीछे ईस्ट इडिया कम्पनी की जो कुछ सफलता हुई है उसका एक बडा भारी अश बगालियो का किया हुआ है। उस समय प्रत्येक अँगरेज अफसर अथवा व्यापारी का दहना हाथ एक बगाली भद्रलोक होता था जो छाया की तरह उसके साथ-साथ देश के कोने मे अपने उदर-पोषण के अतिरिक्त बृटिश राज्य की दृढता सम्पादन करता था। पटना मे एक ऐसे ही रामबाबू थे जिन्होंने प्रतिष्ठा के साथ सरकार की उच्च नौकरी की थी। ग़दर के दिनो मे उन्हे अपनी स्वामिभक्ति के कारण बडे क्लेश उठाने पडे थे, बागियो ने उन्हे बहुत सताया था। पेंशन लेकर वृद्धावस्था मे वे पुराने ढग के बगालियो की तरह काशीवास करने को चले आये और अनाथनाथ भगवान् विश्वनाथ और भगवती जगत्पावनी गगा की शरण मे अपना जन्म व्यतीत करने लगे। उनका ललाट विशाल था, बर्फ की सी श्वेत लम्बी दाढी थी, हिंदी बोलने मे और वेश विन्यास मे वे कनौजिया पडित-से दीखते थे, बगाली किरानी नही। और उनके साथ दो छोटे बालक थे।

जन्म और नामकरण :

रामबाबू आजकल के लेखिनीप्राण बाबुओं की तरह साहब की सालाना

रिपोर्ट को ही इस लोक और परलोक का परम पुरुषार्थ मानने वाले नही थे। ब्राह्मण का धर्मप्रेम, धर्मप्राण हिन्दू का स्वजाति प्रेम और आदर्शवित् पण्डित का उच्च अभिलाष उनके हृदय में जागता था। स्वय राजभाषा पढकर अगर्हित वृत्ति से धन सम्पादन करने के लिए बाध्य होने पर भी उनके हृदय मे यह अनुताप ही रहा कि अहो! मैंने ब्राह्मणोचित वेदो का निष्काम अध्ययन अध्यापन नही किया। जब वे अपनी प्रियभूमि वगदेश की दुरवस्था देखते तब उनके उष्ण नि श्वास निकल आते। वे देखते कि वंगदेश मे एक साथ वेदाभ्यास उच्छिन्न हो गया है। वेदो के प्रधान अग व्याकरण का भी पाणिनीय नय से पठन-पाठन उत्सन्न हो गया है। लोग कामधेनु के रहते हुए ऊँटनी को दुहते हैं, पाणिनि के घण्टापथ राजपथ को छोडकर मुग्धबोध, कातन्त्र और कलाप के आपातरमणीय मार्ग का अनुसरण कर रहे हैं। वर्णाश्रम धर्मरूपी फलफूल के मूल वेद को लोग भूल गये हैं, देश भर मे नव्य न्याय की श्रवणकटु काकभाषा और तान्त्रिक धर्म फैला हुआ है। मीमासा तथा स्मृतियो का स्थान कल्पित निबन्धो ने ले लिया है और अद्वैत वेदात के शुद्धश्वेत मार्ग पर मेघवर्ण नववैष्णव धर्म की कुज्झटिका फैल रही है। प्राचीन पितरो की तरह उसने प्रार्थना की कि 'अपि न सकुले जायात्' हमारे कुल मे वह जन्मे जो बगदेश मे फिर पाणिनीय व्याकरण और वेद का प्रचार करे। फिर श्रवणमधुर सामगान से और शिव ताण्डव के सूत्रो से वगदेश का 'हूँ फट्' और घटत्वावच्छिन्न से सठियाया हुआ कान जगाया जाय। सन्तान न होने से उसने पक्व अवस्था मे भी दूसरा विवाह किया, जिससे सन् १८४६ मे एक पुत्र हुआ। उसका नाम उन्होने कालिदास रखा।

डाकिये ने लाकर हाथ मे 'सुधाकर' पत्र दिया और पडित कृपालुदत्त जी के पुत्र का नाम 'सुधाकर' हो गया। बालक कालिदास ने एक दिन पिता के बाग मे आम तोडकर खाया और बन्दर और बालक मे साधारण चचलता होने के कारण फूलो को मरोड डाला। पिता ने नौकर का दोष समझकर उसे खूब पीटा और निकाल दिया। पुत्र यह सुनते ही पिता के पास गया और आँखो मे आँसू भर अपना दोष स्वीकार करता हुआ भृत्य को निर्दोषिता सिद्ध करने लगा। इस सत्यप्रेम को देखकर पिता ने पुत्र का नाम सत्यव्रत रख दिया। उसी दिन पिता के हृदय में यह बात आ गई कि यह सत्यव्रत वास्तव म वेद-विद्या का अधिकारी है। उपनिषदो मे एक सत्यकाम जाबाल की कथा लिखी है। उसने अपनी माता से पूछा कि मैं ब्रह्मचर्य लेकर, गुरु के पास जाकर वेद पढूँगा, मुझे बता दे कि मैं किस गोत्र का हूँ। माता ने कहा कि यह तो मैं नही जानती। जवानी मे मैं बहुत इधर उधर फिरी, तभी तू जन्मा था, मैं जबाला हूँ और तेरा नाम सत्यकाम है इससे तू जाबाल गोत्र सत्यकाम हुआ। और कोई बालक अपनी माता की लज्जा को छिपाना चाहता किन्तु वेद-विज्ञानप्रेमी सत्यप्राण सत्यकाम ने हारिद्रुमत

गोतम के पूछने पर सब सच सच कह दिया। गुरु ने भी कहा कि 'ब्राह्मण भिन्न कोई इतनी निर्भयता से नहीं कह सकता, आ, तुझे मैं सिखलाऊँगा, क्योंकि तू सत्य से नहीं डिगा।' अमेरिका के संयुक्त राज्य के स्थापक जार्ज वाशिंगटन ने एक कुल्हाडी से अपने पिता के प्रिय चेरी-वृक्ष को काट डाला था। पिता को दुःखी देखकर उसने सत्य कह दिया। पिता ने कहा कि मेरा पुत्र झूठ बोले, इसकी अपेक्षा मैं यह कह सकता हूँ कि ऐसे ऐसे हजार वृक्ष कट जायँ। सत्यव्रत के छोटे भाई का नाम ब्रह्मव्रत रक्खा गया। काशी आने पर पिता ने उनके पठन-पाठन का क्रम चलाया। काशी सदा से हिन्दू-सभ्यता का विद्यापीठ चला आया है परन्तु उन दिनों काशी और ही कुछ हो रही थी। वहाँ ऐसे बड़े-बड़े ग्रह नक्षत्र प्रकाशित थे जिनका-सा आलोक कभी काशी के आकाश में नहीं हुआ होगा। जिन आँखों ने काशी का वह प्रकाश देखा है या जिन कानों ने काशी का वह घोष सुना है उन्हें आजकल की काशी कैसे दिखाई देती होगी? एक लेखक लिख गया है—"परन्तु काशी! तेरे मे बडी भारी एकदेशिता है, यह विद्या और धर्म का स्रोत तेरे में अखण्ड होने पर भी खण्डित है, नित्य होकर भी नश्वर है। बगाल और मिथिला मे ऐसे बहुत पडित-कुटुम्ब मिलेंगे जिनमे पन्द्रह-बीस पीढियों से, परम्परा से, शास्त्रों के पारदर्शी पडित होते आये है। काशी की प्राचीनता से यदि हम यह नही पूछ सकते कि गोतम बुद्ध से शास्त्रार्थ करने वाले पडितो के वंशधर तो बता, तो नही सही, यदि हम काशिकाकार के उत्तराधिकारियों को नही पा सकते तो नहीं, सही, यदि भट्टो जी दीक्षित और नागो जी दीक्षित के जन्म वंशधरो को विद्यावंशधर नहीं पाते तो नही सही, परन्तु यहाँ तो एक वंश में तीन या दो पीढी भी पडितो को नही मिलती। यहाँ की कहावत है कि—"काश्यां त्रैपुरुषी विद्या काश्यां त्रैपुरुषं धनम्" अर्थात् काशी मे विद्या और धन तीन पुश्त तक रहता है। यहाँ पढकर जो कोई पंडित हुआ, या तो वह कहीं राजाश्रय में चला गया अथवा कोई पंडित राजाश्रय पाकर अपने वार्द्धक्य को बिताने यहाँ आया। यहाँ पर 'पण्डित-पुत्र' एक मूर्खवाचक गाली है, फिर नये पंडित हुए, फिर चले गये!"

उस समय पूज्यपाद पंडित गौड स्वामी जी महाराज ने काशी में वह व्याकरण, मीमांसा और वेदांत का स्रोत बहाया था जो देश-देशान्तरों को आप्यायित करने वाला था। जैसे चुम्बक पर लोहा खिंच आता है वैसे देशदेशान्तर के पुराने जन्मों के संस्कारी लोग वहाँ खिंचकर आ रहे थे। जब आचार्य स्वामी एक हाथ मे दण्ड और दूसरे में पुस्तक के पन्ने लेकर भिक्षा को निकलते, तब सात सौ, आठ सौ पंडित विद्यार्थी उनका अनुसरण करते। स्वामी विश्वरूप जी और स्वामी विशुद्धानन्द जी (जो क्रमशः गौड स्वामी जी की गद्दी पर बैठे), जम्मू के पंडित गोकुलचंद्र जी, भाष्यवाले ब्रह्मचारी पंडित विश्वराम जी (अपने विद्वान्

प० रामभज जी और विद्वान् पुत्र तुल्य शिष्य शिवराम जी के साथ पण्डित श्रीधर और पडित हरजसराय जी, प० शिवकृष्ण वेदात सरस्वती ये और कई ऐसे विद्वान् बन चुके थे और बन रहे थे। उधर पडित वस्तीराम जी, पडित काशीनाथ शास्त्री, प० राजाराम शास्त्री (और पीछे से पडित बाल शास्त्री), पडित विट्ठल शास्त्री और पडित वेचनराम त्रिपाठी ने 'काशी क्वीन्स कालज' को वह गौरव दे रखा था जिससे यह नया विद्यापीठ भी अति माननीय हो गया था। यही पर प० बापूदेव शास्त्री अपनी ज्योतिष की खोज से एक अक्षुण्ण पथ का अनुसरण कर रहे थे। प० राधामोहन भट्टाचार्य के से नैयायिक और प० नन्दराम गुजराती के से वैदिक काशी को पवित्र कर रहे थे। उस समय मे पडित सत्यव्रत भी विद्यार्थी रहकर पडित हुए। स्वामी विश्वरूप जी से उन्होने भाष्यात पाणिनीय व्याकरण पढा और मीमासा का अनुशीलन किया। प० नदराम गुजराती से उन्होंने सामगान-पूर्ण सामवेद का अध्ययन किया। सत्यव्रत ने सामश्रयी की उपाधि पाई और उनके भाई ने सामाध्यायी की। यो श्रुतियो से कठो को और हृदय को पवित्र करके उन्होने अपने पिता की आदर्श अभिलाषा का एक अश पूरा किया। पिता की कामना थी कि मेरा पुत्र अद्वितीय वैयाकरण और सामग हो। सो प० तारानाथ तर्कवाचस्पति के पीछे बगदेश मे इतना बडा पाणिनीय वैयाकरण नही हुआ। बगाली होकर भी वह सामवेदी और अयंश सामवेदी हुआ। वैयाकरण होकर भी वह वैदिक हुआ। प्राचीन पडित होकर भी वह विचारो वाला, खोज की खुजलाहटवाला और इतिहास का सहायक हुआ। मौखिक विद्या पढकर भी वह सुपरिष्कृत सस्कृत लिखने वाला हुआ और सदा प्राचीन और अति प्राचीन शास्त्रो का अनुशीलन करते रहने पर भी वह निर्भयता से स्वतत्र मत प्रकाशित करने वाला हुआ।

काशी मे व्यवसाय

पण्डित सत्यव्रत को अब वह तण्डुलप्रस्थ की चिन्ता हुई जिससे कहा जाता है कि बुद्धिमानो की बुद्धि वसत की हवा से मारी गई शिशिर की श्री की तरह भाग जाती है। सामश्रयी और पडितो की तरह, विद्यार्थियो का व्याकरण और वेद पढाने लगे। परन्तु सस्कृत विद्या का प्राचीन श्रेणी का कोई भी पाठक विद्यार्थियो स नियमित फीस नही लेता मोल लेकर पढाना एक पाप है। किसी राजा स वेतन लकर पढाने को भृतकाध्यापन' समझकर काशी के पडित को गर्हा दृष्टि से देखत थे, परन्तु क्वीन्स कालेज की तनख्वाहो और डाक्टर वालन्टाइन के सत्कार ने उस आग्रह को हटा दिया था परन्तु सामश्रयी के लिए वह द्वार भी खुला न था। कारण जब सरकार न सस्कृत विद्या के प्रचार के लिए क्वीन्स कालेज खोला तब पादरियो ने शोर मचाया था कि कृस्तान सरकार हीदन

(=अधर्मी) हिन्दुओ के धर्म का प्रचार न करे, इसी से क्वीन्स कालेज मे व्याकरण, न्याय आदि के पाठन का प्रबध होने पर भी वेद और मीमासा की गद्दियाँ नही स्थापित हुई। काशी का अभाग्य और भारतवर्ष की गवर्नमेंट का अभाग्य। नही तो कोई बाल शास्त्री या कोई बापूदेव वेदो का भी निकल आता और जो खोजें जर्मनी मे हुई हैं, वे काशी मे होती ! और न वह ही समय आता जब एक वेदपाठी गुजराती सन्यासी काशी के पडितो की ख सूचि बनाकर छोड जाता जैसा कि आगे लिखा जायगा। पडित सामश्रमी शास्त्रार्थों मे, राजदरबारो मे, सभाओ मे जाकर सत्कार और दक्षिणा पाने लगे। हरिद्वार आदि के कुम्भ प्रभृति मेलो मे भी उन्होंने अपना पाण्डित्य प्रकट किया। नवद्वीप में जाकर उन्होंने एक समय ऐसा पाण्डित्यपूर्ण शास्त्रार्थ किया कि उससे मुग्ध होकर एक वृद्ध पडित ने अपनी एक पोती का पाणिग्रहण सामश्रमी से कर दिया और दूसरी का सामाध्यायी से। यह पुराने वैदिककाल की-सी बात थी। जब 'ब्रह्मोद्य' म जीतने वालो अथवा अच्छे याज्ञिको को पतिवराएँ मिला करती थी।

प्रत्नकम्रनन्दिनी

काशी म रहकर सामश्रमी जी ने इस नाम का एक सस्कृत-मासिक-पत्र निकाला जिसने उनकी निर्भय गवेषणा और प्रौढ प्रज्ञा को भारतवर्ष और योरप मे प्रसिद्ध कर दिया। उन दिनो ग्रिफिथाचार्य न जो बालन्टाइनाचार्य की जगह क्वीन्स कालेज के प्रिसिपल होकर आये थे, काशी के पडित-मण्डल रूप समुद्र से एक पत्र 'काशी विद्या सुधानिधि' निकाला जिसका प्रसिद्ध नाम 'दी पडित' है। इसमे सस्कृत तथा अग्रेजी मे प्राचीन अलभ्य ग्रथो के मूल, अनुवाद, टीका-टिप्पणी, खण्डन-मण्डन छपते थे। पीछे केवल ग्रथ छपना ही रह गया। गफाचार्य, ग्रिफिथाचार्य, थीबोचार्य और प्रथम प्रकाशक लाजरस साहब के पुत्र वेनिसम्बार्य—सबने क्रम से इस पत्र को निबाहा। अब दो वर्ष से वह सिसक रहा है। जब निकला था तब बडी धूम से निकला था। राजा शिवप्रसाद तक ने उसमे सस्कृत मे लेख लिखे। परन्तु काशी की प्राचीनता से, अथवा पडितो की सहज शकित चित्तता से उसमे वह हिम्मतवर गवेषणा नही चली जो 'इण्डियन एन्टिक्वेरी' या जर्मनी के 'इंडिश स्टडियन' मे थी। इस अभाव को सत्यव्रत जी की 'प्रत्नकम्रनन्दिनी' अर्थात् पुरानी बातो के शौकीनो को आनद देने वाली पत्रिका ने पूरा किया। अन्नपूर्णा के पिछवाडे एक अँधियारे मकान मे पडित जी रहा करते और स्वय उस पत्र के लेखक, सम्पादक, प्रूफ सशोधक, दफ्तरी और डाक मे छोड आने वाले मजदूर तक थे। एक ओर तो श्रीसमृद्ध 'पडित' और दूसरी ओर नवीन दीन ब्राह्मण की नन्दिनी—परन्तु अर्थ-गौरव नन्दिनी म ही था। आजकल भी जिन हिंदी मासिक पत्रो के सम्पादको को वर्ष के वर्ष घाटा उठाना पडता है वे [illegible]

व्रत को सस्कृत में शोध का पत्र निकालने मे कितना लाभ हुआ होगा। परन्तु इससे सामश्रयी को यश मिल गया, क्या विरोधी क्या पक्षपाती सभी की जिह्वा पर उनके पांडित्य का साधुवाद चढ गया। इन्ही दिनो मे स्वामी दयानन्द धूमकेतु की तरह काशी मे आ पहुँचे और अक्षोभ्य समुद्र की तरह काशी की सतह उनके आने से पेंदे तक हिल गई। लोग विस्मय से आँखें फाडे हुए रह गये कि स्वामी जहाँ मन्त्रमात्र कण्ठ करने वाले वैदिको से मिलता है, वहाँ उन्हें अपने भाष्यव्यापी व्याकरण के ऊपर स्थित अर्थज्ञान से गूँगा कर देता है, वहाँ वह 'घटोपट' का तुपकण्डन छोडकर उन्हे सीधा वैदिक व्याकरण की चक्राग्र मे गोते खिलाता है। जिन्होंने नव्य व्याकरण म पचीसो वर्ष विताये थे उन्हे उसने निर्दयता के साथ 'कलम-सज्ञा' मे उलझा दिया और जिन्हे सारा शतपथ ब्राह्मण कण्ठ था उन्हे एक शब्द का अर्थ पूछकर चुप कर दिया। वर्तमान महाराज काशीराज के पिता महाराज ईश्वरीप्रसाद नारायण सिंह के सभापतित्व मे एक बडी भारी सभा हुई जैसी कदाचित् काशी मे कभी नही हुई थी। स्वामी दयानद जी का विशेषत्व यह था कि वे वेद को *प्रमाण मानते थे, परन्तु अपने किए हुए अर्थों से वेद से वे बातें कहते थे* जिन्हे लोग वेद-विरुद्ध समझते थे। सभा मे कुछ नही हुआ। आर्य सामाजिक तो कहते हैं कि काशी वाले गुण्डो ने ईंटे बरसाईं और ताली पीट दी और काशी-वासी कहते हैं कि स्वामी के हाथ मे एक पत्र दिया गया जिसकी पंक्ति का उनसे अर्थ नही हुआ। इस सभा का वृत्त प० सामश्रयी ने अपनी प्रत्नकम्रनन्दिनी मे निष्पक्षपात छापा। स्वामी दयानद के प्रति और उनके वैदिक विज्ञान के प्रति सत्यव्रत जी ने अपने ग्रन्थों मे सम्मान दिखाया है परन्तु 'वेद मे इतिहास नही है, सभी नाम गुणवाचक हैं' इत्यादि उक्तियो का खण्डन किया है।

कलकत्ता

अब सामश्रयी जी पिता के दूसरे उद्देश्य की पूर्ति के लिए कलकत्ते जा बसे और सामविद्यालय खोलकर विद्यार्थियो को पढाने लगे। उन्होने एक उषा नामक वैदिक विषय का सस्कृत-मासिक पत्र निकाला जो अतुलनीय पांडित्य से पूर्ण था। स्वर्गीय राजा राजेन्द्रलाल मित्र के द्वारा उनका एशियाटिक सोसाइटी बगाल से परिचय हो गया। वहाँ से इनके द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित होने वाले ग्रन्थ सामश्रयी जी के यश ही के केतु नही, उनके जीवन निर्वाह के भी हेतु हुए। पहले उन्होने चार जिल्दो मे सभाष्य सामवेद सहिता का गान सहित सस्करण प्रकाश किया। यह उनका प्रधान कीर्ति-स्तम्भ है। जैसे ऋग्वेद मे आफ्रेक्ट, यजुर्वेद मे वेबर तथा अथर्ववेद मे ह्विटनी आचार्य माने जाते हैं वैसे ही सामवेद मे सत्यव्रत जी इस सस्करण से माने गये। इसके पहले सामवेद का एक साधारण सस्करण 'बेनफे' का छापा हुआ था। सामश्रयी की विशेषता कि उनने गुरुमुख से वे गान

पढे थे जो परम्परागत होने पर भी पुस्तकों मे लिखित न थे और जिनमे जर्मन पडितो का चचु-प्रवेश नही था। पीछे उनन यास्क के निरुक्त का एक दो टीकाओ वाला सर्वोत्तम सस्करण छापा जिसकी भूमिका निरुक्तालोचन मनन करने योग्य है। इसको तथा उनके सम्पादित 'ऐतरेय ब्राह्मण' की भूमिका ऐतरेयालोचना को पढकर प्रकृति मग्न हो जाती है। बारम्बार सदेह होता है कि लेखक कोई प्राचीन भाष्यकार है तो ऐसी स्वतत्र खोज कहाँ से ? और नवीन है तो यह प्रसाद-युक्त सदर्भ कहाँ से ? क्या कोई अगरेज सस्कृत लिख रहा है तो इतनी अभिज्ञता कहा से और भारतवर्षीय पडित है तो यह निर्भयता कहाँ से ? उनके एक 'त्रयीचतुष्टय' नामक ग्रन्थ मे वेद का परिचय, कुछ चुने हुए सूक्तो का व्याख्यान और बगभापानुवाद छपा था जो वैदिक साहित्य की प्रवेशिका का काम देता है। जहाँ प्राचीन विद्वान् हिंदी को 'भाखा' कहकर घृणा करते हैं वहाँ उन्होने सामवेद सहिता का बगभापानुवाद किया। और सभी साम सम्बन्धी बहुत से ग्रन्थ सम्पादन किये जिनके कारण जब तक साम का पठन पाठन रहेगा तब तक उनका नाम अमर रहेगा। अब वे 'शतपथ ब्राह्मण' का सभाष्य सम्पादन कर रहे थे। यदि वह उनके हाथ से पूरा नही हो गया है तो भारतवर्ष मे आज उसका उस रीति से सम्पादन करने वाला कोई नही है।

ऐसे उद्भट विद्वान् के विषय मे यदि यह कहा जाय कि वे पुरानी लकीर के फकीर नही थ तो पाठक को आश्चर्य नही होना चाहिए। जहाँ पर मूर्खो का नाम 'देवाना प्रिय' आता है, वहाँ उसका यही अर्थ है कि देवताओ मे अधिक भक्ति साधारण बुद्धि वालो की ही होती है। लोकोत्तर प्रतिभा वाले स्वय ही 'विद्वासो हि देव' बन जाते है। नाना शास्त्रो का आलोडन करने वाला सौ डाड वाली नाव की तरह रूढि के लगर से जकडा नही रहता, वह भृग की तरह रूढि और लोकमत की बाँस की नली को फाडकर निकल जाता है। लोग कहते हैं कि सामश्रमी नास्तिक (—निरीश्वरवादी) वेदान्ती थे। वेद के अनन्त विज्ञान का भडार मानकर भी वे उसे अपौरुषेय नही, किन्तु ऋषि प्रतीत मानते थे। एक समय पुरुषो के बहु पत्नी-विवाह का मण्डन, वे वेद की महिषी, पालागला बवाता तथा इतर रानियो के प्रमाण से कटके उस पर इतने दृढ हो गये कि अपने भाई की पत्नी के लिए उन्होंने सपत्नी ला दी ! परन्तु पाणिनीय व्याकरण के साथ वेदार्थ के अध्यापन मे उनकी समता बगाल मे कोई नही कर सकता था, कदाचित् यह भी कह सकते हैं कि भारतवर्ष मे भी विरला ही कोई होगा।

चिराग तले अँधेरा

यद्यपि लक्ष्मी और सरस्वती के स्वाभाविक वैर के कारण सामश्रमी को धन विषय मे निश्चिन्तता कभी नही हुई तो भी 'कुसलधान्यक' ऋषियो के वंशधर सत्यव्रत

को इसकी व्यग्रता नहीं थी। कलकत्ते में रहकर और अपने नाम को अमर करने वाले वेदविद्या के सम्पादन और अध्यापन का काम करके भी उन्होंने गवर्मेंट से 'महामहोपाध्याय' की उपाधि नहीं पाई जो कभी-कभी साधारण योग्यता वालों को मिल गई है, इसका भी—'सन्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव'—को मानने वाले पंडित को विषाद न रहा होगा। अपने सामकण्ठ पुत्रों को विद्याध्यापन करते समय अथवा सुदूर पंजाब से आए हुए विद्यार्थियों को निरुक्तरत्न बनाते समय आचार्य महाशय को अवश्य अपने हृदय में यह अनुताप रहा होगा कि मेरे पिता का उद्देश्य बंगदेश में वेद और पाणिनीय का प्रचार—मुझसे पूर्ण न हुआ। जहाँ पंडित तारानाथ तर्क वाचस्पति ऊर्ध्वबाहु होकर चिल्लाते-चिल्लाते चले गये वहाँ सत्यव्रत के उद्योग से कलाप का तन्त्र, बोपदेव और सुपद्म का आसन नहीं हिला। कलकत्ता विश्वविद्यालय के संस्कृत के एम० ए० परीक्षा देने वालों को छोड़कर कदाचित् ही कोई पाणिनि खोलता हो। और हो क्यों, जबकि तीर्थ-परीक्षा तक बिना पाणिनीय आगम पढ़े काम चल सकता है। नव्यन्याय, तन्त्र, नव्यस्मृति और गौरवैष्णव सम्प्रदाय के आगे कौन बंगाली सामगान करने का समय पाता? बिहारी कह गया है—

करि फुलेल को आचमन, मीठो कहत सराह।
चुप करि रे गन्धी चतुर, अतर दिखावत काह॥
कर ले सूँघि सराहि के, रहे गहे सब मौन।
गन्धी गन्ध गुलाब को, गँवई गाहक कौन?

जैसाकि इस लेख के शीर्षक पर लिखे शंकुक के लेख से प्रकट है कि 'अतुलनीय साहस का व्यवसाय करने वाले, सारे लोकों को चमत्कृत करने वाले विद्वान् के यदि मनोरथ सिद्ध न हों तो उसका अयश नहीं है, विधाता का अयश है।' विधाता का चमत्कार देखिए कि त्रैलोक्य का उपकार करने वाले भगवान् शंकर की स्त्री, स्वयं पर्वत की पुत्री, देवताओं को इष्ट वर देने वाली, म्लेच्छों तक को मन चाहे फल देने वाली भगवती दुर्गा अपने निवास-स्थान विन्ध्याचल की उन्नति नहीं कर सकती।[1] इसका कारण बंगदेशीय विद्वानों की स्वयं संतुष्टता और उपेक्षा ही थी कि पंडित सत्यव्रत के सामवेदी शिष्य अधिक नहीं हुए। वृद्ध बंगदेश ने अपनी घूरती आँखों को खोलकर एक बार सामश्रमी को देख लिया और फिर

१ त्रैलोक्योपकृति प्रसक्तमनसो देवस्य शंभो प्रिया।
जाता शैल कुले वरैरभिमतैरानन्दयन्ती सुरान्॥
म्लेच्छानामपि वाञ्छितार्पणपरा स्वास्याश्रयस्याम्बिका।
विन्ध्यस्योन्नतिमातनोति न निजां दैवस्य कौदुग्वलम्॥ (अमृतदत्तस्य)

अपने नेत्र मूंद लिये। बंगाली पंडितों को अपनी बातों के व्यर्थ पक्ष का बड़ा दुराग्रह है, और देशों को यदि वे घृणा नहीं करते तो उनके गुणों की उपेक्षा के योग्य अवश्य समझते हैं। बंगदेश का संस्कृत का उच्चारण कैसा है, यह सभी जानते हैं। 'आत्मा' को 'आत्ताँ', 'स्मृति' को 'सृँति', 'व्युत्पत्तिवाद' को 'बिपत्ति-वाद' कहा जाता है। बंगाली स्कूलों में शुद्ध संस्कृत के उच्चारण को उत्तेजना देने के लिए एक महाशय ने काशी की रीति पर पाठ करने वाले को एक पदक देने का विज्ञापन दिया था। दूसरे वर्ष एक महामहोपाध्याय ने 'बंगाली ढंग' के उच्चा-रण के लिए एक पदक देना आरम्भ कर दिया। इस विषय की चर्चा आने पर स्वनामधन्य पूर्वोक्त महाशय ने कहा था—"वाह! बंगाली और बातों में स्वदेशी-स्वदेशी चिल्लाते हैं और जिह्वा में मद्रासी और महाराष्ट्र बने जाते हैं। क्यों? 'वागर्थाविव सम्प्रुक्तौ' (महाराष्ट्र ऋ स्वर को 'रु' बोलते हैं)। और हम बंगाली हमारे कातंत्र और कालाप को छोड़कर क्या पढ़ें? सिद्धान्त कौमुदी! वह तो महाराष्ट्रों के आक्रमण की यादगार है, जहाँ-जहाँ महाराष्ट्र शासन फैला वहाँ-वहाँ बलात्कार से कौमुदी चलाई गई। बंगाल कभी काशी की चाल से (काशिका) पढ़ाये जाने वाले पाणिनीय का पराधीन नहीं बनेगा।" यह अभिनिवेश सुनकर भय हुआ है कि सब कहीं सप्तकोटि कण्ठों से उच्चारित और द्विसप्तकोटि करों से धृत 'मुग्ध बोध' (जिससे मुग्ध ही का सा बोध होता है) शनैः शनैः भारतवर्ष भर में 'प्रौढ़ मनोरमा' का स्थान न ले ले!! कहीं सारे भारतवर्ष में ही 'अविदित-शपस विशेषा' वाणी की कृपा से 'स्वजन' श्वजन और शकृत् 'शकृत्' न हो जाँय!! अस्तु, ऐसी भूमि में और ऐसे विद्वानों में रहकर सत्यव्रत सामश्रमी जी ने जो कुछ किया, बहुत किया। यह बड़े ही शोक का स्थान है कि गत ता० १ जून सन् १६११ ई० को आचार्य सामश्रमी का परलोक वास हो गया।

[प्रथम प्रकाशन · मर्यादा · फरवरी, १६१२ ई०]

महामहोपाध्याय कविराजा मुरारिदान जी

इनका जन्म चारणकुल मे, माघ वदि द्वितीया, सवत् १८८७ मे हुआ था। इनके पितामह प्रसिद्ध कवि बाँकीदानजी थे, जिन्हे जोधपुर के महाराजा मानसिंहजी ने 'कविराजा' की पदवी दी थी। बाल्यावस्था मे मुरारिदानजी ने अपने पिता भारतदानजी से भाषा-साहित्य का अध्ययन किया और सस्कृत यति ज्ञानचद्रजी से पढा। सोलह वर्ष की अवस्था मे ये जोधपुर के महाराज तख्तसिंहजी के दरबार मे उपस्थित हुए। तब से महाराज की सेवा मे रहने लगे। सवत् १९२७ मे ये जोधपुर-प्रात के हाकिम हुए और पीछे, क्रमशः मेहता हरजीवनजी के सहयोगी मुसाहब, पचपदरे हाकिम, अदालत दीवानी के अफसर, अपील अदालत के जज,जनरल सुपरिंटेंडेंट, मजिस्ट्रेट आदि रहे। सवत् १९४३ से मृत्यु के थोडे ही समय पहले तक लगातार कौंसिल के मेबर रहे। इतिहास-कार्यालय के सभापति और मुसाहब आला सर प्रतापसिंहजी के चीन की लाम मे जाने पर राज्यकार्य चलानेवाली स्पेशल कमिटी के मेबर भी रहे। कर्नल वाल्टर ने विवाह आदि का अपव्यय मिटाने के लिए जो 'राजपूत-हितकारिणी-सभा' बनाई थी उसके उत्साही आदि-सस्थापको मे ये थे और यावज्जीवन उसके उद्देश्यो की पूर्ति मे लगे रहे।

महाराजा जसवतसिंहजी के नाम पर इन्होंने 'जसवतजसोभूषण' नामक अपूर्व अलकार-ग्रथ बनाया, जिसका सार 'जसवतभूषण' है और जिसका अनुवाद सस्कृत मे भी छप चुका है। जैसे चित्रमीमासा मे अप्पय दीक्षित ने सब अलकारो को उपमा ही का भेद सिद्ध किया है वैसे इन्होंने अलकारो के पृथक् लक्षण न बनाकर उनके नामो के शब्दार्थ से ही लक्षण किया है। प्राचीनो के मत का विवेचन करके शब्दार्थ ही मे आनेवाले अलकारो को उस अलकार की कोटि मे गिना है। यद्यपि—"भोज समय निकसी नही भरतादिक की भूल। सो निकसी जसवत समय"—की अप्रिय गर्वोक्ति की मोहर इस ग्रथ पर है, तो भी अलकार पर्या-

लोचना मे यह ग्रथ माननीय है। इसी पर प्रसन्न होकर महाराजा जसवतसिंहजी ने इन्हे 'कविराजा' की उपाधि और 'लाख पसाव' का दान दिया। लाख पसाव 'लक्ष प्रसाद' का अपभ्र श है। इसमे हाथी, घोडा, स्वर्ण, भूमि आदि लाख रुपये की सपत्ति दी जाती है। चारणो के इतिहास मे इस प्रसाद का बडा मान है।

इन्होने एक सक्षिप्त 'चारण ख्याति' भी प्रकाशित की थी। इनके अपूर्ण और अप्रकाशित ग्रन्थ ये हैं—बिहारी सतसई की टीका, सरदारप्रकाशिका, नायिका भेद का एक ग्रन्थ, आत्मनिर्णय (वेदात) और बडी चारण ख्याति।

जोधपुर मे कविराजा जी का मान सर्वोच्च श्रेणी के जागीरदारो के तुल्य था। राजपूताना भर मे ये विद्या, परोपकार, दूरदर्शिता, स्वामिभक्ति आदि के लिए प्रसिद्ध थे। गवर्नमेट ने इन्हें कई बार राज्य प्रबध-सबधी उपाधि देनी चाही, पर, इनके स्वीकार न करने पर, इनका अभिलषित विद्या सबधी महामहोपाध्याय पद दिया। उदयपुर के ऐतिहासिक कविराजा श्यामलदानजी के पीछे चारणो मे यही दूसरे महामहोपाध्याय हुए। यह चमत्कार है कि ब्राह्मणो को छोडकर अब तक महामहोपाध्यायो मे या तो बगाल के कविराज (वैद्य) हुए या राजपूताने के कविराजा (चारण)।

उदयपुर के प्रतिभाशाली महाराणा सज्जनसिंहजी ने मुरारिदान जी को, चारण समझकर, कुछ देना चाहा तो इन्होने यह कहकर निषेध किया कि मैं जोधपुर नरेश के सिवा किसी का प्रतिग्रह नही करता। कविराज जी महाराणा सज्जनसिंहजी की एक कथा कहा करते थे। एक समय दरबार मे पहुँचने पर कविराजा जी ने देखा कि महाराणा रोगशय्या पर चित्त पडे हुए हैं, हिल-डुल नही सकते, पर अपने नित्य शिव-पूजन का इन्हे इतना आग्रह है कि छाती पर मूर्ति रखकर पूजा कर रहे हैं। उन दिनो स्वामी दयानद सरस्वती का धौसा बजता था और महाराणा उनके प्रथम अनुयायी माने जाते थे। कविराजा जी ने विस्मय के साथ इस ख्याति और आचरण के विरोध का कारण पूछा तो महाराणा ने हँसकर उत्तर दिया कि 'मेरा जो इष्ट है वह तो आप जान ही गए, पर राजा को चाहिए कि लोक मे जो उपकारी कार्य्य हो रहा हो उसका साथ स्वार्थ के भावो को छोडकर दे। स्वामी का विरोध करने से मेरी आस्तिकता तो जो है वही रहेगी, बढ न जायगी, पर स्वामी की चेष्टाओ से जो अनेक हितो का साधन हो रहा है उसमे विघ्न पड जायगा।"

विद्या, यश, आयु और सतति मे पूर्ण भाग्यवान् कविराजा जी का स्वर्गवास इस वर्ष (स० १९७१), आषाढ सुदि पचमी के दिन, हो गया। यह देश भर के लिये घाटा है।

[प्रथम प्रकाशन १९१४ ई०]

मनीषि समर्थदान जी

राजपूताने के हिंदी-साहित्य-सेवियो मे वृद्ध वसिष्ठ मनीषि समर्थदानजी प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा से इतना भागते थे कि मेरे सैकडो बार कहने पर भी उन्होंने जीवनी के नोट नही कराए। जब अत की अचूक होनहार सूझ रही थी तब हम लोगो ने, अक्षरश नहीं तो तत्वत, उन्हे बिस्तरे से घसीटकर, उनके लाख विरोध करने पर भी, गत एप्रिल मास मे, उनका फोटो उतरवा लिया था।

ये सिढायच चारण थे और शेखावाटी के सीकर राज्य के मठवा ग्राम मे इनका जन्म हुआ था। मृत्यु के समय इनकी अवस्था ५५-५६ वर्ष की होगी। इनके पिता का नाम मगलजी था। इनके बाल्य-जीवन का इतना ही हाल मालूम है कि एक मौलवी से इन्होंने उर्दू पढ़ी थी। उसकी योग्यता और सदाचार की ये बहुत प्रशसा किया करते और उसकी शिक्षा और उदाहरण का इनके देशसेवामय जीवन पर जो प्रभाव पडा उसका गुण माना करते। युवावस्था मे ये स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी के सग मे आ गए। उस समय हिंदू नाम से बडी घृणा थी। "आर्य कहो, हिंदू मत कहो"—इस पर पुस्तिकाएँ लिखी और शास्त्रार्थ किए जाते थे। ऐसे ही समय मे 'मुशी' समर्थदानजी ने अपनी उपाधि 'मनीषि' कर ली। स्वामीजी के साथ ये कई वर्ष उनके 'वैदिक प्रेस' के प्रबधकर्ता होकर बबई, प्रयाग, मुरादाबाद, अजमेर आदि स्थानो मे रहे। वेदभाष्य के पहले सस्करणो के मुख-पृष्ठो पर इनका नाम छपा हुआ है। इस अवसर मे इन्हे संस्कृत और हिंदी का ज्ञान, धर्मसंस्कार, समाजसुधार और देशसेवा के भाव मिले, जो उस वैदिक-धार्मिक आचार्य की निरतर सगति का परिणाम माने जाने चाहिए। स्वामीजी के मरने के पीछे ये अजमेर मे बस गए और एक सुदर स्थान मे मकान बनाकर इन्होंने राजस्थान-यत्रालय और राजस्थान समाचार नामक साप्ताहिक पत्र निकाला। इस प्रात मे उच्च भावों का यह पहला ही पत्र था और कई बातो मे एक ही पत्र रहा। धीरे धीरे इनका मान और प्रभाव बढने

लगा। जोधपुर के सर प्रतापसिंह, उदयपुर और बीकानेर के महाराज और अनेक जागीरदार इनका आदर करते और इनकी सम्मतियो पर ध्यान देते। चीफ कमिश्नर और एजेंट टू दी गवर्नर-जनरल मिलते और परामर्श लेते। महाराजा काश्मीर ने इन्हे अपना पोलपान (प्रतोली-पात्र=प्रधान दानाधिकारी चारण) बनाया और पैर मे पहनने को सोना[1] (अर्थात् दरबार मे ताजीम का चिह्न) दिया। जब मैं बाल्यावस्था मे स्वर्गीय महामहोपाध्याय पडित दुर्गाप्रसादजी के यहाँ काव्यप्रकाश पढने जाया करता तब पहले पहल मैंने उनके यहाँ राजस्थान-समाचार देखा। सस्कृत की धुन मे एक दिन मैंने जब पत्र का नाम और मतवाक्य अनुष्टुप् की तरह मिलाकर पढा ("राजस्थान-समाचार। सत्ये नास्ति भय क्वचित्") तब चाचाजी (प० दुर्गाप्रसादजी), जो मजाक और चोज की बातें करने मे एक ही थे, बोले कि "पहला चरण तो सबोधन है—भो राजस्थान समाचार! और दूसरे का अर्थ है कि सत्येन अस्ति भय क्वचित्! सावधान हो जाओ"। पडितजी की इस आकस्मिक, पर उन्हे अविदित, भविष्यवाणी का प्रभाव अवश्य समर्थदानजी पर हुआ होगा क्योकि उन्हे ऐसे लोगों से ही काम नही पडा जो सत्य सुनना न चाहते थे, पर ऐसे लोगों से भी जो ठकुरसुहाती सुनाने पर भी देने के नाम मुरलीमनोहर थे। मनीषिजी ने पत्र को अपने से पृथक् नही समझा, सैकडो उसमे कमाये और हजारो उसी मे होम दिए। पत्र पहले साप्ताहिक था, फिर अर्द्धसाप्ताहिक हुआ। उन दिनो उसमे एक 'अनत कहानी' चलाई गई थी, जो जल्दी ही शान्त हो गई। रूस-जापान के युद्ध की उमग मे इन्होने अपने पत्र को दैनिक कर दिया। सच पूछिए तो यही हिंदी का पहला व्यवसायी दैनिक था। भारतमित्र का पहला दैनिक रूप केवल परीक्षा के लिये था और कालेकाँकर का हिंदोस्तान, बडौदे की सोने-चाँदी की तोपो की तरह, एक राजा के शौक की चीज थी। मनीषिजी ने बबई से तार समाचार सीधे मँगवाने आरम्भ किए। हिन्दी-भाषा की अखबारनवीसी मे और राजपूताने के पत्र पाठको मे उस दिन हर्ष और विस्मय का विचित्र सकर हुआ जब ट्सुशीमा (Tsushima) के युद्ध का समाचार आबू पहाड पर पायनियर से आठ-दस घटे पहले राजस्थान-समाचार ने पहुँचा दिया। आजकल जब इधर-उधर कई हिन्दी दैनिको के निकलने और बिखरने की गूँज हो रही है, इस गुपचुप काम करने वाले वृद्ध साहित्यसेवी के अध्यवसाय का उल्लेख करना उचित है, चाहे उस समय ईर्ष्या से, या अपना ढोल आप न

१ जैसे आजकल रजवाडों में (सोना) बख्शा जाता है अर्थात् पैर मे सोने का भूषण पहनने का अधिकार मिलता है, वैसे ही पुराने समय में सोने का जलपात्र (भृगार=गडुआ) दिया जाता था। देखो, भास के प्रतिज्ञायौगधरायण नाटक में—"गुणेषु न [illegible] म द्वेदो भृगार प्रतिगृह्यताम" (ट्रिवेंड्रम सस्करण, पृ० ७२) और कामसूत्र की टीका जयमगला (प० दुर्गाप्रसादजी का सस्करण, पृ० ४२) "भृगारच्छत्रदानादि"।

पीटनेवालों के साधारण भाग्य से, इस बात की चर्चा भी न हुई हो। यही दैनिक पत्र मनीषिजी के लिए श्वेत हस्ती बन गया, अथाह घाटे के कारण बंद करना पड़ा, कुछ दिन साप्ताहिक होकर सिसका, अंत को बुझ गया।

मनीषिजी ने बहुत-सी पुस्तकें प्रकाशित की और लिखीं। उनमें जयपुर राजपूत स्कूल के हेडमास्टर (पीछे कृष्णगढ़ राज्य के कौंसिल के मेंबर) रामनाथजी रत्नू का 'इतिहास राजस्थान' दूसरे संस्करण योग्य है। स्वामी गणेश पुरीजी का वीरविनोद (कर्णपर्व), श्रीयुत गणेशनारायण सोमानी का सर हेनरी काटन की 'न्यू इंडिया' का अनुवाद, जमाल के दोहों का संग्रह, ठाकुर भूरसिंहजी का विविध संग्रह, आदि इनके यहाँ से अच्छे प्रकाशित हुए। पहले एक 'राजस्थान ग्रंथमाला' भी कुछ दिन चली थी। मरने के समय तक—जब न हाथों में बल था, न पास धन था न सहायक थे—उन्हें लाख रुपये के व्यय से कई जिल्दों में हिन्दुस्तान का विस्तृत इतिहास निकालने का करुणाजनक उत्साह था।

इनके जीवन-नाटक का अंतिम दृश्य निराशामय था। माता और पत्नी मर चुकी थीं, स्वास्थ्य जवाब दे चुका था, घर में केवल आठ वर्ष की एक अबोध कन्या थी। मुकद्दमे और ऋण के बादल इस हठी की अविश्रांत उमंग की ज्योति को बुझा रहे थे। पचास वर्ष की अवस्था में तीस वर्ष के कार्य्यभार से थके मस्तिष्क को संस्कृत के द्वारा शास्त्रीय वैद्यक के पढ़ने में लगाना इन्हीं की प्रतिभा का काम था। इन्होंने चरक, सुश्रुत पढ़ा और वैद्यक से जीवन-निर्वाह का उपाय निकाला। चतुर वैद्य हो गए, पर दशा न सुधरी। वैद्यक की कमाई से अपने पैरों खड़े होने की आशा निष्फल हुई और खटिया पर पड़ गए। जुलाई के मध्यम सप्ताह में इनकी आत्मा, अपने उदार आदर्शों को क्षणमात्र भी न छोड़ती हुई, क्षीण शरीर को छोड़ गई। परवार, प्रेस, भूमि, ऋण कन्या—सब अव्यवस्था में रह गया और रह गया इनके मित्रों को इनके कार्य्यों का स्मरण! राजनीति, समाजनीति को ये कैसा समझते थे और कैसी अच्छी सलाह देते थे! किस ऊसर भूमि में इन्होंने कितना पसीना बहाकर हल चलाया! इन्हें कितना उत्साह था और काम में उराहने की कितनी शक्ति थी! कैसे मसखरे थे! एक दिन कहने लगे कि जब हम आर्यसमाजी थे तब तो आग्रह से दोनों समय संध्या करते थे, पर जब से फिर सनातनधर्म में आए तब से तो कुछ करने की जरूरत ही नहीं रही! अपने आपको सनातनधर्मी कहना ही बहुत है! जिस लोक ख्याति के पीछे ये हाथ जोड़े नहीं फिरे, उसने इनसे कैसा किनारा कसा!

इनका जीवनकार्य समाप्त हुआ। अब लोग इनके गुणों को छिपाने और दोषों को कुरेदने के लिए स्वतन्त्र हैं। चाहे इन्होंने समुद्र पर लीकें डालने का यत्न किया हो, पर वीर वे ही नहीं हैं जिनके सिर पर सफलता का मुकुट चढ़ता है, वे भी वीर होते हैं जो झगड़ते-झगड़ते मर और प्रतिकूल विधि के पादपीठ बन जाते हैं।

[प्रथम प्रकाशन : सरस्वती 'अक्तूबर, १९१४ ई०]

राव संसारचन्द्र सेन बहादुर[1]

बाबू ससारचन्द्र सेन का जन्म बंगाल के चौबीस परगना के उच्च वैद्य-कुल मे हुआ था। आप श्रीयुत नीलाबर सेन के ज्येष्ठ पुत्र थे। आगरा कालिज मे शिक्षा पाकर जयपुर महाराजा कालेज मे आप अध्यापक हुए। वहाँ से जयपुर के राजपूत-स्कूल के हेडमास्टर हुए। सयोग की बात है, वहाँ उनके छात्रो मे जयपुर के वर्त्तमान महाराजा साहब बहादुर भी थे। इनके राज्य-सिंहासनारूढ होते ही बाबू साहब प्राइवेट सेक्रेटरी के प्रतिष्ठित पद पर नियत किए गए। फिर राव बहादुर बाबू कातिचन्द्र मुकर्जी सी० आई० ई० के स्वर्गवास के पीछे वे पहले तो कौंसिल के इलाके गैर के मेम्बर और पीछे प्रधानमन्त्री किए गए। महाराजा साहब ने इन्हे ताजीम और पाँच हजार रुपये की पुश्तैनी जागीर प्रदान करके इनकी सेवाओ का पारितोषिक दिया है और अपनी गुणग्राहकता दिखाई है। दिल्ली-दरबार के अवसर पर ये राव बहादुर बनाए गए। जब प्रिंस ऑफ् वेल्स जयपुर पधारे थे तब उनने स्वय इन्हे एम० वी० ओ० का तमगा दिया था। गत वर्ष इन्हे सी० आई० ई० की उपाधि मिली थी जिसका पदक राजपूताना के एजेंट गवर्नर जनरल ने स्वय बाबू साहब के घर जाकर दिया था। सौम्य स्वभाव और सुशील वृत्ति से बाबू साहब सर्वप्रिय हो गये थे। उनकी स्वामिभक्ति से उनके स्वामी अति प्रसन्न थे, उनके न्याय और सरल स्वभाव से प्रजा अति प्रसन्न थी और उनके सत्कार से उनके अतिथि प्रसन्न थे। इनका स्थान जयपुर मे, और इनके भाई स्वर्गीय हेमचन्द्र सेन का देहली मे, प्रवासी बगालियो का बड़ा भारी आश्रय था। जयपुर महाराज साहब की विलायत-यात्रा, दुर्भिक्ष और प्लेग का सुप्रबध, युवराज का स्वागत, राजसेवा मे शिक्षितो की अधिक नियुक्ति, कालिज मे विज्ञान की उच्च शिक्षा का प्रबन्ध, डाकखाने का सुधार

१ एम० वी० ओ०, सी० आई० ई०, प्रधानमंत्री, जयपुर।

और सरकार से कन्वेन्शन् आदि इनके समय की मुख्य घटनाएँ हैं। ता० ११ मई को इस ससार-चन्द्र का अन्त होने से जयपुर के आकाश मे अंधकार छा गया।

[प्रथम प्रकाशन : अज्ञात]

संस्कृत में अकबर का जीवनचरित

महाराजा दर्भंगा के पूर्वज मिथिला के प्रसिद्ध विद्वान महेश ठाकुर ने अकबर बादशाह का जीवनचरित सस्कृत मे लिखा था। जैसे अबुलफजल ने फारसी मे अकबर का चरित लिखा, वैसे ही महेश ठक्कुर से यह लिखवाया गया था। इसकी एक अपूर्णप्रति इंडिया आफिस मे है—और महाराजा दर्भंगा ने वहाँ से फोटोग्राफ द्वारा उसकी छवि उतरवाकर मँगवाई है। सुना गया है कि डॉ० गगा-नाथ झा उसका सम्पादन कर रहे हैं।

[प्रथम प्रकाशन : नागरी प्रचारिणी पत्रिका : भाग-३, १९२२]



भूमिकाएं

निवेदन

जब नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, ने मुझे सूर्यकुमारी पुस्तकमाला के सपादन करने की आज्ञा दी तब मैंने यह कार्य इसलिए स्वीकार किया कि इसके द्वारा स्वर्गवासिनी श्रीमती सूरजकुंवर (सूर्यकुमारी) देवी की स्मृति चिरस्थायिनी बनाने मे यथाशक्ति कुछ-न कुछ सहायता मैं भी कर सकू। श्रीमती को मैं अपनी स्वामिनी कहूँ, या भगिनी कहूँ या शिष्या कहूँ— किसी-न किसी सबध से श्रीमती के पुण्यमय नाम के साथ मेरी आत्मीयता है।

जयपुर राज्य के शेखावाटी प्रात मे खेतडी राज्य है। वहाँ के राजा श्रीअजीतसिंहजी बहादुर बडे यशस्वी और विद्याप्रेमी हुए। गणित-शास्त्र मे उनकी अद्भुत गति थी। विज्ञान उन्हे बहुत प्रिय था। राजनीति मे वे दक्ष और गुणग्राहिता मे अद्वितीय थे। दर्शन और अध्यात्म की रुचि उन्हे इतनी थी कि विलायत जाने के पहले और पीछे स्वामी विवेकानन्द उनके यहाँ महीनो रहे। स्वामीजी से घटो शास्त्र-चर्चा हुआ करती। राजपूताने मे प्रसिद्ध है कि जयपुर के पुण्यश्लोक महाराजा श्रीरामसिंहजी को छोडकर ऐसी सर्वतोमुख प्रतिभा राजा श्रीअजीतसिंहजी ही मे दिखाई दी।

राजा अजीतसिंहजी की रानी आउआ (मारवाड) की चापावतजी के गर्भ से तीन सतति हुईं—दो कन्याएँ और एक पुत्र। ज्येष्ठ कन्या श्रीमती सूरजकुँवर थी जिनका विवाह शाहपुरा के राजाधिराज सर श्रीनाहरसिंहजी के ज्येष्ठ चिरजीव और युवराज राजकुमार श्रीउमेदसिंहजी से हुआ। छोटी कन्या श्रीमती चाँद कुँवर का विवाह प्रतापगढ के महारावल साहब के युवराज महाराजकुमार श्रीमान सिंहजी से हुआ। तीसरी सतान जयसिंहजी थे जो राजा अजीतसिंहजी और रानी चापावतजी के स्वर्गवास के पीछे खेतडी के राजा हुए।

इन तीनो के शुभचिंतको के लिये तीनो की स्मृति सचितकर्मों के परिणाम से दुखमय ही हुई। जयसिंहजी का स्वर्गवास सत्रह वर्ष की अवस्था मे हुआ और

सारी प्रजा, सब शुभचिंतक, सबधी, मित्र और गुरुजनो का हृदय आज भी उस आँच से जल ही रहा है, अश्वत्थामा के व्रण की तरह यह घाव कभी भरने का नही। ऐसे आशामय जीवन का ऐसा निराशात्मक परिणाम कदाचित् ही हुआ हो। श्रीसूर्यकुँवर बाईजी को एक मात्र भाई के वियोग की ऐसी ठेस लगी कि दो ही तीन वर्ष मे उनका शरीरात हुआ। श्रीचाँद कुँवर बाईजी को वैधव्य की विषम यातना भोगनी पडी और भ्रातृ-वियोग और पति-वियोग दोनो का असह्य दुःख वे झेल रही हैं। उनके एकमात्र चीरजीव प्रतापगढ के भवर श्रीरामसिहजी से ही मातामह राजा अजीतसिहजी का कुल प्रजावान् है।

श्रीमती सूर्यकुमारीजी के कोई सतति जीवित न रही। उनके बहुत आग्रह करने पर भी राजकुमार श्रीउमेदसिंहजी न उनके जीवनकाल मे दूसरा विवाह नही किया किंतु उनके वियोग के पीछे, उनके आज्ञानुसार, कृष्णगढ़ मे विवाह किया जिससे उनके चिरजीव वशाकुर विद्यमान हैं।

श्रीमती सूर्यकुमारीजी बहुत शिक्षिता थी। उनका अध्ययन बहुत विस्तृत था उनका हिंदी का पुस्तकालय परिपूर्ण था। हिंदी इतनी अच्छी लिखती थी और अक्षर इतने सुदर होते थे कि देखनेवाला चमत्कृत रह जाय। मेरे पास उनके कई पत्र हैं जिनकी लिपि, भाषा और भाव सब उच्च कोटि के हैं। स्वर्गवास से कुछ समय पूर्व श्रीमती ने मुझे कहा था कि स्वामी विवेकानदजी के सब ग्रथ, व्याख्यान और लेखो का प्रामाणिक हिंदी अनुवाद मै छपवाऊँगी। बाल्यकाल से ही स्वामी जी के लेखो और अध्यात्म, विशेषत अद्वैत वेदात, की ओर श्रीमती की रुचि थी। मैंने श्रीमती के निर्देशानुसार इसका कार्यक्रम बाँधा। साथ ही श्रीमती ने यह इच्छा प्रकट की कि इसी सबध मे हिंदी म उत्तमोत्तम ग्रथो के प्रकाशन के लिए एक अक्षय नीवी की व्यवस्था का भी सूत्रपात हो जाय। मेरे व्यवस्थापत्र बनाते न बनाते श्रीमती का स्वर्गवास हो गया।

राजकुमार श्रीउमेदसिंहजी ने श्रीमती की अतिम कामना के अनुसार लगभग एक लाख रुपया श्रीमती के इसी सकल्प की पूर्ति के लिए विनियोग किया। काशी नागरीप्रचारिणी सभा के द्वारा इस ग्रथमाला के प्रकाशन की व्यवस्था हुई है। स्वामी विवेकानंद के यावत् निबधो के अतिरिक्त और भी उत्तमोत्तम ग्रथ इस ग्रथमाला मे छापे जायेंगे और लागत से कुछ ही अधिक मूल्य पर सर्वसाधारण के लिए सुलभ होंगे। इस ग्रथमाला की बिक्री की आय इसी अक्षय नीवी मे जोड दी जायगी। यो श्रीमती सूर्यकुमारी तथा श्रीमान उमेदसिंह के पुण्य और यश की निरतर वृद्धि होगी और हिंदी भाषा का अभ्युदय तथा उसके पाठको को ज्ञान-लाभ। इस सत्पुरुषार्थ मे किसी भी रूप से समिलित होना मैं अपना सौभाग्य समझता हूँ। जो-जो पाठक इस ग्रथमाला के ग्रथो को पढेंगे वे श्रीमती के हिंदी-प्रेम और पुण्य तथा श्रीमान के दाक्षिण्य को मेरी तरह सराहेगे।

इस ग्रंथमाला का पहला ग्रंथ स्वामी विवेकानंद के व्याख्यान (प्रथम भाग) हैं। मूलपाठ मायावती स्मारक संस्करण से लिया गया है। व्याख्यानों का मायावती संस्करण का क्रम नहीं रखा गया है, न तिथिक्रम रखा है, किंतु विषयक्रम से एक प्रसंग के व्याख्यान एक भाग या अधिक में साथ-साथ दे दिए गए हैं। इस भाग का अनुवाद बाबू जगन्मोहन वर्मा ने किया है। और मैंने अनुवाद को सावधानता से मूल से मिला लिया है।

आयुष्मान् राजकुमार श्रीउमेदसिंहजी तथा स्वर्गवासिनी श्रीमती से मेरा जो व्यक्तिगत संबंध रहा है उससे मैं ग्रन्थमाला के प्रकाशन से बहुत ही प्रसन्न हुआ हूँ। परमेश्वर इसके द्वारा श्रीमती की स्मृति और पुण्यकीर्ति को अक्षय रखे और श्रीमान राजकुमार को अपने आर्यजुष्ट पत्नीव्रत के निबाहने का संतोष प्राप्त हो। 'कीर्तिरक्षरसंबद्धा स्थिरा भवति भूतले'।[1]

अजमेर
४. ६. १९२१



श्रीचंद्रधर शर्मा गुलेरी

[प्रथम प्रकाशन, ज्ञानयोग) विवेकानंद ग्रन्थावली-१
नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं० १९२१ ई०]

१. अक्षरों में बंधी कीर्ति पृथ्वी पर स्थिर रहती है। सपा०

परिचय

जयपुर राज्य के शेखावाटी प्रांत में खेतडी राज्य है। वहाँ के राजा श्री अजीतसिंहजी बहादुर बडे यशस्वी और विद्याप्रेमी हुए। गणितशास्त्र में उनकी अद्भुत गति थी। विज्ञान उन्हें बहुत प्रिय था। राजनीति में वह दक्ष और गुण-ग्राहिता में अद्वितीय थे। दर्शन और अध्यात्म की रुचि उन्हें इतनी थी कि विलायत जाने के पहले और पीछे स्वामी विवेकानंद उनके यहाँ महीनों रहे। स्वामीजी से घंटों शास्त्र-चर्चा हुआ करती। राजपूताने में प्रसिद्ध है कि जयपुर के पुण्य-श्लोक महाराज श्रीरामसिंह जी को छोडकर ऐसी सर्वतोमुख प्रतिभा राजा श्री अजीतसिंहजी ही में दिखाई दी।

राजा श्रीअजीतसिंहजी की रानी आउआ (मारवाड) की चाँपावतजी के गर्भ से तीन संतति हुईं—दो कन्या, एक पुत्र। ज्येष्ठ कन्या श्रीमती सूरजकुँवर थीं जिनका विवाह शाहपुरा के राजाधिराज सर श्रीनाहरसिंहजी के ज्येष्ठ चिर-जीव और युवराज राजकुमार श्रीउमेदसिंहजी से हुआ। छोटी कन्या श्रीमती चाँद कुँवर का विवाह प्रतापगढ के महारावल साहब के युवराज महाराजकुमार श्री मानसिंहजी से हुआ। तीसरी संतान जयसिंह जी थे जो राजा अजीतसिंह जी और रानी चाँपावतजी के स्वर्गवास के पीछे खेतडी के राजा हुए।

इन तीनों के शुभचिंतकों के लिए तीनों की स्मृति संचित कर्मों के परिणाम से दुःखमय हुई। जयसिंहजी का स्वर्गवास सत्रह वर्ष की अवस्था में हुआ और सारी प्रजा, सब शुभचिन्तक, सबंधी, मित्र और गुरुजनों का हृदय आज भी उस आँच से जल ही रहा है। अश्वत्थामा के व्रण की तरह यह घाव कभी भरने का नहीं। ऐसे आशामय जीवन का ऐसा निराशात्मक परिणाम कदाचित् ही हुआ हो। श्रीसूर्यकुँवर बाईजी को एकमात्र भाई के वियोग की ऐसी ठेस लगी कि दो ही तीन वर्ष में उनका शरीरांत हुआ। श्रीचाँदकुँवर बाईजी को वैधव्य की विषम यातना भोगनी पडी और भ्रातृ-वियोग और पति-वियोग दोनों का असह्य दुःख वे झेल

रही हैं। उनके एकमात्र चिरंजीव प्रतापगढ़ के कुँवर श्रीरामसिंह से मातामह राजा श्रीअजीतसिंहजी का कुल प्रजावान् है।

श्रीमती सूर्यकुमारी के कोई संतति जीवित न रही। उनके बहुत आग्रह करने पर भी राजकुमार श्रीउमेदसिंहजी ने उनके जीवन-काल में दूसरा विवाह नहीं किया। किंतु उनके वियोग के पीछे, उनके आज्ञानुसार कृष्णगढ़ में विवाह किया जिससे उनके चिरंजीव वशांकुर विद्यमान हैं।

श्रीमती सूर्यकुमारी बहुत शिक्षित थीं। उनका अध्ययन बहुत विस्तृत था। उनका हिंदी का पुस्तकालय परिपूर्ण था। हिन्दी इतनी अच्छी लिखती थी और अक्षर इतने सुंदर होते थे कि देखनेवाला चमत्कृत रह जाता। स्वर्गवास के कुछ समय के पूर्व श्रीमती ने कहा था कि स्वामी विवेकानन्दजी के सब ग्रंथों, व्याख्यानों और लेखों का प्रामाणिक हिंदी अनुवाद मैं छपवाऊंगी। बाल्यकाल से ही स्वामी के लेखों और अध्यात्म, विशेषत अद्वैतवेदान्त, की ओर श्रीमती की रुचि थी। श्रीमती के निदेशानुसार इसका कार्यक्रम बाँधा गया। साथ ही श्रीमती ने यह इच्छा प्रकट की कि इस संबंध में हिंदी में उत्तमोत्तम ग्रन्थों के प्रकाशन के लिए एक अक्षय निधि की व्यवस्था का भी सूत्रपात हो जाय। इसका व्यवस्थापत्र बनते न बनते श्रीमती का स्वर्गवास हो गया।

राजकुमार श्रीउमेदसिंहजी ने श्रीमती की अंतिम कामना के अनुसार लगभग एक लाख रुपया श्रीमती के इस संकल्प की पूर्ति के लिए विनियोग किया। काशी नागरी प्रचारिणी सभा के द्वारा इस ग्रन्थमाला के प्रकाशन की व्यवस्था हुई है। स्वामी विवेकानंदजी के यावत् निबन्धों के अतिरिक्त और भी उत्तमोत्तम ग्रन्थ इस ग्रन्थमाला में छापे जाएँगे और लागत से कुछ ही अधिक मूल्य पर सर्वसाधारण के लिए सुलभ होंगे। इस ग्रन्थमाला की बिक्री की आय इसी अक्षय निधि में जोड़ दी जायगी। यों श्रीमती सूर्यकुमारी तथा श्रीमान् उमेदसिंहजी के पुण्य तथा यश की निरंतर वृद्धि होगी और हिंदी भाषा का अभ्युदय तथा उसके पाठकों का ज्ञान-लाभ।

श्रीचन्द्रधर शर्मा

[प्रथम प्रकाशन बुद्धचरित रामचन्द्र शुक्ल नागरी प्रचारिणी सभा काशी, स० १९२२ ई०]

काव्य

आहिताग्निका

(१)

प्रतिज्ञा की तूने अति कठिन, उत्साह-भरिते ।
निभाओगी कैसे ? धन जन-धरा-धान्य-रहिते ।
अखण्ड ज्योती जो अब यह जगाई, भगवती ।
सदा पालोगी क्या तन-मन उसे दे ? गुणवती ।।

(२)

सहोगी ताने भी, क्षुर-सम धरा पै चल रही,
न घूमेगा माथा, प्रति-पद चढाई बढ रही ?
न पीछे भागोगी ? नहि भय ? मिलें सर्प पथ मे,
डरावेंगे भालू-सुजन-रिपु सिंहादि वन मे ।।

(३)

वसन्तो मे ठण्डा मलयज चलेगा पवन भी,
खिलेंगी गर्मी की सुविमल निशा मे वह जुही ।
मयूरो की मौजें धन-वलित विद्युद्-वलन से,
दिखावेंगी वर्षा दृढतर प्रतिज्ञा-दलन से ।।

(४)

जुन्हाई मे सारे कमल खिल जावें शरद मे,
दुराशा के पाले, हिम शिशिर, खैंचें विषय मे ।
कहो देवी ! कैसे दहन कर दोगी मदन का ?
न देखोगी पीछे फिर, वह महा-मोह मन का ?

(५)

रहें चाहे कोई विषय-सुख के कोट-वन के,
न देखेंगी तू तो पल-भर उन्हें कष्ट सह के।
त्वदीया निन्दा से उदर भर लेंगे बहुत से,
दबाई जीभों से जन तब बड़ाई कर सकें ।।

(६)

स्वधा, स्वाहा, को तू प्रति समय में ठीक कहके,
न प्रायश्चित्तीया बन कभि अपभ्रंश कहके।
कहा घी पावैगी ? अब सुखद गो-वंश न रहा,
ढकैगी काहे से सरस तनु जो कोमल महा ?

(७)

मिलैगी रेजी तो, यदि वह नहीं, वल्कल सही,
कलेजे में वेदी रच यह प्रतिज्ञाग्नि धर ली।
विलासों की मज्जा हवि अब बनैगी सहज में,
सदा स्वार्थों की तू बलि-पशु करैगी हृदय पै ।।

(८)

अहो धन्या ! देवी ! यदि यह प्रतिज्ञा निभ गई,
अँधेरे को नाँघा, अब उदय-लाली लख गई।
उषा का झण्डा ये सुभग अगुवा है बन गया,
प्रतीची का जाला नयन-पट से है हट गया ।।

(९)

विदेशी चीजें ही बन रह ! गई जन्म-गुटिका,
स्वदेशी पावैं, वा, अब, न, हम, हा ! हन्त खटका,
गड़ैंगे काँटे भी, नयन, जल की वृष्टि पड़े ते,
न ढीली होने दे कमर, दुख देशार्थ सहते ।।

(१०)

उजाला देवैंगी प्रबल हठ की ज्योति तुझको,
घृणा के झोंके भी नहिं कर सकें मन्द उसको।
बढ़े ही जाना तू, नहिं चरण भी एक हटना,
जमाना ज्योती को विजय-गिरि पै जाय डटना ।।

(११)

वहाँ, आत्म-स्वार्थ-प्रवण-मन का होम करना,
विरोधो के आगे, पण सम, निज प्राण धरना।
यही इच्छा है? जा भगवति! भला हो तव सदा।
हमारा भी होगा तव चरण में मंगल सदा॥

[प्रथम प्रकाशन 'वैश्योपकारक : आश्विन सं० १९६२ वि०]

वेनाक बर्न[1]

(राबर्ट ब्रूस का अपनी सेना को सम्बोधन)

(१)

वीरो ! जो निज, रक्तपात करते, वैलेस के संग मे
वीरो ! ब्रूस जिन्हे, सजाय रण को, है ले गया संग मे,
आओ, स्वागत है, धरी रुधिर की, शय्या रणक्षेत्र की,
या है जीत, महत्त्व-कीर्ति, जिसकी होती सदा साथ की ।।

(२)

ये ही है दिन, काल भी अब यही, बेला यही आ गई
देखो तो रिपु सैन्य ! आह व घटा ये सामने आ गई,
देखो दर्पित एडवर्ड नृप की सेना बढी ही चले—
होवै जो नृप दास नीच, उसको दासत्व-वेडी मिले ।।

1 Bannock burn
(Robert Bruce s Address to his Army)

मूल (1) Scots, wha ha'e wi' Wallace bled !
Scots, wham Bruce has aften led !
Welcome to your gory bed,
Or to glorious victorie !

मूल · (2) Now's the day, and now's the hour,
See the front o' battle lower !
See approach proud Edward s power-
Edward ! chains and salaverie !

(३)

होगा कौन स्वदेश शत्रु खल जो विश्वासघाती बने ?
होगा कौन मलीन कापुरुष की जो जा समाधी भरै ?
होगा कौन कमीन हाय ! इतना जो दास जाके बने ?
मोड़ो पीठ, स्वदेश-शत्रु चल दो जल्दी, अरे कायरो !

(४)

ये हैं कौन स्वदेश के नृपति के औ' न्याय के वासते,
खैंचेंगे अति वीरता सहित जो स्वातन्त्र्य के खड्ग को ?
या स्वाधीन रहें डटे, यदि नहीं, स्वाधीन कटि मरें ?
ऐसे वीर स्वदेश भूषण ! मुझे दें साथ, आगे बढ़ो ॥

(५)

सोचो, सोह करो सभी स्मरण है, अन्याय की यातना
क्या भूले ? सुत हैं स्वदीय सहते दासत्व की शृंखला ?
प्यारी भी निज नाड़ियाँ हम सभी खाली करें रक्त से
होंगे किंतु स्वतंत्र वे, हम उन्हे स्वातन्त्र्य देंगे हठात् ॥

मूल (3)
Wha will be a traitor knave ?
Wha can fill a coward's grave ?
Wha sae base as be a slave ?
Traitor ! coward ! turn and flee !

मूल : (4)
Wha for Scotland's king and law
Freedom's sword will strongly draw,
Free-man stand, or free-man fa',
Caledonian ! on wi'me !

मूल (5)
By oppression's woes and pains !
By your sons in servile chains !
We will drain our dearest veins,
But they Shall—they shall be free !

(६)

मानी जो अपहारि हैं झट उन्हे नीचा करो धूल मे,
अन्यायी गिरते मरे समझना प्रत्येक ही शत्रु में।
है स्वातंत्र्य सुवीर ! आज अपना प्रत्येक आघात मे
आगे हो ! बढ़ दो ! करें कुछ अभी, या नष्ट हो मृत्यु मे ॥

[प्रथम प्रकाशन : समालोचक : अगस्त, १६०५ ई०]

मूल : (6)

Lay the proud usurpers low !
Tyrants fall in every foe !
Liberty's in every blow !
Forward ! let us do, or die ![१]

1. The poetical works of Robert Burns P 376-77 London; Frederick warne and Co. and New York ; 1893

(३)

होगा कौन स्वदेश-शत्रु खल जो विश्वासघाती बनै ?
होगा कौन मलीन कापुरुष भी जो जा समाधी भरै ?
होगा कौन कमीन हाय ! इतना जो दास जावे बने ?
मोड़ो पीठ, स्वदेश शत्रु चल दो जल्दी, अरे कायरो !

(४)

ये हैं कौन स्वदेश के नृपति के औ' न्याय के वासते,
खींचेंगे अति वीरता सहित जो स्वातन्त्र्य के खड्ग को ?
या स्वाधीन रहें डटे, यदि नहीं, स्वाधीन कटि मरें ?
ऐसे वीर स्वदेश भूषण ! मुझे दें साथ, आगे बढ़ो ।।

(५)

सोचो, सोह करो सभी स्मरण है, अन्याय की यातना
क्या भूले ? सुत हैं त्वदीय सहत दासत्व की शृंखला ?
प्यारी भी निज नाड़ियाँ हम सभी खाली करें रक्त से
होंगे किंतु स्वतंत्र वे, हम उन्हें स्वातन्त्र्य देंगे हठात् ।।

मूल (3)
Wha will be a traitor knave ?
Wha can fill a coward's grave ?
Wha sae base as be a slave ?
Traitor ! coward ! turn and flee !

मूल : (4)
Wha for Scotland's king and law
Freedom's sword will strongly draw,
Free-man stand, or free-man fa',
Caledonian ! on wi'me !

मूल : (5)
By oppression's woes and pains !
By your sons in servile chains !
We will drain our dearest veins,
But they Shall—they shall be free !

(६)

मानी जो अपहारि हैं झट उन्हें नीचा करो धूल मे,
अन्यायी गिरते मरे समझना प्रत्येक हो शत्रु मे।
हे स्वातन्त्र्य सुवीर! आज अपना प्रत्येक आघात में
आगे ही! बढ़ दो! करें कुछ अभी, या नष्ट हो मृत्यु मे॥

[प्रथम प्रकाशन समालोचक अगस्त, १९०५ ई०]

मूल (6)

Lay the proud usurpers low!
Tyrants fall in every foe!
Liberty's in every blow!
Forward! let us do, or die![1]

1 The poetical works of Robert Burns P 376-77 London; Frederick warne and Co and New York, 1893

सोऽहम्

करके हम भी बी० ए० पास
है अब जिलाधीश के दास।
पाते हैं दो वार पचास
बढ़ने की रखते हैं आस ॥ १ ॥

खुश हैं मेरे साहिब मुझ पर
मैं जाता हूँ नित उनके घर।
मुफ्त कई सरकारी नौकर
रहते हैं अपने घर हाजिर ॥ २ ॥

पढ़कर गोरों के अखबार
हुए हमारे अटल विचार,
अंग्रेजी मे इनका सार,
करते हैं हम सदा प्रचार ॥ ३ ॥

वतन हमारा है दो-आब,
जिसका जग मे नही जवाब।
बनते बनते जहाँ अजाब,
बन जाता है असल सवाब ॥ ४ ॥

ऐसा ठाठ अजूबा पाकर,
करें किसी का क्यों मन मे डर ?
खाते पीते हैं हम जी भर,
बिछा हुआ रखते हैं बिस्तर ॥ ५ ॥

हमे जाति की जरा न चाह,
नही देश की भी परवाह।

हो जावे सब भले तवाह,
हम जावेंगे अपनी राह ॥ ६ ॥

खोना रोजी लगी लगाई,
किसने ऐसी बुद्धि सिखाई !
जादूमय सरकारी पाई[1]
कर देती है पर्वत राई ॥ ७ ॥

पड़े एक दिन पाँव पसार,
पढ़कर हम अपने अखबार।
करते थे यह सोच विचार—
कब होते हैं तहसिलदार ॥ ८ ॥

इतने मे लेखक हिन्दी का,
आया एक काल-सा जी का,
लगा पँवारा गाने फीका,
मानो नया तेल अलसी का ॥ ९ ॥

बाबू साहिब ! तुम हो ज्ञानी,
छोड़ो कहना गिटपिट बानी।
हिन्दी की कुछ सुनो कहानी—
हिन्दू मत की असल निशानी ॥ १० ॥

अपनी भाषा का उद्धार,
है सब उद्धारो का सार,
अँगरेजी के उच्च विचार,
हिन्दी मे तुम करो प्रचार ॥ ११ ॥

खुशामदी तुम से भी बढ़कर
शिव प्रसाद अँगरेजी पढ़ कर
थे हिन्दी के लेखक आगर,
जिससे था उनका अति आदर ॥ १२ ॥

सुनते ही जल उठा कलेजा,
बोला मैं नालायक रे ! जा !
क्यो बकता है बातें बेजा ?
नाहक क्या खाता है भेजा ? १३ ॥

1. पाई—आने का बारहवाँ हिस्सा

उसने कहा जोड़कर हाथ,
हिन्दी के हुजूर ही नाथ।
जो इसका छोड़ेंगे साथ,
तो यह सचमुच हुई अनाथ ॥ १४ ॥

इस पर मुझे दया कुछ आई,
लेखक को फिर हुई ढिठाई।
उसने फिर निज कथा सुनाई,
फिर हिन्दी की गाथा गाई ॥ १५ ॥

हरिश्चन्द्र अँगरेजी-ज्ञाता,
हो कर हरिश्चन्द्र से दाता।
बने मातृ-भाषा के भ्राता,
भूले कभी न हिन्दी-माता ॥ १६ ॥

थे आचार्य अम्बिका दत्त,
हो सकते थे तुम से मत्त।
कभी न उनका भड़का पित्त,
रहा सदा हिन्दी में चित्त ॥ १७ ॥

बंकिमचन्द्र सिशन के थे जज,
तुम-से हैं जिनके पद की रज।
बंगाली की है जो सजधज,
वह है उसी वीर का कारज ॥ १८ ॥

इस पर हुआ मुझे फिर क्रोध,
लेखक ने फिर किया प्रबोध।
देख सत्य उसका अनुरोध,
काट न कुछ कर सका विरोध ॥ १९ ॥

फिर उसने निज धुन आलापी,
खबर पुरानी फिर से छापी।
जिसे न भाषा-माया व्यापी,
है जग हैं वह पूरा पापी ॥ २० ॥

विष्णु कृष्ण और आगरकर,
अँगरेजी के पूर्ण प्रोफेसर।
भरते ही रहे मरहटों का घर,
लिख-लिख लाखों लेख मनोहर॥ २१ ॥

अच्छे - अच्छे हिन्दुस्तानी,
अब भी लिखते है निज बानी।
केवल तुम-से कुछ अभिमानी,
किया करें है आनाकानी॥ २२ ॥

हुआ बोलना हिन्दी सही,
मानो पीना खट्टा मही,
लोक-लाज भी अब सब वही,
तब बी० ए० महिमा क्या रही॥ २३ ॥

कडवी थे बातें लेखक की,
सुनकर मेरी छाती धडकी,
गर्मी भी भेजे से सरकी,
भाषा-रुचि मन मे कुछ खरकी॥ २४ ॥

लेखक ने तब किया प्रणाम,
जाने लगा बताकर नाम।
मैंने उससे कहा सलाम!
सोचूँगा अब मे यह काम॥ २५ ॥

गया एक दिन साहिब के घर,
बोला मैं निज शीश झुकाकर।
हे हुजूर! हे गुर्बा परवर!
क्या हिन्दी लिखने मे है डर? २६ ॥

साहिब हँसकर बोले, वाह!
पूछी तुमने खूब सलाह!
अजी, जहाँ होती है चाह,
वहाँ निकल आती है राह॥ २७ ॥

सब लिखते हैं अपनी बोली—
राजा, बाबू और तँबोली।
लिखना गुण है, नहीं ठठोली,
कलम देख डरती है गोली ॥ २८ ॥

पर लिखना निर्दोष निबंध,
जिनमे हो न जोश की गंध।
सबसे अच्छा छन्द प्रबन्ध,
या नटवर का दशम-स्कंध ॥ २९ ॥

सरस्वती जो मासिक पुस्तक,
उसमे लिखते हैं एम० ए० तक।
राजनीति की उसे नहीं झक,
लिखो उसी मे तुम भी निधडक ॥ ३० ॥

सुनकर हुई साहबी सम्मति,
साँप छछूँदर की भाई गति।
स्वारथ यहाँ वहाँ भाषा रति,
हाय दिशा दोनो मे दुर्गति ! ३१ ॥

घर मे आकर किया विचार,
कैसे हो यह बेडा पार।
इधर कुआ-सा निज ससार,
खाई उधर देश-उपकार ! ३२ ॥

सरस्वती का अक मँगाकर,
बाँचा उसका अक्षर-अक्षर।
जज वकील व्यापारी टीचर[1],
सबके पाये लेख मनोहर ! ३३ ॥

दुबिधा दुर्गम देख हमारी,
बोली आकर मेरी प्यारी।

१ टीचर—अध्यापक

किस निमित्त है यह तैयारी,
हुई कौन-सी चिंता भारी? ३४ ॥

उसे सुनाया सब वृत्तात,
जिससे हुआ चित्त कुछ शात।
बोली वह प्रिय वचन नितात,
इसकी क्या चिंता है बात! ३५ ॥

लेकर आप चार - छ लेख,
देवें खींच बाहरी रेख।
मैं रच दूँगी पूरा भेप,
पीछे आप लीजियो देख ॥ ३६ ॥

सुन प्यारी के प्यारे बैन,
भीजे प्रेम-वारि से नैन।
मन अधीर ने पाया चैन,
हुआ शान्ति-सुषमा का ऐन ॥ ३७ ॥

फैली मन मे जोत नवीन,
विकस उठा झट हृदय मलीन।
दुष्ट विचार दुरे प्राचीन;
रही जरा भी मेप न मीन ॥ ३८ ॥

'गुण-कृत सन्निपात नहिं केही,
को न मान मद व्यापेउ जेही।
यौवन-ज्वर केहि नहिं बलकावा,
ममता केहि कर यश न नसावा ॥' ३९ ॥

सरस्वती के प्रिय सम्पादक!
वाणी के अनन्य आराधक!
मुझे समझिए अपना भाई;
अब है बुद्धि ठिकाने आई ॥ ४० ॥

[प्रथम प्रकाशन : सरस्वती। नवम्बर १९०७ ई०]

स्वागत

जो-जो देव कृटीक की कतरनी से हैं बचे आज लौं,
जो प्राचीन महत्त्व गम्प सब है, से भी वचा आज लौ।
गगा मे जल, पम्प या नहर से जो है वचा आज लौ,
श्रीमन् राजकुमार! मंगल सदा तेरा करें, वे सभी ॥ १ ॥

सोते क्षार-समुद्र मे हरि सदा, ब्रह्मा डरे शून्य मे,
मेरे शकर हैं श्मशान बसते धारे हुए रुद्रता।
आओ सर्व सुरेश-रूप! तुमको खारा सदा दु ख से,
जीर्णाण्य, श्मशान, शून्य, कहता हूँ मूक भी स्वागत ॥ २ ॥

घूमे थे जब ट्रासवाल, अथवा आस्ट्रेलिया कैनेडा,
"हुर्रे रूल बृटानिया" तब कही गाया सुना आपने।
मैं भी उत्सव हर्ष मे यदि कहूँ 'बदे प्रिया मातरम्',
हो जाता वह कर्णशूल कुछ को, हा कष्ट कैसे कहूँ ? ३ ॥

प्रिंसेस मे! युवराज जारज! वही देश पैरो तले,
सर्वोत्कृष्ट महत्त्वयुक्त जिसकी मानी गई सभ्यता।
विद्या फारिस ग्रीस चाल्डिक तथा रोमादिको मे पढी,
माना है सबने गुरु गणित का ले काम मे हिन्द से ॥ ४ ॥

ये वो देश नही जहाँ नृप चढे स्वच्छन्दता की बली,
जो आदर्श नृपाल, वे सब यहाँ पूजे गए विष्णु से।
"राजा ही जगदीश है" यह कभी चार्वाक सिद्धात था,
माना है हमने, तथापि अभयाशा है नृपो से नही ॥ ५ ॥

मेरे याद, दिलीप नृपति गये थे जो वनो मे कभी,
होती शात दावाग्नि तो सब कही जल्दी विना वृष्टि के।
होती थी फल-पुष्प वृद्धि अधिका, औ' प्राणियो मे वहाँ,
जो थे दुर्बल जीव, मार उनको सक्ता वली था नही ॥ ६ ॥

है लोकोक्ति—वह त्वदीय घर है, छूना नही किन्तु, यो,
आये हो, इससे विरुद्ध सब ही हूँ देखता भाग्य से।
अन्नो स्वागत मे लगी ! सब कही दुर्भिक्ष फैला पड़ा,
श्रीमान फूलरजग भी गरजते बगालियो पै सदा ॥ ७ ॥

तो भी प्लेग छिपाय, काल ढक के, घोटा असतोष को,
माँगे शाल, ढका प्रसन्न बनके कगाल ककाल को।
आँसू पोछ रहूँ सुहास्य मुख से "आओ पधारो यहाँ,
लाखो मगल सर्वमगल करें ! जोडी वनी ही रहे" ॥ ८ ॥

जो विद्या, वह राजपुत्र ! तुमको एड्रेस देने को खडी,
जो धीरत्व, कुमार आज वह भी छाता लिए है खडा।
लक्ष्मी जो कुछ है, सभी वह लगी दीपावली मे अभी,
या चदे लिखती फिरे सब कही जो आप आये यहाँ ॥ ९ ॥

जो तलवार कुमार ! आज वह भी बूटो तले आपके,
अच्छा हो यदि सात टूक करके वो आप पै वार दें।
है स्वातत्र्य नही तथापि उसकी छाया खडी सोचती,
ऐसा तो न कहूँ कुमार जिसको विद्रोह माने कहो ॥ १० ॥

'लेवी' मे अभिमान आज अपना सम्मान है मानता,
जो सदवश, सुवश्य को अरदली या चोवदारी करे।
आई है गुट्टलदिमयाँ सब करे प्रिंसेस की आरती,
देखो केवल 'ताज' एक वढिया 'वेताज' मे पास है ॥ ११ ॥

तुम्हारी सेवा हो, तन पतन से वा जतन से,
तुम्हारी पूजा हो, मन शमन से वा दमन से।
तुम्हारी अर्चा हो, धन-निधन से वा दहन से,
तुम्हारी सोपायी तन-मन धनो को नहिं गिने ॥ १२ ॥

मानो रत्न मुझे प्रधान सबने इंग्लैंड के ताज में,
मानें कवर-सा कुमार ! मुझको जो न्याय माँगू कभी।
औरों का मुख देखता थक गया, चाहूँ बनाना स्वयं,
मैं वस्त्रादि, कुमार ! देवि ! कह दो रोकें न कोई मुझे ॥ १३ ॥

आए हो सब देखना मन लगा, होगा तुम्हें 'अस्ति' का
मेरा ज्ञान भला लगूँ जब भला किसी भाँति भी।
मागेंगे तब नाम रूप नकली जो शासकों ने धरे,
....॥ १४ ॥

राजा हैं सब घास-पात, कुचलो, चाहे न खाओ,
मही हैं हम, रौंद दो, पर कभी खाओ हमें भी नहीं।
खावें जो वृक, रीछ, जम्बूक, बने भाई सभी आपके,
गैंडे व गज हैं न ! खूब करिए शार्दूलविक्रीडितम्[1] ॥ १५ ॥

[प्रथम प्रकाशन : समालोचक : सन् १९०५ ई०]

१ शार्दूलविक्रीडितम्—सिंह का खेल, छंद का नाम।

प्राकृत के कुछ सुभाषित

[श्वेताम्बर जैन कवि जयवल्लभ ने 'वज्जालग्ग' नामक एक बहुत बडा सुभाषित-संग्रह रचा है। उसमें बहु-कवियो की रचित गाथाओं मे से भली-भली चुनकर इकट्ठी की हैं। कवि का यह दावा है कि—

> शृंगार युत, रसीली, कामिनी मन-भाविनी, मिठास-भरी।
> प्राकृत कविता रहते सस्कृत को कौन है पढता?

मैं उन गाथाओ का मिलते हुए आर्या या गीति छन्दो मे अनुवाद कर रहा हूँ। मेरे पास एक हस्तलिखित प्रति थी। अनुवाद जहाँ तक बन पडा मूल प्राकृत से किया गया है, सस्कृत-छाया का अनुसरण कही-कही ही किया है। भाषा, भाव, श्लेष आदि को निभाने का यत्न किया गया है। एक जर्मन विद्वान का सम्पादन किया हुआ मूल, सस्कृत-छाया सहित, 'बिब्लोथिका इंडिका' मे भी छपने लगा है। उसकी सस्कृत-छाया दोष-रहित नही है। आज उसी 'वज्जालग्ग' की कुछ गाथाओ के नमूने 'सरस्वती' के पाठको को भेंट किए जाते हैं। कही-कही टिप्पणी भी दिए देता हूँ।—गुलेरी।][1]

(१)

मोती जैसी कविता, स्वभाव विमला, सुवर्ण जटिता, तब
खिलती है जब पडती श्रोता के कर्ण छिद्रो मे ॥ ८ ॥[2]

१ गुलेरीजी की इस टिप्पणी के सदर्भ मे यह भी कम महत्वपूर्ण नही है कि इन 'प्राकृत के कुछ सुभाषित' के उपजीव्य सस्कृत तथा प्राकृत के काव्याश क्या हैं। इसी उद्देश्य से यहाँ पाद-टिप्पणियो मे उन्हें—'वज्जालग्गम्' सम्पादक प्रो० एम० वी० पटवर्द्धन, प्राकृत टेक्स्ट सोसाइटी, अहमदाबाद ६, सस्करण १९६९ से उद्धृत किया जाता है।—सम्पादक

२ प्राकृत १ मुत्ताहल व कव्व सहावविमल सुवण्णसघडिय।
सोयारवणकुहरम्मि पयडिय पाडय होइ ॥ ८ ॥
सस्कृत मुक्ताफलमिव काव्य स्वभाव विमल सवर्ण सघटितम।
श्रोतृकर्ण कुहरे प्रपतित (प्रकटि

(२)

आपस मे राग-भरी, सालकारा, सलक्षणा रसिका।
क्या गाथा क्या रमणी, दुख देती है न आने से ॥ १० ॥[1]

(टिप्पणी . गाथा—आना = स्मरण होना। (दूसरे पक्ष मे आना = पास आना)

(३)

सौंठे की-सी पोरी, कुचली निर्दय गँवार दाँतो से।
गाथा ! तू टूटेगी, या लघुता विवस पावेगी ॥ १६ ॥[2]

(४)

गाथा का, गीता का, वीणा-ध्वनि का, सरस महिला का।
जो लोग रस न जानें, दण्ड उन्हीको वही समझो ॥ १७ ॥[3]

(५)

मन्दर-गिरि-सम चिन्ता की मथनी से, अथाह सागर-सा।
कवि-मन विपुल मथित हो, उपजाता काव्य-रत्नो को ॥ १६ ॥[4]

१ प्राकृत सालकाराहि सलक्खणाहि अन्नन्नरायरसियाहिं।
गाहाहि पणइणीहि य खिज्जइ चित्त मइतीहि ॥ १० ॥
संस्कृत सालकाराभि सलक्षणाभिरन्या-यरागरसिता (का) भि ।
गाथाभि प्रणयिनीभिश्च खिद्यते चित्तमनायच्छन्तीभि ॥

२ प्रा० गाहे भज्जिहिसि तुम अहवा लहुयत्तण वि पाविहिसि।
गामारदतदिढकढिणपीडिया उच्छुलटिठ व्व ॥ १६ ॥
स० गाथे भङ ्दयसे त्वमथवा लघुत्वमपि प्राप्स्यसि।
ग्रामीणदन्तदृढकठिन पीडिता इक्षुयष्टिरिव ॥ १६ ॥

३ प्रा० गाहाण गीयाण तंतीसद्दाण पोढमहिलाण।
ताण चिय सो दडो जे ताण रस न याणति ॥ १७ ॥
स० गाथाना गीताना तन्त्रीशब्दाना प्रौढमहिलानाम्।
तेषामेव स दण्डो ये तेषा रस न जानन्ति ॥ १७ ॥

४ प्रा० चिंतामदरमथाणमथिए वित्थरम्मि अत्थाहे।
उप्पज्जति कईहिययसायरे कव्वरयणाइं ॥ १६ ॥
स० चिन्तामन्दरमथानमथिते विस्तृतेऽस्ताघे।
उत्पद्यते कविहृदयसागरे काव्यरत्नानि ॥ १६ ॥

(६)

अपशब्द शब्द पै डर, पद पद पर होय कुछ न कुछ चिन्तित ।
कष्टो से कवि पावे कविता को, अर्थ के तस्कर ॥ २३ ॥[1]

(७)

भाता दोष दिखाना, कवि-रचना मे उसी सुजन का है ।
जो काट कुपद को झट, सुन्दर पद दूसरा धर दे ॥ २६ ॥[2]

(८)

यह कौन काल गर्जन का ? हे कलिकाल, मत्त गजराज !
सज्जन-सिंह-पदो की, पृथ्वी पर हैं अभी लगी छापें ॥ ४३ ॥[3]

(६)

पर छिद्र लक्ष रखे, चितकबरा, घोर, दो जीभवाला ।
टेढ़ी चाल चले, उस खल से या सर्प से कहाँ सुख हो ? ४७ ॥[4]
(टिप्पणी : चितकबरे रंग का (दूसरे पक्ष मे चितकपटा)

१. प्रा० सद्दावसद्दभीरू पए पए किं पि किं पि चिंततो ।
दुक्खेहि कह वि पावइ चोरो अत्थ कई कव्वं ॥ २३ ॥
सं० शब्दापशब्दभीरु पदे पदे किमपि किमपि चिन्तयन् ।
दु खै कथमपि प्राप्नोति चोरोऽर्थं कवि काव्यम् ॥ २३ ॥
२ प्रा० सो सोहइ दूसंतो कइयणरइयाइ विविहकव्वाइ ।
जो भंजिऊण अवय अन्नपयं सुंदर देइ ॥ २६ ॥
सं० स शोभते दूषयन् कविजनरचितानि विविध काव्यानि ।
यो भड्क्त्वा अपदम् अन्यपद सुन्दर ददाति ॥ २६ ॥
३ प्रा० रे रे कलिकालमहागइंद मत्तगज्जियस्स को कालो ।
अज्ज वि सुपुरिसकेसरिकिसोरचलणंकिया पुहवी ॥ ४३ ॥
सं० रे रे कलिकालमहागजेन्द्र मत्तगजितस्य क काल ।
अद्यापि सुपुरुषकेसरिकिशोरचरणांकिता पृथ्वी वतते ॥ ४३ ॥
४ परछिद्दरलद्धलक्खे चित्तलए भीसणे जमलजीहे ।
वक्कपरिसक्किरे गोणसे व्व पिसुणे सुह कत्तो ॥ ४७ ॥
परच्छिद्ररलब्धलक्ष्ये चलचित्ते (चित्रले) भीषणे यमलजिह्वे ।
वक्रगमनशीले गोनस इव पिशुने सुख कुत ॥ ४७ ॥

(१०)

कुल से शील भला है, दारिद है रोग से भला, विद्या
राजपद से भली है, क्षमा भली है तपस्या से ॥ ८३ ॥[1]

(११)

औरों की रहने दो, जो अपने पाँच भूत तन में हैं।
काम किया तज देवें तो उनसे भी लजाते हैं ॥ ९३ ॥[2]

(१२)

मेरु तभी तक ऊँचा, जलनिधि दुस्तर गिना तभी तक है।
कार्य-गति कठिन तभी तक, धीर जभी तक न हथियाते ॥ १०३ ॥[3]

(१३)

तृण-सा मेरु, गगन-तल हाथ-जुआ सा, उदधि क्षुद्र-नदी।
घर के आँगन जैसा स्वर्ग, सदा साहसी जन को ॥ १०४ ॥[4]

१ प्रा० अप्पहियं कायव्वं जइ सक्कइ परहियं च कायव्वं।
अप्पहियपरहियाणं अप्पहियं चेव कायव्वं ॥ ८३ ॥
सं० आत्महितं कर्तव्यं यदि शक्यं परहितं च कर्तव्यम्।
आत्मपरहितयोरात्महितं चैव कर्तव्यम् ॥ ८३ ॥

२ प्रा० अण्णउ ता इयरजणो जे च्चिय अच्छंति पंच भूयाइं।
ताइं चिय लज्जिज्जइ पारद्धं परिहरंतेण ॥ ९३ ॥
सं० अन्यस्तावदितरजनो ये एव सन्ति पञ्च भूतानि।
तेभ्य एव लज्जते प्रारब्धं परिहरन् ॥ ९३ ॥

३ प्रा० ता तुंगो मेरुगिरी मयरहरो ताव होइ दुत्तारो।
ता विसमा कज्जगई जाव न धीरा पवज्जंति ॥ १०३ ॥
सं० तावत्तुङ्गो मेरुगिरिर्मकरगृहस्तावद्भवति दुस्तरः।
तावद्विषमा कार्यगतिर्यावन्न धीराः प्रपद्यन्ते ॥ १०३ ॥

४ प्रा० तेण गिरि व मेरू पयडइ हत्थउडं व्व गयणयलं।
घरंगणं व सग्गो साहसवंताण पुरिसाणं ॥ १०४ ॥
सं० मेरुस्तृणमिव प्रकटं हस्तपुटं गगनतलम्।
गृहाङ्गणं स्वर्गः साहसवतां पुरुषाणाम् ॥

(१४)

रे दैव ! धीर के संग, होडाहोडी जमायगा जो तू।
ऐसा कलक होगा, जो धोये से न जावेगा ॥ ११२ ॥[१]

(१५)

जो जो शाखा पकडे, जिस जिसका हाथ धर सहारा ले।
वह चट करती टूटे, यदि होवे दैव प्रतिकूल ॥ १२४ ॥[२]

(१६)

परिणाम पूर्व-कर्मों का, यह देखो समुद्र-मथन में।
हर के हित विष उपजा, स्तन-भर-लक्ष्मी रमा हरि के॥ १३१ ॥[३]

(१७)

लेते समुद्र-जल यत्नो से मेघ श्याम हो जाते।
बरसाने पर धौले, लेते देते निरख यह भेद ॥ १३७ ॥[४]
(टिप्पणी : धौले=श्वेत (दूसरे पक्ष में) निर्मल।)

१ प्रा० धीरेण मम समसीमियाइ र दिव्व आरुहतस्स।
होहिइ कि वि कलक धुव्वत ज न फिट्टिहिइ। ११२ ॥
स० धीरेण सम समशीर्षिकायां रे दैवारूढस्य।
भविष्यति कोऽपि कलको धाव्यमाना यो न यास्यति ॥ ११२ ॥

२ प्रा० ज ज करे लवइ हत्थे गहिऊण वीसमई जत्थ।
सा सा तडत्ति तुट्टइ नरस्स दिव्वे पराहुत्ते ॥ १२४ ॥
स० या यां शाखां लम्बते हस्ते गृहीत्वा विश्राम्यति यस्याम्।
सा सा तटदिति त्रुट्यति नरस्य दैवे पराङ्मुखे ॥ १२४ ॥

३ प्रा० दोण्णि वि महणारंभे पच्छह ज पुव्वकम्मपरिणामो।
उप्पज्जइ हरस्स विस कण्हस्स घणत्थणा लच्छी ॥ १३१ ॥
स० द्वे अपि मथनारम्भे प्रेक्षध्व यत् पूर्वकर्मपरिणाम।
उत्पद्यते हरस्य विष कृष्णस्य घनस्तनी लक्ष्मी ॥ १३१ ॥

४ प्रा० किसिणिज्जति लयंता उयहिजल जलहरा पयत्तेण।
धवलीहुति हु देंता देंतलयंतत्तर पेच्छ ॥ १३७ ॥
स० कृष्णीभवन्ति गृह्णन्त उदधिजल जलधरा प्रयत्नेन।
धवली भवन्ति खलु ददतो ददद्गृह्णदन्तर प्रेक्षस्व ॥ १३७ ॥

(१८)

धन-वायु के झकोरों के मारे चाल जो चलें टेढ़ी।
यदि सीधे वे हों तो होते दारिद-दवाई से ॥ १४२ ॥[1]

(१९)

सूर्य खिले पर खिलता, सिमटे रवि तो सिकुड़-सा जाता।
दीन-कुटुम्ब विचारा, जाड़े में कमल हो रहता ॥ १४६ ॥[2]

(२०)

'ढलकें स्तन', इस भय से, जनमे ही धाय को दिये जावें।
वे प्रभु नीचे-प्रेमी होवें, यह दूध की गिनो महिमा ॥ १४६ ॥[3]

(२१)

बिरस हुए हो राजन! अब जावें आप धर्म में रहना।
चित्र-लिखे हाथी-सा दान कभी आपका नहीं देखा ॥ १५४ ॥[4]

[टिप्पणी। 'धर्म में रहना'=जाते समय का आशीर्वाद, जैसे प्रसन्न रहना। दान=देना, (दूसरे पक्ष में) मद।]

१. प्रा० जे भग्गा विहवसमीरणेण वकं ठवंति पयमग्गं।
ते पुण दालिद्दोसहेण जइ पउलिज्जंति ॥ १४२ ॥
सं० ये भग्ना विभवसमीरणेन वक्रं स्थापयन्ति पदमार्गम्।
ते पुन दारिद्र्यौषधेन यदि प्राञ्जलीक्रियन्ते ॥ १४२ ॥

२. प्रा० सकुचइ सकुचंते वियसइ वियसंतम्मि सूरम्मि।
सिसिरे रोरकुडुंब पंकयलील समुव्वहइ ॥ १४६ ॥
सं० संकुचति संकुचति विकसति विकसति सूर्ये।
शिशिरे दरिद्रकुटुम्ब पंकजलीलां समुद्वहति ॥ १४६ ॥

३. प्रा० जम्मदिणे थणणिवडणभएण दिज्जंति धाइउच्छंगे।
पहुणो ज नीयरया मन्ने स खीरमाहप्पं ॥ १४६ ॥
सं० जन्मदिने स्तननिपतनभयेन दीयन्ते धात्र्युत्संगे।
प्रभवोयन्नीचरता मन्ये तत्क्षीरमाहात्म्यम् ॥ १४६ ॥

४. प्रा० आलग्गिओ सि धम्मम्मि होज्ज एण्हि नरिंद वच्चामो।
आलिहियकुंजरस्स व तुह पहू दाण चिय न दिट्ठ ॥ १५४ ॥
सं० परसन्नोऽसि धर्मे भूया इदानीं नरेन्द्र व्रजामः।
आलिखित कुंजरस्येव तव प्रभो दानमेव न दृष्टम् ॥ १५४ ॥

(२२)

और सब लेखकों के, कटहल से नाथ ! पास-फल-वाले।
पार्थिव हमने माँगा, तो भी तरु-ताल-से रहे आप ॥ १५५ ॥[1]

(२३)

दे पाँव दाँत पैं, रख दूजा सिर पैं, धरे कहाँ तीजा ?
यों गज पर भट चढ़ता, बलि-बन्धक विष्णु ज्यों नभ में ॥ १७२ ॥[2]

(२४)

इनकी पख हवा से प्रभु की मूर्छा हटे, विचार यही।
पास पड़ा, गीधों से, आँतों को वीर नुचवाता ॥ १७७ ॥[3]

(२५)

जानेगा जब चिकनी फिसलन में, भार से, धँसे पहिया।
भोले पटेल ! यों तो धवलों से विमुख तू रहता ॥ १८२ ॥[4]
[टिप्पणी : धवल=सफेद बलवान् बैल।]

१ प्रा० आसन्नफलो पणसो व्व णाह सयलस्स सेवयजणस्स।
अम्ह पुण पत्थिव पत्थिओ वि तालो तुम जाओ ॥ १५५ ॥
सं० आसन्नफलो पनस इव नाथ सकलस्य सेवकजनस्य।
अस्माकं पुनः पार्थिव प्रार्थितोऽपि तालस्त्वं जातः ॥ १५५ ॥

२ प्रा० एक्कं दंतम्मि पयं बीयं कुंभम्मि तइयमलहंतो।
बलिबंधविलसियं महुमहस्स आलंबए सुहडो ॥ १७२ ॥
सं० एकं दन्ते पदं द्वितीयं कुम्भे तृतीयमलभमानः।
बलिबन्धविलसितं मधुमथनस्यालम्बते सुभटः ॥ १७२ ॥

३ प्रा० पक्खाणिलेण पहुणो विरमउ मुच्छ त्ति पासपडिएण।
गिद्धत कड्ढण दूसहं पि साहिज्जइ भडेण ॥ १७७ ॥
सं० पक्षानिलेन प्रभोर्विरमतु मूर्छेति पार्श्वपतितेन।
गृध्रान्त्रकर्षणं दुःसहमपि सह्यते भटेन ॥ १७७ ॥

४. प्रा० चिक्कणचिक्खल्लखुप्पंतधवलसयडम्मि भरम्मि जाणिहिसि।
अविसेसण्णय गहवइ परम्मुहो अच्छसि धवलाण ॥ १८२ ॥
सं० चिक्कणकर्दममग्नधसत्स्यन्दने भरे ज्ञास्यसि।
अविशेषज्ञ गृहपते पराङ्मुखो वससि धवलेभ्यः ॥ १८२ ॥

(२६)

काले काले गज के, भीतरिये दाँत, माल नित्य चरें।
विपदा के जो साथी, वे धौले हैं सदा बाहर ॥ १५६ ॥[1]

[टिप्पणी धौले=श्वेत (दूसरे पक्ष में) निर्मल। भीतरिये=भीतर के (दूसरे पक्ष मे) अतरग (जैसे कि बडे मन्दिरो म होते हैं)]

(२७)

हिलते दन्त-मुसल हैं, मद उतरा है, गई जवानी भी।
तो भी सनाथ वन है, यूथाधिप ! आपके बैठे ॥ १६० ॥[2]

(२८)

चिरकाल के विहारो को करके याद, साँस था भर ली।
गजपति ने, तृणकौरा, सूखा झट सूँड म लगा जलन ॥ १६६ ॥[3]

(२९)

हथिनी निज कर सौंपे कोमल सेली-कवल सुमरन कर।
यदि गज मरे न तो क्या, दुबला भी वह नही होवे ? १६६ ॥[4]

१ प्रा० भुजति कसणडसणा अब्भतरसठिया गइदस्स।
जे उण विहुरसहाया ते धवला बाहिर च्चेव ॥ १५६ ॥
स० भुजते कृष्णदशना अभ्यतरसस्थिता गजेन्द्रस्य।
ये पुनर्विधुरसहायास्ते धवला बहिरेव ॥ १५६ ॥

२ प्रा० विगलिमएण गयजोव्वणेण हल्लतदतमुसलेण।
अज्ज वि वण सणाह जूहाहिव पइ जियतेण ॥ १६० ॥
स० विगलितमदेन गतयौवनेन चलद्दन्तमुसलेन।
अद्यापि वन सनाथ यूथाधिप त्वया जीवता ॥ १६० ॥

३ प्रा० तह नीससिय जूहाहियेण चिरविलसिय भरतेण।
करगहिय तिणकवल हरिय जह झत्ति पज्जलिय ॥ १६६ ॥
स० तथा निश्वसित यूथाधिपेन चिरविलसित स्मरता।
कर गृहीत तृणकवल हरित यथा झटिति प्रज्वलितम ॥ १६६ ॥

४ प्रा० करिणिकरप्पियणवमरससल्लईकवलभोयण दतो।
जइ न मरइ सुमरतो ता कि किसिओ वि मा होउ ॥ १६६ ॥
स० करिणीकरार्पितनवसरससल्लकीकवलभोजन दत्तो।
यदि न म्रियते स्मरस्तदा कि कृशितोऽपि मा भवतु ॥ १६६ ॥

(३०)

ये पाँच वस्तु छीजें ज्यो ज्यो बढते रोज व्याधी के।
कटि, पति, धनु, सब छैले वस्ती के, और निज सौतें ॥ २०८ ॥[1]

(३१)

व्याघ्रवधू के स्तन-युग को देती अर्घ हथिनियाँ सब आ।
सुन्दरि ! मिला रँडापा हमको न कृपा तुम्हारी से ॥ २११ ॥[2]

(३२)

दल हैं तो बास नही, तो न प्रचुर मकरन्द।
मधुकर एक कुसुम मे गुण दो या तीन तो नही मिलते ॥ २३० ॥[3]

(३३)

गुणविरहित फूलो ने 'भ्रमर भ्रमर' है कलक यह थोपा।
रस निपुण मालती को पाकर देखें भ्रमर तो, भ्रम ले ॥ २४७ ॥[4]
[टिप्पणी भ्रम ले=भटक ले, घूम ले।]

१ प्रा० जह जह वड्ढति थणा तह तह झिज्जति पच वत्थूनि।
मज्झ पइ कोयड पल्लिजुवाणा सवत्तीओ ॥ २०८ ॥
स० यथा यथा वर्धेते स्तनौ तथा तथा क्षीयन्ते पच वस्तूनि।
मध्य पति कोदण्ड पल्लियुवान सपत्न्य ॥ २०८ ॥

२ प्रा० दिन्न थणाण अग्ध करिणीजूहेण वाहवहुयाए।
रडत्तण न पत्त हे सुदरि तुह पसाएण ॥ २११ ॥
स० दत्त स्तनयोरर्घं करिणीयूथेन व्याधवध्वा।
रण्डात्व न प्राप्त हे सुदरि तव प्रसादेन ॥ २११ ॥

३ प्रा० मरह मालइकलिय महुयर दट्ठूण कि पराहुत्तो।
एत्ता पसरइ भुवणतराइ गधो वियभतो ॥ २१० ॥
स० सर्वां मालतीकलिका मधुकर दृष्ट्वा किं पराड मुख।
इत प्रसरति भुवनान्तराणि गधो विजृम्भमाण ॥ २१० ॥

४ प्रा० भमरो भमरो त्ति गुणोज्झिएहि कुसुमेहि आरोवो दोसो।
सहिऊण मालइ पुण सो निउणो भमउ जइ भमइ ॥ २४७ ॥
सं० भ्रमरो भ्रमर इति गुणोज्झितै कुसुमैरारोपितो दोष।
लब्ध्वा मालती पुन स निपुणो भ्रमतु यदि भ्रमति ॥ २४७ ॥

(३४)

चित-काँटे पै तोलें जग को, फिर जोख नयन-पलड़ों से ।
काम करें, उन बनिये-चतुरों की काट कौन कर सकता ? २७७ ॥[1]

(३५)

पचम गाना सुनते, वृष-वाहन-देव पूजते निसदिन ।
मन-भावन से रमते, जग में है सार इतना ही ॥ २९० ॥[2]

१. प्रा० दिट्ठीतुलाइ भुवण तुलति जे चित्ततुलए निहिय ।
को ताण छेयवाणिज्जयाण मण खडण कुणइ ॥ २७७ ।
सं० दृष्टितुलया भुवन तुलयन्ति ये चित्ततुलापात्रे निहितम् ।
कस्तेषां छेकवणिजां मण खण्डन करोति ॥ २७७ ॥

२ प्रा० सुव्वइ पचमगेय पुज्जिज्जइ वसहवाहणो देवो ।
हियइच्छिओ रमिज्जइ ससारे इत्तिय सार ॥ २९० ॥
सं० श्रूयते पचमगेय पूज्यते वृषभवाहनो देव ।
हृदयेप्सितो रम्यते ससारे एतावत्सारम् ॥ २९० ॥

[प्रथम प्रकाशन : सरस्वती : दिसम्बर, १९१९ ई०]

सुनीति'

निज गौरव को जान आत्मआदर का करना
निजता की की पहिचान, आत्मसंयम पर चलना
ये ही तीनों उच्चशक्ति, वैभव दिलवाते,
जीवन किन्तु न डाल शक्ति वैभव के खाते।
(आ जाते ये सदा आप ही बिना बुलाए।)
चतुराई की परख यहा—परिणाम न गिनकर,
जीवन को निशंक चलाना सत्य धर्म पर,
जो जीवन का मन्त्र उसी हर निर्भय चलना,
उचित उचित है यही मान कर समुचित हि करना,
यो ही परमानद भले लोगो ने पाए ॥

(प्रथम प्रकाशन पाटलीपुत्र: ३१ अक्तूबर, १८१४)

1. Self-reverence, self-knowledge, self-control,
These three alone lead life to sovereign power
Yet not for power, (power of herself would come uncalled for), but to live by law
Acting the law we live by without fear
And because right is right, to follow right
Were wisdom in the scorn of consequence

गुलेरी जी की रचनाएँ

अक्ल बनाम नस्ल (टिप्पणी 'प्रतिभा' —अप्रैल, १६२० ई०

अत्र तत्र सर्वत्र (टिप्पणी) 'समालोचक' —१६०३, ०४, ०५, ०६ ई०

अधिक सन्तति होने पर स्त्री का पुनर्विवाह (टिप्पणी) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१६२० ई०

अधिकार चर्चा (लेख) 'भारत मित्र' —१६११ ई०

अनुवादों की बाढ़ (टिप्पणी) 'प्रतिभा' —मई, १६२० ई०

अमंगल के स्थान में मंगल शब्द (निबंध) 'सरस्वती'—नवम्बर, १६११ ई०

अमल की तारीफ (राजस्थानी कविता) —१ मार्च, १६०५ ई०

अयोध्याप्रसाद के संस्मरण (लेख) 'समालोचक'—अगस्त, सन् १६०५ई०

अवन्ति सुन्दरी (लेख) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१६२१ ई०

अशोक की धर्मलिपियाँ (सम्पादित शोध ग्रन्थ) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' —१६२० से १६२२ ई०

अशोक शास्त्री (टिप्पणी) 'प्रतिभा'— मई, १६२० ई०

अश्वमेध (लेख) 'मर्यादा'—दिसम्बर-जनवरी, १६११-१२ ई०

असूर्यम्पश्या राजदारा (टिप्पणी), 'प्रतिभा'—अप्रैल, १६२० ई०

आँख (वैज्ञानिक निबंध) 'सरस्वती'— १६०५ ई०

आचार्य सत्यव्रत सामश्रमी (जीवनचरित), 'मर्यादा'—फरवरी, १६१२ ई०

आत्मघात (लेख) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१६२० ई०

'आन शिवा-भागवता इन पातजलिज महाभाष्या' (अंग्रेजी-लेख) 'दि इण्डियन एण्टीक्वरी'—नवम्बर, १६१३ ई०

आर्य हिन्दी (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—मई, १६२० ई०

आहिताग्निका (कविता) 'समालोचक' —अक्तूबर, १६०५ ई०

इण्डियन नेशनल कांग्रेस (लेख) 'समालोचक'—जनवरी - फरवरी, १६०४ ई०

निवेदन [ज्ञान योग (विवेकानंद ग्रंथावली, प्रथम खण्ड) की भूमिका] 'नागरी प्रचारिणी सभा'—१६२१ ई०
नौरंगशाह के नौरंग (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—नवम्बर, १६२० ई०
न्याय घण्टा (लेख) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१६२२ ई०
पंचमहाशब्द (लेख) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१६२० ई०
परिचय (पं० रामचंद्र शुक्ल कृत 'बुद्ध चरित' की भूमिका) 'नागरी प्रचारिणी सभा'—१६२० ई०
परीक्षा-पत्र निरीक्षण (टिप्पणी) 'समालोचक'—अक्तूबर - नवम्बर, १६०३ ई०
पश्चिमी क्षत्रपों के नामों में घस्, घस्=ज (Z) (टिप्पणी) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१६२२ ई०
पाणिनि की कविता (लेख) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१६२०-२१ ई०
पानी पीकर रह जाती है (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—जनवरी, १६२० ई०
पुराना व्योपार (लेख) 'प्रतिभा'—जनवरी, १६२० ई०
पुरानी पगड़ी (लेख) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१६२२ ई०
पुरानी हिंदी (निबंध-प्रबन्ध) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१६२१-२२ ई०
पुराने राजाओं की गाथायें (टिप्पणी) 'मर्यादा'— दिसम्बर-जनवरी, १६११-१२ ई०
पुराण-प्रसंग(लेख)'अभ्युदय'—१६१० ई०
पूत्कार=पुकारना (टिप्पणी) 'प्रतिभा' —जनवरी, १६२० ई०
पूर्ण पात्र (लेख) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१६२२ ई०
पृथु वैन्य का अभिषेक (लेख) 'मर्यादा' —दिसम्बर-जनवरी, १६११-१२ ई०
पृथ्वीराजविजय महाकाव्य (लेख) 'सरस्वती'—जून, १६११ ई०
पोथी पढ़-पढ़ जग मुआ (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—अप्रैल, १६२० ई०
प्र और परि (लेख) 'समालोचक'—नवम्बर, १६०२ ई०
प्राकृत के कुछ सुभाषित (अनूदित कविता) 'सरस्वती'—दिसम्बर, १६१६ ई०
प्रेरित पत्र (टिप्पणी) 'समालोचक'—१६०३-०४ ई०
बंग का भंग (टिप्पणी) 'समालोचक'—१६०५ ई०
बनारसी ठग (टिप्पणी) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१६२१ ई०
बुद्धू का काँटा (कहानी)—१६११-१५ ई०
बेसिर की हिन्दी (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—जनवरी, १६२० ई०
बेनाक वर्न (कविता) 'समालोचक'—अगस्त, १६०५ ई०
बौद्धों के काल में भारतवर्ष (टिप्पणी) —'समालोचक' : अक्तूबर-नवम्बर १६०३ ई०
ब्रह्मचारी को पान खिलाना (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—दिसम्बर, १६२० ई०
ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति (संस्कृत-कविता)—१६१० ई०
भारद्वाज गृह्यसूत्र (टिप्पणी) 'प्रतिभा' अप्रैल, १६२० ई०

निवेदन [ज्ञान योग (विवेकानंद ग्रंथावली, प्रथम खण्ड) की भूमिका] 'नागरी प्रचारिणी सभा'—१९२१ ई०
नौरंगशाह के नौरंग (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—नवम्बर, १९२० ई०
न्याय घण्टा (लेख) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१९२२ ई०
पंचमहाशब्द (लेख) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१९२० ई०
परिचय (प० रामचंद्र शुक्ल कृत 'बुद्ध चरित' की भूमिका) 'नागरी प्रचारिणी सभा'—१९२० ई०
परीक्षा पत्र निरीक्षण (टिप्पणी) 'समालोचक'—अक्तूबर - नवम्बर, १९०३ ई०
पश्चिमी क्षत्रपों के नामों में घस्, घस्=ज (Z) (टिप्पणी) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१९२२ ई०
पाणिनि की कविता (लेख) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१९२०-२१ ई०
पानी पीकर रह जाती है (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—जनवरी, १९२० ई०
पुराना व्योपार (लेख) 'प्रतिभा'—जनवरी, १९२० ई०
पुरानी पगड़ी (लेख) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१९२२ ई०
पुरानी हिंदी (निबंध-प्रबन्ध) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१९२१-२२ ई०
पुराने राजाओं की गाथायें (टिप्पणी) 'मर्यादा'– दिसम्बर जनवरी, १९११-१२ ई०
पुराण प्रसग(लेख) अभ्युदय'–१९१० ई०
पूल्ला र=पुकारना (टिप्पणी) 'प्रतिभा' —जनवरी, १९२० ई०
पूर्ण पात्र (लेख) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१९२२ ई०
पृथु वैन्य का अभिषेक (लेख) 'मर्यादा' —दिसम्बर-जनवरी, १९११-१२ ई०
पृथ्वीराजविजय महाकाव्य (लेख) 'सरस्वती'—जून, १९१३ ई०
पोथी पढ़-पढ़ जग मुआ (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—अप्रैल, १९२० ई०
प्र और परि (लेख) 'समालोचक'—नवम्बर, १९०२ ई०
प्राकृत के कुछ सुभाषित (अनूदित कविता) 'सरस्वती'—दिसम्बर, १९१९ ई०
प्रेरित पत्र (टिप्पणी) 'समालोचक'—१९०३-०४ ई०
बंग का भंग (टिप्पणी) 'समालोचक'—१९०५ ई०
बनारसी ठग (टिप्पणी) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१९२१ ई०
बुद्धू का काँटा (कहानी)—१९११-१५ ई०
बेसिर की हिन्दी (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—जनवरी, १९२० ई०
बेनाक वर्न (कविता) 'समालोचक'—अगस्त, १९०५ ई०
बौद्धों के काल में भारतवर्ष (टिप्पणी) —'समालोचक' अक्तूबर नवम्बर १९०३ ई०
ब्रह्मचारी को पान खिलाना (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—दिसम्बर, १९२० ई०
ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति (संस्कृत-कविता)—१९१० ई०
भारद्वाज गृह्यसूत्र (टिप्पणी) 'प्रतिभा' अप्रैल, १९२० ई०

भारत का बारहमासा (कविता) 'समालोचक'—मार्च-अप्रैल, १९०४ ई०
भारत की जय (कविता) 'समालोचक'—अक्तूबर-दिसम्बर, १९०४ ई०
मनीषि समर्थदान जी (जीवनचरित) 'सरस्वती'—अक्तूबर, १९१४ ई०
मनु वैवस्वत (लेख) 'मर्यादा'—दिसम्बर-जनवरी, १९११-१२ ई०
मनोरंजक श्लोक (टिप्पणी) 'सरस्वती'—अगस्त, १९०४, नवम्बर, १९१०, नवम्बर, १९११ ई०
मनोरमा की आर्य हिन्दी (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—मई, १९२० ई०
महर्षि च्यवन का रामायण (लेख) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१९२१ ई०
महापिता की सृष्टि (लेख) 'समालोचक'—१९०४ ई०
महामहोपाध्याय कविराजा मुरारिदान जी (जीवन-चरित) 'सरस्वती'—अक्तूबर, १९१४ ई०
महिमा, आतोशाप (संस्कृत कविता) अज्ञात
(डा०) महेन्द्रलाल सरकार (जीवन-चरित) 'समालोचक'—१९०४ ई०
मारेसि मोहिं कुठाउँ (निबन्ध) 'प्रतिभा' दिसम्बर, १९२० ई०
मीराबाई (लेख) 'अभ्युदय'—१९१० ई०
मेंढक की टर्र (टिप्पणी) 'वेंकटेश्वर'—१८ मार्च, १९१० ई०
यवन (टिप्पणी) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१९२२ ई०
यूनानी प्राकृत (लेख) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१९२० ई०
रड्डा छंद (टिप्पणी) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१९२१ ई०
रवि (कविता) 'समालोचक'—जनवरी-मार्च, १९०६ ई०
राजपूत और हम (लेख) 'समालोचक'—अक्तूबर-नवम्बर, १९०३ ई०
राजराजेश्वर का स्वागत (संस्कृत-कविता) 'मर्यादा'—दिसम्बर-जनवरी, १९११-१२ ई०
राजराजेश्वर को आशीर्वाद (संस्कृत-कविता) 'मर्यादा'—दिसम्बर-जनवरी, १९११-१२ ई०
राजसूय (लेख) 'मर्यादा'—दिसम्बर-जनवरी १९११-१२
राजाओं की चिट्ठियां (मनोरंजक श्लोक) (टिप्पणी) 'सरस्वती' अगस्त, १९०४ ई०
राजाओं की सीमन से बरकत—उनका कमाई के लिए मूर्तियाँ पधराना (लेख) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१९२२ ई०
रामचरितमानस और संस्कृत-कवियों में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव (टिप्पणी) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१९२२ ई०
राय शरच्चन्द्र सेन बहादुर (जीवन-चरित) 'सरस्वती'—जुलाई, १९०६ ई०
लालनपुर के बटेरे (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—अक्तूबर, १९२० ई०
वन्दीदन (टिप्पणी) 'समालोचक'—२२ जुलाई, १९०५ ई०

-वर्णविषयक कतिपय विचार (लेख) 'मर्यादा'—जून, १६२० ई०
वाजपेय (लेख) 'मर्यादा'—दिसम्बर-जनवरी, १६११-१२ ई०
वात्स्यायनीय-कामसूत्रटीकाया जग-मगलाया कर्त्ता (सस्कृत-लेख) 'सस्कृत-रत्नाकर'—१६१४ ई०
विक्रमोर्वशी की मूल कथा (लेख) 'समालोचक'—जनवरी - अप्रैल, नवम्बर-दिसम्बर, १६०५ ई०
विदुषी स्त्रिया अवंतिसुन्दरी (लेख) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१६२१ ई०
विरामण की, सरवण की (टिप्पणी) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१६२२ ई०
विवाह की लाटरी (लेख) 'प्रतिभा'—अप्रैल, १६२० ई०
वृहद्देवता (टिप्पणी) 'समालोचक'—१६०५ ई०
वेद में पृथ्वी की गति (लेख) 'समालोचक'—जनवरी-अप्रैल, १६०५ ई०
वेलावित्त (टिप्पणी) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१६२२ ई०
वैदिक पृपता (सस्कृत-लेख) 'सस्कृत-रत्नाकर'—१६१४ ई०
वैदिक भाषा मे प्राकृतपन (टिप्पणी) 'नागरी प्रचारिणी प्रत्रिका'—१६२२ ई०
वैदिक पप्टतप (अज्ञात)
शिक्षा के आदर्शों मे परिवर्तन (लेख) 'विद्यार्थी'—१६१४ ई०
शिवार्च्चनम् (सस्कृति-कविता)—२२ जुलाई, १६०५ ई०
शुनःशेप की कहानी (लेख) 'मर्यादा'—दिसम्बर-जनवरी, १६११-१२ ई०
शैशुनाक मूर्तियाँ (लेख) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१६२० ई०
श्रद्धा (टिप्पणी) 'प्रतिभा'—जनवरी, १६२० ई०
श्री श्री श्री श्री (टिप्पणी) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१६२० ई०
सगीत (भाषण-लेख) 'मर्यादा'—मार्च, १६११ ई०
सपादक नागरी प्रचारिणी पत्रिका के नाम (लेख) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१६१० ई०
सगीत की धुन (इटरव्यू) 'समालोचक'—सितम्बर, १६०५ ई०
सस्कृत की टिपरारी (निबध) 'सरस्वती'—अप्रैल, १६१२ ई०
सस्कृत मे अकबर का जीवनचरित टिप्पणी) 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'—१६२२ ई०
समालोचक (लेख) 'समालोचक'—१६०३ ई०
समालोचक का चौथा वर्ष (टिप्पणी) 'समालोचक'—१६०५ ई०
समालोचना प्रसग (टिप्पणी) 'वैश्योपकारक'—१६०६ ई०
सवाई (लेख) 'नागरी पचारिणी पत्रिका'—१६२२ ई०
सहयोगी साहित्य (लेख) 'समालोचक'—अक्तूबर-नवम्बर, १६०२ ई०
'साँप के काटने का विलक्षण उपाय (लेख) 'इदु'—जनवरी, १६१३ ई०
साहित्य, समालोचना, समालोचक (टिप्पणी)'समालोचक'—१६०२ ई०

□□